सन्मार्ग

तन्त्र विशेषांक

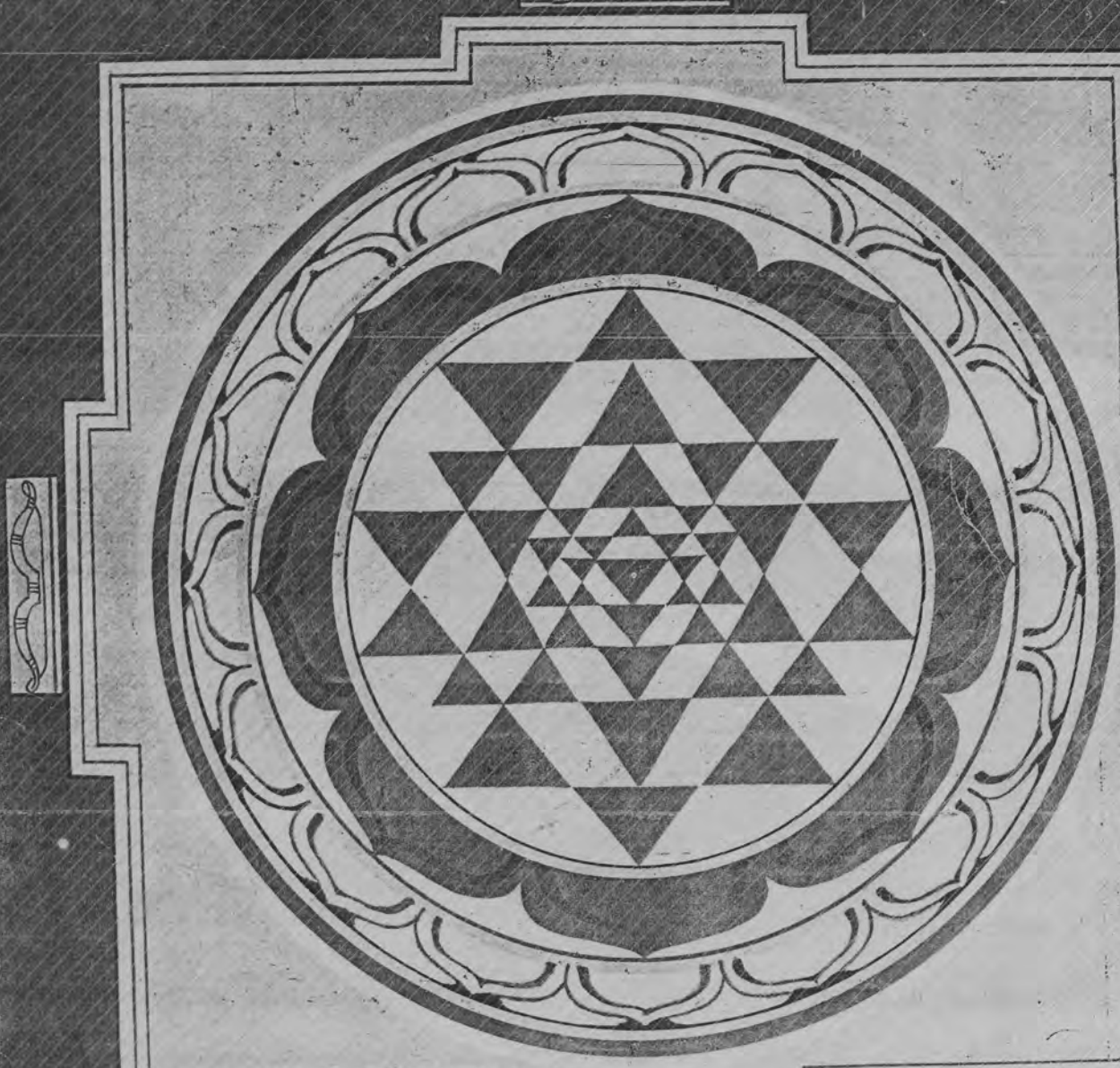

महाबिन्दुः उन्मनी समना व्यापिका शक्तिः

नादान्तः नादः शशिनी अर्धचन्द्रः बिन्दुः

स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा

COMPLIMENTARY COPY

श्री हरिः

अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज

की

७३ वीं वर्षग्रन्थि पर प्रस्तुत

सन्मार्ग

तन्त्र विशेषांक

वाराणसी, गुरुवार, श्रावण शुक्ल द्वितीया, संवत् २०३६ वि०, २६ जुलाई, १९७९ ई०

प्रधान सम्पादक

स्वामी श्रीनन्दनन्दनानन्द सरस्वती

सम्पादक

तन्त्र विशेषांक

व्रजवल्लभ द्विवेदी

रेवा प्रसाद द्विवेदी

प्रबन्ध सम्पादक

गोपाल पाण्डेय

मूल्य ५ रु०

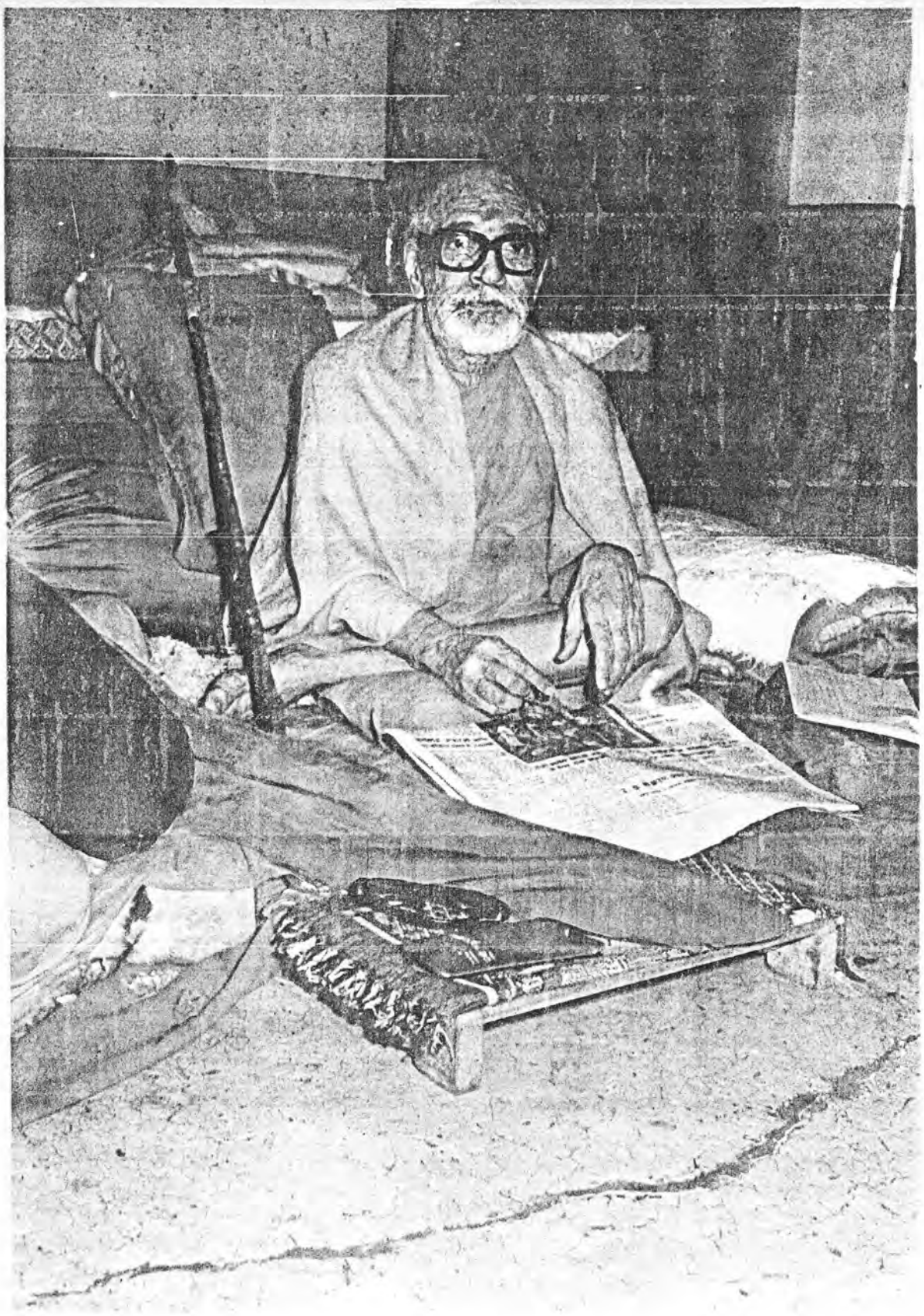

धर्मसम्राट् परमपूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

COMPLIMENTARY COPY

सन्मार्ग

तन्त्र विशेषांक

वर्ष : ३४] [अंक : १८६

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय
देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः

सरणी

रंगीन चित्र—परमपूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज
रंगीन चित्र—जगद्गुरु शंकराचार्यजी (पुरीपीठाधीश्वर)

क्रमांक			पृष्ठसंख्या
१.	सम्पादकीय	व्रजवल्लभ द्विवेदी, रेवा प्रसाद द्विवेदी	अध्यक्ष : सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी अध्यक्ष : साहित्य विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	क–१
२.	श्रीविद्यारहस्यम्	अनन्तश्रीविभूषित परमपूज्य स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज		९
३.	आम्नायविमर्शः	काशीपीठाधीश्वर श्रीशङ्करानन्द सरस्वती	धर्मसंघ, दुर्गाकुंड, वाराणसी	१४
४.	अघोरपीठ : मुहल्ला श्रीकुंड स्थित	अवधूत भगवान राम	पड़ाव, वाराणसी	१६
५.	वैष्णवागम में श्रीसीतारामोपासना	स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज	लक्ष्मणकिलाधीश, अयोध्या	१९
६.	अहमर्थः	आचार्य श्री रामेश्वर झा	कोल्हुआ, वाराणसी	२२
७.	तन्त्र की व्यापकता	स्वामी सदानन्द सरस्वती (वेदान्ती स्वामी)	धर्मसंघ, दुर्गाकुंड, वाराणसी	३२
८.	श्रीचक्रं तदधिष्ठात्री देवता च	पण्डित श्री पट्टाभिराम शास्त्री	हनुमान घाट, वाराणसी	३३
९.	श्रीविद्या	श्री श्रीशचन्द्र पाण्डेय	भदैनी, वाराणसी	३५
१०.	श्रीचक्र स्थित गुरु-मण्डल	श्री रामकुमार तिवारी	केन्द्रीय कार्यालय, २१७२ यमुना बाजार, दिल्ली–६	४१
११.	समयाचार	डा० श्यामाकान्त द्विवेदी	वैष्णवश्रम, खजुरीताल, जिला–सतना (म० प्र०)	४२
१२.	कापालिक-तन्त्र-विमर्श :	विद्यावाचस्पति पण्डित-श्रीरघुनाथ–शर्मा	मातृसदन, सेमरी, छाता, बलिया	५७
१३.	रात्रितत्त्व : वैदिक विवेचन	पण्डित बलदेव उपाध्याय	रवीन्द्रपुरी, वाराणसी	६५
१४.	छिन्नमस्तातत्त्व	आचार्य आनन्द झा	कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा	६९
१५.	संस्कृत वाङ्मये वाक्तत्त्वम्	पण्डित रामप्रसाद त्रिपाठी	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	७३
१६.	बिंदुतत्त्व	डा० राममूर्ति त्रिपाठी	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, उज्जैन विश्वविद्यालय, उज्जैन	८१

क्रमांक			पृष्ठ संख्या
१७.	पाशुपत दर्शन एवं नकुलीश पाशपुत दर्शन···	डा० नवजीवन रस्तोगी	संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	८४
१८.	पाञ्चरात्रशब्दार्थ	डा० राघवप्रसाद चौधरी	गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद–२	८९
१९.	शैव महातंत्र और प्रत्यभिज्ञादर्शन	पण्डित सीताराम चतुर्वेदी	उत्तर बेनिया, वाराणसी	९३
२०.	काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्वातन्त्र्य एवं नियतिवाद	श्रीमती मीरा रस्तोगी	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	९६
२१.	बौद्ध तन्त्र	श्री सेम्पा दोर्जे	सारनाथ, वाराणसी	१०३
२२.	नाथ सम्प्रदाय की तान्त्रिकता	डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय	हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	१०७
२३.	तांत्रिक साधना का सन्त साहित्य पर प्रभाव	श्री अर्जुन पाण्डेय	शोध छात्र, तुलसी मंदिर, तुलसीघाट, वाराणसी	११४
२४.	जैन-तन्त्र : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण	डा० रुद्रदेव त्रिपाठी	१६१, सत्य निकेतन, नयी दिल्ली–२१	११६
२५.	वामो मार्ग : परमगहनो योगिनामप्यगम्य:	श्री चिरंजीलाल शर्मा	वाराणसी	१२७
२६.	महाकाल संहिता वर्णित स्मार्त-शाक्तसम्प्रदाय	डा० किशोरनाथ झा	गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद–२	१३२
२७.	दत्तात्रेय तन्त्र का एक अद्भुत प्रयोग	श्री रमेशचन्द्र अवस्थी	४४ डी०, कैण्ट रोड, लखनऊ	१३५
२८.	कामाख्या-यात्रा	डा० चाँदप्रकाश मेहरा	५५७, मन्टोला स्ट्रीट, नयी दिल्ली–५५	१३६
२९.	बंगीय तन्त्रसाधना की रूपरेखा	श्री पं० सुनीतिकुमार पाठक	विश्व भारती, शांतिनिकेतन, बोलपुर, प० बंगाल	१४२
३०.	तान्त्रिक साधना के मैथिल रूप	डा० जयधारी सिंह	मधुबनी डयोढ़ी, मधुबनी, बिहार	१४६
३१.	श्रीवैष्णवविग्रहार्चन	डा० मुरलीधर पाण्डेय	रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू	१४९
३२.	गुरु और शिष्य	पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते	पत्रकारनगर, कमच्छा, वाराणसी	१५३
३३.	जपसाधना	डा० एन० एच० चन्द्रशेखर स्वामी	योगतन्त्र विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी	१५९
३४.	वैखानस-आगम के प्रकाशित अप्रकाशित साहित्य	डा० राघवप्रसाद चौधरी	गंङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद–२	१६३

आवरण---श्री वासुदेव स्मार्त

परामर्शदात्री समिति

आचार्य श्रीमान् पं० रामेश्वर जी झा
श्रीमान् ठाकुर जयदेव सिंहजी
डा० एन० एच० चन्द्रशेखरजी
श्री राजानक लक्ष्मणदेवजी
प० पट्टाभिरामजी शास्त्री

श्री पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते
श्री पं० विभूतिभूषण भट्टाचार्य
श्री पं० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

श्री पं० कमलेशदत्त त्रिपाठी
श्री पं० श्रीपतिराम त्रिपाठी
श्री पं० मनुदेव भट्टाचार्य

पृ० सं०

१४४. मेसर्स पारिख इंजी० एण्ड बाडी बिल्डिंग कं. लि. जमशेदपुर — कवर २

१४५. मेसर्स सरस्वती मेटल प्रोडक्ट्स
कल्याण नगर, जगाधरी, अम्बाला (हरियाणा) — कवर ३

१४६. मेसर्स उत्कल आटोमोबाइल्स लिमिटेड जमशेदपुर — कवर ४

पृ० सं०

१४७. सन्मार्ग, वाराणसी — क–३

१४८. मेसर्स हम्बर साइकिल मार्ट, वाराणसी — क–३

१४९. मेसर्स शालीमार टेक्सटाइल्स, बम्बई — क–४

१५०. मेसर्स राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, वाराणसी — क–५

१५१. मेसर्स सन् डिस्ट्रीब्यूटर्स एण्ड माइनिंग कं. लि० कलकत्ता — क–५

शिवस्यधारण यन्त्रम्

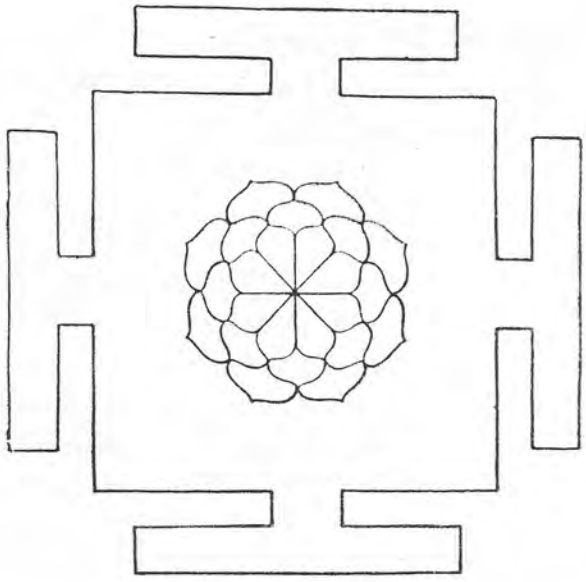

नृसिंह यन्त्रम्

सम्पादकीय

जन्म से वर्णाश्रम व्यवस्था मानने और पाप-पुण्य तथा परलोक पर विश्वास करने वाले भारतीय समाज के लिए परम पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज शरीरी इतिहास हैं। वेदों के गूढ़ गम्भीर रहस्यों का परम्परानुमोदित विश्लेषण, वेदान्त आदि दर्शनों का साधिकार अध्ययन, भारतीय इतिहास और वैदिक सनातन धर्म की जटिल समस्याओं के सटीक समाधान, राजनीतिदर्शन के अधुनातन सिद्धान्तों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन, संस्कृत और हिन्दी में साक्षात् शास्त्रार्थ करने की क्षमता, लक्ष-लक्ष की जनसभाओं में सिंह जैसी दहाड़, भगवद्भक्ति से ओतप्रोत भागवतकथा पर ललित मधुर वाणी में ५-५, ६-६ घण्टों तक अजस्र प्रवचन और संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में गहन ग्रन्थों का निर्माण, इन सब दुर्लभ विशेषताओं का एक व्यक्ति में एकत्रित होना बड़े ही विस्मय की बात है। स्वामी करपात्री जी महाराज ऐसे ही व्यक्ति हैं। उक्त गुणों के साथ आपमें स्फीत प्रतिभा और वैराग्य की पराकाष्ठा भी है जिससे आप व्यक्ति नहीं, 'महात्मा' हैं और इसलिए आप कापायवस्त्र तथा दण्ड और ब्राह्मण नरशरीर में सुप्रतिष्ठ साक्षात् संन्यास अथवा शरीरधारी शांकर अद्वैत हैं। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' के अनुसार आप लोकसंग्रह और विपरीत समय में भी यज्ञयागादि के ऐतिहासिक अनुष्ठानों में धार्मिक जनता को प्रवृत्त रखते आ रहे हैं। 'वर्त्त एव च कर्मणि' यह भागवत मार्ग आपमें दृष्टान्तित है--और 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन' तथा 'ना नवाप्त मवाप्तव्यम्' तो आपमें विग्रहवान् है ही।

स्वामी जी में एक और विशेषता है। वह है योग तथा तन्त्र का प्रायोगिक ज्ञान। मत्स्येन्द्रासन जैसा कठिन आसन आप ऐसे कर लेते हैं जैसे आपकी अस्थियाँ प्लास्टिक की बनी हों। तन्त्र के अनेक मन्त्र हममें से एक (रेवाप्रसाद द्विवेदी) ने भी आपसे प्राप्त किए हैं और उनमें से कुछ के यथोपदिष्ट प्रयोग भी साधे हैं। विषम और गंभीर परिस्थितियों में हमें उनसे दैवी सहायता मिली है। हमारे एक मित्र काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अभीष्ट पद पाना चाहते थे। उन्होंने स्वामी जी महाराज से प्रार्थना की इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति महोदय से संस्तुति करने की। स्वामी जी ने स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन कहा 'दुर्गासप्तशती' लेकर आओ। तुम्हारी सिफारिश हम विश्वाधिपति से कर देते हैं। वे मित्र आज भी स्वामी जी द्वारा उपदिष्ट विधि से सप्तशती का अनुष्ठान करते आ रहे हैं, अभीष्ट पद तो उन्हें मिल ही गया। पूर्णिमा को भगवान् सत्यनारायण की कथा और ऋषि पञ्चमी आदि पर्वों पर विधिवत् उपवास तक पूर्ण निष्ठा से करने वाले स्वामी करपात्री जी महाराज श्रद्धालु धार्मिक भी हैं। प्रखर दार्शनिक के साथ श्रद्धालु धार्मिक होना कठिन होता है। 'स्थिरप्रज्ञता' के बिना यह संभव नहीं। अतः स्वामी जी महाराज यथार्थ स्थिरप्रज्ञ हैं। योग की यही महत्तम उपलब्धि है। इस प्रकार स्वामी करपात्री जी महाराज में योग भी प्रतिष्ठित है तथा तन्त्र भी।

बड़ी ही प्रसन्नता की बात है काशी का स्वामी जी द्वारा संस्थापित दैनिक सन्मार्ग, जिसकी भविष्यवाणी पिछले १० दिनों में पूर्णतः सटीक निकली है इसलिए ऐसा लगता है कि इस दैनिक पत्र को भी स्वामी जी महाराज की महिमा का कुछ अंश प्राप्त है, तन्त्र विशेषाङ्क प्रकाशित कर उनकी ७३ वीं जन्मतिथि पर उन्हें समर्पित कर रहा है। जगद्धर के शब्दों में यह वैसी ही चेष्टा है जैसी तुषार कणों से समुद्र की या दीपकों द्वारा भगवान् सूर्य की किरणों की पूजा करना तथापि 'सर्वः प्रियो भवति खल्वनुरूपचेष्टः' के अनुसार सन्मार्ग की यह पूजा स्वामी जी महाराज को अवश्य ही स्वीकार होगी--ऐसी आशा है। वस्तुतः स्वामी जी की पूजा तो एक माध्यम है। इसका जो मुख्य प्रयोजन है वह है तन्त्रविद्या से सम्बन्धित सामग्री जिज्ञासुओं को सुलभ कराना। स्पष्ट ही इस दशक में तन्त्र की ओर विश्व की जनता अधिक आकृष्ट है और उसे भारतीय तन्त्रविद्या का सही बोध कराना भारतीय विद्वानों का कर्तव्य है। एतदर्थ एक विशद रूपरेखा सभी शाङ्कराचार्यों तथा जानकारी भर अन्य महात्मा और विद्वानों के पास भेजी गयी। उन्हें स्मरण भी दिलाया गया। तदनुसार जितनी सामग्री उपलब्ध हुई उसमें से अधिक उपादेय सामग्री यहाँ प्रस्तुत है।

तन्त्र, मेरी समझ में, दर्शन तथा आचार दोनों का समन्वय है जिसे योग की लोकोत्तर शक्ति सामान्य से ऊँचा बना देती है। यह समन्वय जिसके जीवन में देखा जाता है उसे साधारण व्यक्ति तान्त्रिक और सिद्ध आदि शब्दों से पुकारकर उसके प्रति अपना विस्मय मिश्रित आदर व्यक्त करते हैं। सच्ची बात यह है कि तन्त्र और योग भगवान् की विभूति हैं। हम विशिष्ट साधना पद्धति से इन्हें अपने व्यक्तित्व में उतारने की चेष्टा करते और जितनी मात्रा में सफल होते उतनी ही ऊँचाई के तान्त्रिक और योगी माने जाते हैं। भगवान् की उक्त विभूतियाँ प्रत्येक पिण्ड में व्याप्त हैं। आधुनिक मनोविज्ञान और भूतविज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि घटक-कोशों के विकास से मनुष्य अतिमानुष शक्ति पा सकता है। तन्त्र और योग के द्वारा हम ऐसी ही शक्तियाँ प्राप्त करते हैं। इनका उद्देश्य लोकसिद्धि के साथ अध्यात्मसिद्धि है और इस प्रकार योग तथा तन्त्र के मार्ग दोनों हाथ लड्डू के मार्ग हैं 'कच्चिन्नोभय विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति' कहकर अर्जुन ने लोक की हानि और अध्यात्मसिद्धि की अप्राप्ति

से उभय हानि की जो शंका व्यक्त की थी वह प्रत्येक साधक के समक्ष रहती है। योग तथा तन्त्र उसी का उत्तर है। आश्चर्य की बात है कि ये दोनों आस्तिक और नास्तिक दोनों ही मार्गों में मान्य हैं। 'अपनी शक्ति या आत्मशक्ति का विकास सभी मार्गों में मान्य है और यह भी मान्य है कि तन्त्र तथा योग उसके अमोघ उपाय हैं'। निश्चित ही तन्त्र की भूमिका पर सभी आत्मवादी और आस्तिक हैं।

तन्त्र का आचार पक्ष कैसा ही हो स्वामी करपात्री जी महाराज के शब्दों में उसमें संयम की पराकाष्ठा अत्यन्त आवश्यक रहती है, अतः वाममार्ग भी मानसिक संयम नहीं खोता और इसीलिए वह भी वीतराग ही रहता है। शान्त मार्ग घोर मार्ग की अपेक्षा अधिक करुणापूर्ण और सात्त्विक होता है अतः उसे लोकसंग्रह की दृष्टि से अधिक आदर दिया जाता है।

योग तथा तन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए स्वामी करपात्री जी महाराज ने 'श्रीविद्या रत्नाकर' आदि ग्रन्थ लिखे हैं। उनसे स्पष्ट है कि योग के लिए जिस अधिष्ठान की आवश्यकता है वह हमारा शरीर ही है और यही है वास्तविक श्रीचक्र। इस अंक में आए लेखों से भी यह स्पष्ट है। फलतः हमारे इस विशेषांक की उपलब्धि है—'आत्मप्रत्यभिज्ञा—अपनी पहचान' अर्थात् हम यह जान सके कि शरीररूपी यन्त्र ही है तन्त्र और योग की प्रतिष्ठा अतः हमें इसके सूक्ष्म और स्थूल दोनों रूपों का विकास करना है क्योंकि वही है 'भागवती विभूति के साक्षात्कार का साधन'।

इस अंक में जिन-जिन विज्ञापनदाताओं ने अपने विज्ञापन भेजकर स्वामी जी को अपने श्रद्धासुमन अर्पित किए हैं वे भी साधुवाद के पात्र हैं तथा हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी उनका उदार सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

विद्वान् लेखकों की अहैतुकी कृपा के लिए हम हृदय से आभारी हैं। इस अंक के आवरण पृष्ठ पर छपे श्रीचक्र का निर्माण भारत के सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री वासुदेव स्मार्त ने किया है। हम उनके कृतज्ञ हैं। अंक की व्यवस्था में श्री अर्जुन पाण्डेय का सहयोग भी प्रशंसनीय है। उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए हमारी शुभकामनाएँ।

मुद्रण श्री भार्गव भूषण प्रेस के सहयोग से सम्पन्न हुआ। उसके यशस्वी व्यवस्थापकों को धन्यवाद। प्रूफसंशोधन का कार्य श्रीयुत पं० शिवशंकरजी मिश्र ने किया है, जो हिन्दी संपादनकला के प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। उनको धन्यवाद देना स्वयं को ही धन्यवाद देना है।

अन्त में हम तन्त्र विशेषाङ्क के संपूर्ण परिवार की ओर से भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि परम पूज्य स्वामी करपात्री जी महाराज का यह वर्ष मङ्गलमय हो और एक समर्थ आचार्य के रूप में वे जिस प्रकार हमारा चक्षुरुन्मीलन करते आए हैं आगे भी करते रहें।

—ब्रजवल्लभ द्विवेदी, रेवा प्रसाद द्विवेदी

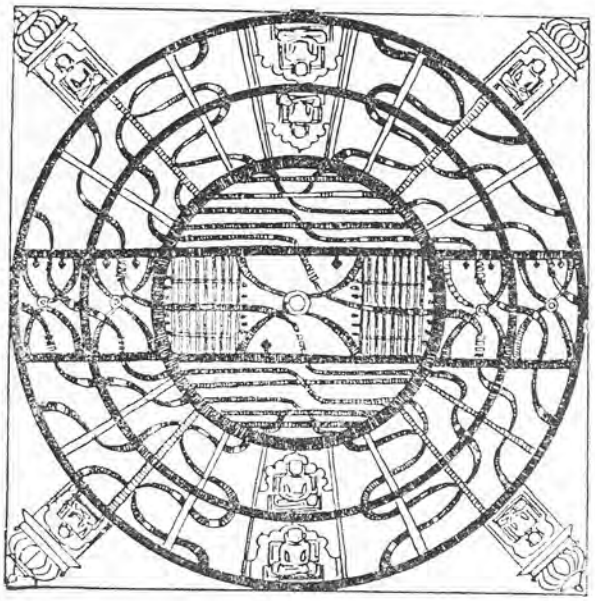

श्रीविद्यारहस्यम्

• अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज •

अनाद्यनन्त संसारसागर में डूबता इतराता जीव अवश्य ही पार जाने की इच्छा करता है। किसी भी योनि में स्वाभाविकास्वाभाविक सुख-दुःख का अनुभव करता, अपनी परिस्थितियों के अनुसार उनसे यथाशय जूझने का प्रयास करता तथा परमकरुणामयी पराम्बा द्वारा निरन्तर प्राप्ताश्रय रहता है। सुषुप्ति में मुक्ति के व्याज से 'स्वमतीतो भवति' परमकरुणामयी अकारकरुण करुणावरुणालय माँ की गोद में भवाटवी के सभी दुःखों को भूल कर पुनः नूतन शक्ति नूतन स्फूर्ति सम्पन्न हो, परिस्थितियों से जूझने के लिये नूतन शक्ति सम्पन्न हो जाता है।

मानवजीवन के चतुर्विधपुरुषार्थ में अर्थ काम दो मध्यवर्ती और धर्म मोक्ष दोनों आद्यन्तसीमावर्ती चरमलक्ष्यहैं। दृष्टपरिणामफलक दृष्टोपाय ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक फलाभाव के कारण चरमोपायत्वेन समाश्रयणीय नहीं है। कर्मकाण्ड, भक्ति, ज्ञानादि विविध उपाय शास्त्र सम्मत हैं। स्वल्पायाससाध्य इष्टप्राप्ति अनिष्ट परिहारोपाय वेदशास्त्रमें गूढ़ भाषा सांकेतिक मंत्र (बीजादि) यन्त्र तन्त्र आदि द्वारा गुप्त-प्रकट हैं। इसका रहस्योद्घाटन गुरुमुखैकसम्भव है। वेदपुरुष द्वारा भी गूढ़ार्थ गुम्फितवाक्यों द्वारा सङ्केतित तथा उपनिषद् द्वारा भी लक्ष्यार्थ रूप में प्रतिपादित है।

आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दुःखों से संत्रस्त प्राणी भले उनसे मुक्ति पाने के लिए उपनिषदादि चरमोपायों का आश्रयण करें किन्तु उसके मन में पूर्णवैराग्यप्रादुर्भाव से पूर्व सांसारिक भावनाएँ बनी रहती हैं। उनकी तृप्ति के बिना मोक्ष का अधिकारी भी नहीं हो सकता और न उसके मन में वास्तविक मुमुक्षा ही प्रादुर्भूत होती है। कर्मफल की स्वाभाविक इच्छा पूर्ति के लिए वैदिक कर्मकाण्ड ऐहिकामुष्मिक इष्टप्राप्ति अनिष्टपरिहारार्थ यज्ञादि का आश्रयण करते हैं। किन्तु ऐषणात्रय से व्युत्थित व्यक्ति के लिए गुरूपसदन द्वारा परतत्त्वचिन्तन का ही अवलम्बन इष्ट है। किन्तु मध्यवर्ती उपासक इष्टप्राप्ति अनिष्टपरिहार भी चाहता हुआ भवाटवी के जंजालों से उन्मुक्त भी होना चाहता है। ऐसे व्यक्ति के लिए 'श्रीविद्या' ही एकमात्र साधन है। लक्ष्यरूप (बिम्ब) परब्रह्म का एक मात्र आश्रयण करने वाली जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति रूप त्रिलोकी में विहरणशील लक्ष्मी पराम्बा ही श्री शब्दवाच्या है। अथवा सृष्टि-स्थिति-संहारचक्र प्रवर्तन इच्छावान् परब्रह्म ही परशिवरूप हो जिस महाशक्ति का समाश्रयण करते हैं वही श्रीशब्दवाच्या पराशक्ति है। अथवा संसारदावाग्निसंदग्धजीव अखिलदुःखनिवृत्ति तथा परसुखप्राप्त्यर्थ जिन पराम्बा का समाश्रयण करते हैं वह श्रीशब्दवाच्या पराविद्या श्रीविद्या कहलाई है। इस अर्थ में उपनिषद् विद्या के समान गत्यवसादनविसरण आदि लौकिक उपाय द्वारा मुमुक्षु को सर्वविधमलावरणविक्षेपादि आत्यन्तिक निवृत्ति द्वारा स्वरूपाभिव्यक्तिपुरस्सर परमानन्दपरमैश्वर्य सम्पादन इस विद्या का परम लक्ष्य है। कहीं-कहीं इस अद्भुत विद्या में जादू का चमत्कार भी कहा है। अजर अमर अविनाशी तत्त्व की प्राप्ति अविद्या निवृत्ति द्वारा ही दार्शनिकों ने सम्भव बताई है। किन्तु श्रीविद्या का उपासक अद्भुत मस्ताना संसारदशा में भी संकल्प और भावना के स्थिरीकरण का सामर्थ्य रखता है।

"सरस्वत्या लक्ष्म्या विधिहरिसपत्नो विहरते
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा।
चिरंजीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान्॥

परानन्दकोटि प्रवेश से पूर्व ही ईश्वरकोटि प्रविष्ट ब्रह्मा विष्णु की नित्यशक्ति सरस्वती लक्ष्मी के आधिपत्य में तत्तद् गुणेश्वरों का सापत्न्य और दैहिकरमणीयता में कामपत्नी रति के पातिव्रत्य का भी उन्मन्थन चरमलक्ष्य प्राप्ति से पूर्व ही श्रीविद्या का चमत्कार है। इस प्रकार सर्वलोकातिशायी उपादेयता तथा हितसम्पादननिपुणविद्या को वेदपुरुष ने भी अत्यन्त गूढ़ सांकेतिक शब्दों में वर्णित किया है। इसलिये कहा है दूसरी लौकिक अलौकिक विद्याएँ वेश्या की भाँति प्रकट हैं। परन्तु असूर्यम्पश्या राजमहिषी के समान 'वेदेष्वपि चतुर्षु परमत्यन्तं गोपनीयतरम्' श्रीविद्या का अत्यन्त गुप्तरूप है। इस कारण वरिवस्याकार श्रीभास्करराय ने—

कामोयोनिः कमलेत्येवं सांकेतिकैः शब्दैः।
व्यवहरति न तु प्रकटं या वेदपुरुषोऽपि॥

श्रीविद्या का उद्धार शांख्यायनश्रुति के अनुसार इसी गूढ़ सांङ्केतिक भाषा में कामः (ककारः) योनिः (एकारः) कमला (तुरीयस्वरः) वज्रपाणिः (इन्द्रो लकारः) गुहा (ह्रीज्जाबीजम्) हसा (हसेति) मातरिश्वाभ्रमिन्दः (सकलेतिस्वरूपम्) पुनर्गुहा सकला (मायाबीजं सकलेति) मायया च (ह्रीज्जाबीजेन) पुरुच्येषा विश्वमाताऽऽदि विद्या। "एतादृशैः सांङ्केतिकैः शब्दैरत्यन्तगोपनीयत्वं समर्थितं भवति।" इस प्रकार श्रुति ने तथा अभियुक्तों ने एक स्वर से इस पर विद्या की परमगोपनीयता का प्रतिपादन किया।

चतुर्दशविद्याओं का सार वेदत्रयी, वेद का सार, वेदमाता गायत्री और गायत्री भी अपरा और पररूप से दो प्रकार की। अपरा गायत्री भी पदत्रयी

तथा तुरीयपद से युक्त परावर तत्त्व का प्रतिपादन करती है। वह समस्त गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा शब्दमयी विश्वमूर्ति अपने प्रथमपाद के अष्टाक्षर से भूमि (दो) अन्तरिक्ष (चार) तथा द्यौः (दो) अक्षरों से विनिर्गत अर्थ (तत्त्व) मयी देवता है। गायत्री द्वितीयपाद से शब्दमयी मूर्ति ऋचः (दो) यजूंषि (तीन) तथा सामानि (तीन) इस प्रकार द्वितीयाष्टाक्षर-पादा तथा तृतीयाष्टाक्षर से प्राणः (दो) अपानः (तीन) तथा व्यानः (तीन) आध्यात्मरूप हुई तथा तुरीय परोरजापद सवद-अवद प्रणव युक्त समस्त गायत्री की प्रतिष्ठा परमतत्त्व का द्योतन करती है। श्रीविद्या का चमत्कार है कि ऐसी अलौकिक चतुष्पदा गायत्री श्रीविद्या के प्रथय वाग्भवकूट में अन्तर्भूत है। द्वितीय तृतीय कामराज तथा शक्तिकूट लौकिकालौकिक चमत्कार समस्तदुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा सर्वातिशायी ऐश्वर्य भूमा सुखसम्पादन आदि दिव्यातिदिव्य विभूतियों के आकार माने गये हैं।

समस्तश्रीविद्या तो क्या इसमें केवल हृल्लेखा ही दिव्य चमत्कारों का भण्डार है। हृल्लेखा की द्वादश संहतिः हकार रेफ तुरीय स्वर तथा अनुस्वार के सूक्ष्म सूक्ष्मतर सूक्ष्मतमादि नवध्वनि विशेष बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मना एक से एक बढ़कर अलौकिक चमत्कारों के निधान हैं। बिन्दु से महाबिन्दु पर्यन्त यात्रा सुषुम्ना से परे आज्ञाचक्रानन्ता योगी और श्रीविद्या अन्तरङ्गोपासक का आराध्य क्षेत्र है। मूलरूप से आज्ञापर्यन्त कुण्डलिनी महाशक्ति का विविधदल कमलों का आक्रीड है। तदनन्तर परतत्त्व का ईषत्ज्ञान होने के कारण ज्ञानसिन्धु तथा आनन्दसिन्धु का अवगाह आरम्भ होता है। उच्चगणित में जैसे निपुणगणितज्ञ एक और शून्य की परिधि में अन्तर्निदिष्ट हो सूक्ष्म-सूक्ष्मतरादि स्तरों से पार जाकर ससीम की अन्तिम बीज, ज्यामिति तथा गणितानुसार परिधियों का विश्लेषण कर परिधि विलयनानन्तर असीम में विहार करता है। ठीक वैसे ही योगी और साधक भी मात्रा में सन्निविष्ट २५६ काल के लव परमाणुओं का क्रमशः ह्रास बिन्दु में १२८, अर्द्धचन्द्र में ६४, रोधिनी में ३२, नाद में १६, नादान्त में ८, शक्ति में ४ व्यापिका में २ लव, समना में १ तथा उन्मना में सूक्ष्मानन्त (Infinitesimal) का अनुभव करता अत्यन्त असीम महाकाल महाकाश परातत्त्व में विहरण करता परानन्दाभिख्य पद का अस्वाद करता है। यहाँ अर्थमयी सृष्टि का बाह्य (व्यापक) तथा सूक्ष्म (आन्तर) परिधि विलयन अन्तर्याग द्वारा प्रायः प्रतिदिन साधक को होता है। शब्दमयी सृष्टि भी संहारक्रम से वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परावाक् में सूक्ष्मसूक्ष्मतर पद्धति से प्रविष्ट हो शब्दमयी सृष्टि में श्रीविद्या के पंचदश अक्षरों, कूटत्रय तथा प्रतिपन्मुख राकान्त तिथिमण्डल तथा राकादिदशान्तिपंचदशनित्यामण्डल में व्याप्त तथा तज्जीवनाधारभूता षोडशी कला के रूप में अभिव्यक्त है।

'छादनात् छन्दः' इस न्याय से शब्दमयी मूर्ति देवतात्मा होकर शब्द-रूप शरीर को धारण करती है। "अकचादिरतोत्तद्वपयशाक्षरवर्गिणीम्। ज्येष्ठाङ्गबाहुहृत्कुक्ष्टकटिपादनिवासिनीम्॥" इस प्रकार साधक शब्दमयी मूर्ति के सम्पर्क से देवतात्मा का सन्निधान प्राप्त करता है। ककारादि किसी एक अक्षर अथवा हृल्लेखान्तर्गत किसी एक ध्वनि के बल पर दिव्य चमत्कारों का आश्रय बन जाता है।

यदक्षरैकमात्रेऽपि संसिद्धेस्पर्द्धते नरः।
सवितार्केन्दुकन्दर्पशंकरानलविष्णुभिः॥

जिस विद्या के एक अक्षर मात्र के सिद्ध होने पर साधक पुरुष सूर्य, गरुड, चन्द्र, कामदेव, शंकर, अग्नि और विष्णु आदिकों के साथ ऐश्वर्य स्पर्धा करने लगता है। अद्वैतसिद्धान्तानुसार भी—

'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥

दिक्कालवस्तुपरिच्छेद ही उच्चावच सभी भेदों का कारण है। समस्त परिच्छेदशून्य शुद्धचैतन्य ही परम पद है जिसे 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' कहा गया है। वही विष्णु का परमपद है। श्रीविद्या की कृपा से साधक के लिए हस्तामलकवत् सदा प्राप्त है।

श्रीविद्याप्रतिपादक तन्त्र चन्द्रकला विद्याष्टक के अनुसार चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधिः, कुलार्णवम्, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, बार्हस्पत्यम्, दूर्वाभमतम् यह तन्त्राष्टक है। इसमें तीनों द्विजाति वर्णों और शूद्रों का भी अधिकार है। ब्राह्मणादित्रैवर्णिका के लिए दक्षिण मार्ग से अर्चनादि प्रतिपादित है, शूद्रादिकों के लिए अपसव्यमार्ग का विधान निरूपित है। दक्षिण वैदिक मार्ग को श्री लक्ष्मीधराचार्य ने 'समायाचार यही है' ऐसा कहा है। यही आद्यशंकर भगवत्पाद द्वारा प्रतिपादितमार्ग वसिष्ठ, सनक, सनन्दन, शुक, सनत्कुमार इन पाँच मुनियों ने अपनी-अपनी संहिताओं में किया है। इन पाँचों संहिताओं को मिलाकर शुभागशुभपञ्चक कहा है। इनमें निरूपित मार्ग समयाचार अथवा वैदिक मार्ग कहा जाता है। चन्द्रकला विद्याष्टक में कुलमार्ग एवं समय मार्ग दोनों निरूपित हैं, इसलिए विद्वद्वर्ग ने उसे "मिश्रक" कहा है।

'मिश्रकं कुलमार्गं च परित्याज्यं हि शाङ्करि"॥ इस ईश्वर वचनानुसार मिश्र और कौलमार्ग का त्याग करना चाहिए। चतुःषष्टितन्त्र कौलों द्वारा समादृत होने से कौल मार्ग ही है तथा चतुःषष्टिविद्यान्तर्भूता चन्द्रज्ञान विद्या में षोडशनित्याओं का प्रधानतया निरूपण है और चक्र विद्या में मूल विद्यान्तर्भूत होने के कारण उनका अङ्गतया ग्रहण है।

षोडशनित्या चन्द्रकलाप्रतिपदादिपूर्णान्त तथा पूर्णादिदशान्त तिथियों और षोडशस्वरों से परिलक्षित हैं। श्रीचक्र में अष्टदलकमल में प्रतिदल में दो-दो करके और षोडशदल कमल में प्रतिदल एक के अनुपात से स्थित हैं। इनमें से प्रथम नित्याद्वय त्रिकोण बिन्दु रूप में तथा शेष चतुर्दशार में तथा मेखलात्रय, भूपुरत्रय तथा बिन्दुत्रिकोण में अन्तर्भूत हैं। इसी अन्तर्भाव को "मेरुप्रस्तार" कहा है।

सनन्दनसंहिता में भी षोडशनित्याओं को चन्द्रकला और चक्र विद्या की अङ्गभूता माना है। यहाँ षोडशनित्या स्वरात्मिका होकर जीवकलारूप से पञ्चदशाक्षरी मन्त्र में एकारादिभूत अकार और विसर्गात्मक सकार द्वारा वैन्दवस्थान में स्थापित तथा अन्तर्भूत हैं। 'क' से आरम्भ तथा 'म' पर्यन्त सभी स्पर्श अष्टार और दशकोणद्वय में अन्तर्भूत हैं। शेष मकारादि नव वर्ण दो बार आवृत्ति से चतुर्दशार के चौदह कोणों में तथा

शेष चार शिवत्रिकोणों में अन्तर्भूत होंगे। इस प्रकार के अन्तर्भाव को "कैलासप्रस्तार" कहा है।

इसी प्रकार 'भू-प्रस्तार' भी सनत्कुमारसंहिता के अनुसार चक्रविद्या में षोडशनित्याओं का अङ्गत्वेन अन्तर्भाव दिया है। वशिनी आदि अष्ट देवताओं को दो-दो करके बिन्दुत्रिकोण को छोड़कर अष्टकोण में अन्तर्भाव किया है, मध्य में त्रिपुरसुन्दरी का अन्तर्भाव है। अष्टवर्ग में वशिनी आदि आठ को, षोडशनित्याओं को, द्वादशयोगिनी और चार गन्धार्वाणी आदि को अन्तर्भूत करके एक त्रिपुरसुन्दरी को बैन्दवस्थान के नीचे तथा चार द्वारों में चार गन्धार्वाणी आदि का अन्तर्भाव है। इस प्रकार षोडशनित्याओं का विभिन्न प्रकार से चक्रविद्या में अन्तर्भाव और अङ्गत्व माना है।

इन पर चन्द्रकलात्मिका षोडशनित्याओं का स्थान विशुद्धचक्र (कण्ठ) और षोडशार है। वहाँ पूर्वादिदिशाके क्रम से षोडशनित्या घूमती रहती हैं। उसके नीचे संवित्कमल द्वादशार में सूर्यमण्डल की द्वादश कलाएँ पूर्वादि दिशाक्रमानुसार परिभ्रमण है। सूर्य-चन्द्र के देवयान पितृयान रूप इडा पिङ्गला मार्ग से दिन-रात्रि का सञ्चार होता है। इनमें चन्द्र वामनाडीमार्ग से सञ्चार करते हुए बहत्तरसहस्र नाडियों का अमृत से अभिषिञ्चन करते हैं। सूर्य दक्षिणनाडीमार्ग से सञ्चार करते हुए उन नाडियों में परिषिक्त अमृत को खींच लेते हैं। जब चन्द्र-सूर्य दोनों का आधार चक्र में समावेश होता है तब अमावस्या तिथि कहलाती है। कृष्णपक्ष की तिथियों का यहीं से प्रादुर्भाव है। कुण्डलिनीशक्ति इसी मूलाधार कुण्ड में सूर्यकिरणों के सम्पर्क से विलीन चन्द्रमण्डल मध्यवर्ती अमृतधारा परिप्लुत कुण्ड में सुप्त पड़ी रहती है। यही स्वापावस्था ही कृष्णपक्ष कहलाती है। जब योगी योगसमाधि द्वारा चन्द्र को चन्द्रस्थान में और सूर्य को सूर्यस्थान में प्राणायाम द्वारा निगृहीत करने में समर्थ होता है तब निरुद्धचन्द्रसूर्य अमृतसेचन अथवा अमृतशोषण में असमर्थ हो जाते हैं। तब प्राणायामवायु से प्रेरित स्वाधिष्ठानाग्नि मूलाधारस्थित अमृत कुण्ड को सुखा देती है, तब बिना आहार के कुण्डलिनी फूत्कार करती हुई सुप्तसर्पिणी के समान उठती हुई स्वाधिष्ठान में ब्रह्मग्रन्थि, अनाहतमें सूर्यग्रन्थि और आज्ञाचक्र में रुद्रग्रन्थि को भेदन कर सहस्रदल कमल मध्यवर्ती चन्द्रमण्डल को डसती है। इस प्रकार चन्द्र से प्रस्फुटित अमृत धाराएँ आज्ञाचक्र के ऊपर चन्द्रमण्डल को आप्लावित करती समस्त देह को अमृतधारा से आप्लावित करती हैं। इस प्रकार आज्ञाचक्र के ऊपर स्थित चन्द्र की पन्द्रह कला पंचदश नित्या हैं। यही नित्यायें नीचे विशुद्धिचक्र में आश्रित हो परिभ्रमण करती हैं। सहस्रदलकमलान्तः स्थित चन्द्रमण्डल ही बिन्दु (बैन्दव) स्थान है। उसकी कला आनन्दमयी त्रिपुरसुन्दरी, आत्मा कही जाती है। इस प्रकार योगीश्वर लोग शुक्ल पक्ष में ही कुण्डलिनी प्रबोधकर सकते हैं, कृष्ण पक्ष में नहीं। यह एक रहस्य है। शुक्ल पक्ष की तिथि या पौर्णमासी नाम से पुकारी जाती हैं। ऐसे ही कृष्णपक्ष की तिथियाँ अमावस्या में अन्तर्भूत होती हैं। वहीं एक मात्र अमावस्या ही कृष्णपक्ष है। इस कारण मूलाधार चक्र को अन्धतामिस्र भी कहा है। स्वाधिष्ठान में सूर्यकिरणों का सम्पर्क होने से मिश्रलोक है। मणिपूरक में अग्निसम्पर्क रहने पर भी सूर्य किरणों का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है, अतः यह मिश्रक लोक ही है। अनाहतपर्यन्त ज्योति और तमस का मिश्रलोक है, अनाहत ज्योतिर्लोक है। विशुद्धि चक्र से चान्द्र लोक का आरम्भ है। विशुद्धि चक्र चान्द्र लोक है। आज्ञाचक्र चन्द्र स्थानवत् सुधालोक है। इन दोनों चक्रों में सूर्य किरणों के सम्पर्क के कारण ज्योत्स्ना (स्वप्रकाश) नहीं है। सहस्र दल कमल ज्योत्स्नामय लोक है। वहाँ स्थित चन्द्र मण्डल नित्यकला से युक्त रहता है।

यह चन्द्रबिम्ब श्रीचक्र है, सादाख्या कला है, इसलिये त्रिकोण आधार (मूल) है, अष्टकोण स्वाधिष्ठान, दशार मणिपूरक, द्वितीय दशार अनाहत, चतुर्दशार विशुद्धिचक्र, चार शिवचक्र (योनियाँ-त्रिकोण) आज्ञाचक्र, बिन्दुस्थानचतुरस्र सहस्रदल पद्म। इस प्रकार "शरीरं चिन्तयेदादौ निजं श्रीचक्ररूपिणम्।" आज्ञाचक्रगत चन्द्र में पञ्चदशकला, श्रीचक्र रूप चन्द्र बिम्ब में परमा एक ही कला का निवास है। इस प्रकार कुल मिलाकर षोडशकला श्रीचक्र में, षोडशाक्षर कलामन्त्र में, तथा वैखरी शब्दराशि में व्याप्त है। यही सरस्वती के पञ्चाशद्वर्णात्मिक अङ्ग हैं, शब्दमयी मन्त्र मूर्ति है, तथा श्रीयन्त्र के कूटत्रय—वाग्भव, कामराज और शक्तिकूट है।

'षोडशेन्दोः कला भानोः द्विद्वादशदशानलैः।
सा पञ्चाशत्कला ज्ञेया मातृकाचक्ररूपिणी॥

'अकारादि षोडशस्वर चन्द्र की षोडशकला, कवर्गादि से लेकर पवर्गान्त अनुलोम प्रतिलोम मेलनरूप 'कं मं खं बं गं पं' आदि विधि से सूर्य की द्वादशकला रूप चौबीस वर्ण तथा यकारादि क्षकारान्त अग्नि की दशकला, इस प्रकार पचास कला हुई। इनमें व्यञ्जन स्वरों के अङ्ग मात्र हैं। इसलिए ककारादि से लकारान्त 'कला' शब्द का प्रत्याहार गौण है, कला स्वरों का प्रधान सम्बन्ध बताना मुख्यार्थ है। यही पञ्चदशाक्षरी में 'क' से लेकर अन्तिम तृतीय कूटस्थ लकार के प्रत्याहार से 'कला' शब्द का निर्वचन है—अकार की प्राप्ति 'ए' कार मध्यवर्ति अकार से होती है। चार अनुस्वार विन्दु का लक्ष्य करते हैं, इस कारण बिन्दुओं को ऊपर ग्रहण किया गया है। इस प्रकार विन्दु से ऊपर का नाद भी संगृहीत है। इस प्रकार नाद विन्दु कलात्मक श्रीचक्र त्रिखण्ड रूप है। षोडशी सादाख्या कला नादविन्दुकला से अतीत नित्य कला है, इसी का दूसरा नाम 'श्रीविद्या' है।

प्रत्याहार (आदि अन्त का मिलापन) चार प्रकार के ऐक्य का स्पष्टीकरण करते हैं। अकारादिषोडशस्वर, स्पर्शों में 'क' से लेकर 'त' तक सोलह स्पर्श और 'थ' से लेकर 'स' तक सोलह-स्पर्श ऊष्माणादि यह षोडश त्रिक षोडश नित्याओं में अन्तर्भूत हैं। हकार आकाशबीज बैन्दवाकाश में विलीन हुआ। हकार अन्तस्थों में रहने पर भी पुनः 'क' कार से प्रत्याहृत होकर 'कला' रूप में परिणत हुआ। 'क्ष' कार 'क' और 'ष' का संयोग होने से समुदाय रूप हुआ। इस प्रकार 'अ' कार से 'क्ष' कार तक प्रत्याहार करके अक्षरमाला बनी। इस कारण यन्त्र के शक्ति खण्ड(तृतीय) में 'हसकलह्रीम्' में 'क' और 'ल' के योग से 'ला' शब्द, 'क' और 'ष' के योग से 'क्ष' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ और इस प्रकार मन्त्र वर्णों से सभी मातृकाओं की उत्पत्ति हुई, इस विधि से षोडश नित्याओं की षोडशवर्णात्मिकता, षोडशवर्णों की पञ्चदशवर्णात्मकता और पञ्चदशवर्णों की चन्द्र-

सूर्याग्नि-कलात्मकता, चन्द्रसूर्याग्निरूप में मन्त्र की त्रिखण्डात्मकता, ऐसे चतुर्विध ऐक्य का अनुसन्धान हुआ।

ऐसे ही चक्र और 'मन्त्र' का भी ऐक्यानुसन्धान हैं। तीन 'ह्रींकार' और श्रीबीज शिवचक्रचतुष्टय त्रिकोणों में बिन्दुरूप से अन्तर्भूत है। 'सकल' के वर्णत्रय से अक्षमालात्मिका मातृका संगृहीत है। दोनों मातृका और अक्षमाला चक्र में अन्तर्भूत हैं, जैसे चार 'अन्तस्था' और (य र ल व) 'ऊष्माण, (श ष स ह) अष्टकोणात्मक चक्र में लीन हुए। 'क' से 'म' तक पञ्चम वर्णों (ङ ञ ण न म) को छोड़कर दशार युग्म में लीन हुए। वर्गों के पञ्चमाक्षर अनुस्वार सहित 'बिन्दु' में अन्तर्भूत हुए। चतुर्दश स्वर चतुर्दशार में और अनुस्वार विसर्ग का 'बिन्दु' में अन्तर्भाव हुआ। इस प्रकार सुभगोदय मत के अनुसार चक्र मन्त्र का ऐक्यानुसन्धान है।

पूर्णोदय के मतानुसार चक्र चन्द्र सूर्य अग्नि रूप त्रिखण्ड है। ऐसे मन्त्र का भी त्रिखण्डत्व प्रसिद्ध है। चन्द्र की १६ कला इन्दु खण्ड में, सूर्य की अनुलोम प्रतिलोम २४ कला सौरखण्ड में और अग्नि की दश कला अग्नि-खण्ड में अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार से कला, यन्त्र और मन्त्र का ऐक्यानु-सन्धान है। यह ऐक्यानुसन्धान ही मन्त्र-यन्त्र पूजा का मुख्य लक्ष्य है। मन्त्र में—

"कवयं, 'हृदयं' चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः ।
शक्त्यक्षराणि शेषाणि ह्रींकार उभयात्मकः ॥"

तीन ककार और दो हकार शिव का भाग, शेष अक्षर शक्ति भाग तथा ह्रींकार उभयभाग हैं। इसी प्रकार चक्र में भी

'चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोः वपुः ॥

चार शिव चक्र और पाँच शक्ति चक्र मिलकर नव चक्रों से शिवशिवा देहात्मक श्री चक्र बनता है। इनमें पाञ्च शक्ति चक्र—

'त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोणद्वयं तथा
चतुर्दशारं चैतानि शक्तिचक्राणि पञ्च च ॥

और चार शिव चक्र—

"विन्दुश्चाष्टदलं पद्मं पद्मषोडशपत्रकम् ।
चतुरश्रं च चत्वारि शिव चक्राण्यनुक्रमात्" ॥

अब इन दोनों का ऐक्यानुसन्धान 'त्रिकोण' में बिन्दु को, अष्टार में अष्ट-दल कमल को, दो दशारों में षोडशार को और चार भूगृहों को चतुर्दशार में विलीन करे।

"त्रिकोणं वैन्दवे श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम् ।
दशारयोः षोडशारं भूगृहं भुवनाश्च के ॥"

इस प्रकार—

"शैवानामपि शाक्तानां चक्राणां च परस्परम् ।
अविनाभावसम्बन्धं यो जानाति स चक्रवित् ॥"

शिव शक्ति चक्रों का ऐक्यानुसन्धान ही श्रीचक्र पूजन है। कारण कि शक्ति त्रिकोणरूपिणी विन्दुरूप परमशिव से सदा समरसभाव को प्राप्त है —

"त्रिकोणरूपिणी शक्तिर्विन्दुरूपः परः शिवः ।
अविनाभावसम्बन्धः तस्माद्वेन्दुत्रिकोणयोः ॥

इस विभाग और ऐक्यानुसन्धान ज्ञान के बिना श्रीचक्रपूजन यथोक्त फलदायक नहीं होता।

सुभगोदयानुसार षोडशनित्या शुक्ल-कृष्ण पक्षों में विनिर्गत अथवा अन्तर्लीन चन्द्र षोडशकला 'दर्शाद्याः पूर्णमान्ताः' तिथियाँ हैं—

"दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताश्च कलाः पञ्चदशैव तु ।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ॥"

दर्शा नाम अमावस्यानन्तर प्रतिपत् तिथि जिसमें किञ्चिन्मात्रदर्शन होता है, दर्शा कहलाती है। इस प्रकार श्रुति ने दर्शा, दृष्टा, दर्शता, विश्वरूपा, सुदर्शना, आप्यायमाना, आप्याया, सूनृता, इरा, आपूर्यमाणा, पूरयन्ती, पूर्णा और पौर्णमासी ऐसे पञ्चदश शुक्ल तिथियों के नाम हुए। इनके अनुसार वसिष्ठसंहिता में—

'शृणु देवि प्रवक्ष्यामि नित्यापोडशकं तव'—

कहकर महात्रिपुरसुन्दरी, कामेश्वरी, भगमालिनी, नित्यक्लिन्ना, भरुण्डा, वह्निवासिनी, महावज्रेश्वरी, रौद्री, त्वरिता, कुलसुन्दरी, नीलपताका, विजया, सर्वमङ्गला, ज्वालामालिनी, चित्रा। इस प्रकार षोडशनित्याओं का षोडश चन्द्रकलाओं के साथ तादात्म्य होकर श्रीचक्राङ्गतया उपासन ऐक्यानुसन्धान है।

इस समस्त ऐक्यानुसन्धान का सार विश्वरूपिणी, विद्यारूपिणी तथा चक्ररूपिणी शक्ति का शिव के साथ सामरस्यस्थापन है।

"बन्धनं योनिमुद्राया मन्त्राणां वीर्ययोजनम् ।
गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत् ।"

यहाँ आदि 'अकार' का अन्त्य 'ह' कार के साथ समाहारद्वन्द्व कर 'अहम्' तत्त्व का प्रतिपादन 'हसः' 'सोऽहम्' के रूप में अवस्थिति तथा तुरीयस्वर में कामकलारूपत्व हादिकलासंयोग का रहस्यानुसन्धान और योगिनी-हृदयानुसार

'मध्यविन्दुविसर्गान्तः समास्थानमये परे ।
कुटिलारूपके तस्याः प्रतिरूपं वियत्कले ॥"

अर्थात् तुरीयविन्दु कामाख्या, वह तुरीयबिन्दु और विसर्ग के समष्टि-व्यष्टि-रूप मध्य में अन्तःपाति होने से। यहाँ समष्टि विन्दु है, व्यष्टि विसर्ग के दो विन्दु हैं, इन दोनों में चैतन्यात्मक अवस्थान है। अतः अन्तिम अकार हकार मातृकाओं में चरम होने के कारण अकार-हकार अनुलोम प्रतिलोम क्रम से उभय चरम संज्ञा युक्त हैं। यह दोनों अक्षर कुटिला तुरीय स्वर अथवा अकुल-कुल-कुण्डलिनी में अन्तर्निविष्ट हैं। वियत्पद से शून्याकार काम संगृहीत है, कला से हार्दकला। इस प्रकार अकार हकार स्वरूपा कामकला इस महामन्त्रराज से सम्प्राप्त है। इसका सार श्री भास्कररायमखरी ने सुन्दररूप से अङ्कित किया है।—

"अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ ।
स्फुरप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म ॥

विश्वसिसृक्षावशतः स्वार्धांशक्तिं विलोकयद् ब्रह्म ।
बिन्दूभवति तमिन्दुं प्रविशति शक्तिस्तु रक्तबिन्दुतया ॥
एतत्पिण्डद्वितयं विसर्गसंज्ञं हकारचैतन्यम् ।
मिश्रस्तु तत्समष्टिः कामाख्यो रविरकारचैतन्यम् ॥
एषाऽहंपदतुर्यस्वरकामकलादिशब्दनिर्देश्या ॥
वाग्अर्थसृष्टिबीजं तेनाऽहन्तामयं विश्वम् ॥
अन्त्यप्रथमे मध्ये चतुर्थे मन्त्रेऽपि तौ व्यक्तौ ।
तेनाम्बामनु जगतामभेद एवात्र भावार्थः ॥

अर्थात् 'शिवशक्तिरूप अकार हकार स्वयं आकाशरूप शून्याकार होकर परस्पर आलिङ्गन करते हुए स्फुरण और प्रकाश रूप से उपनिषद्वर्णित पर ब्रह्म हैं ॥

वही ब्रह्म विश्वसृष्टि की भावना से स्वात्मशक्ति (अर्द्धशक्ति) का अवलोकन कर बिन्दु (श्वेतवीर्यकीटाणु) बनकर स्वात्मशक्ति में प्रविष्ट होता है। उसी इन्दुरूप प्रकाश बिन्दु में रक्त बिन्दु रूप होकर शक्ति प्रवेश करती है।

यह दो बिन्दु दो पिण्ड विसर्ग (अः) नाम से अभिव्यक्त चैतन्य हकार रूप में परिणत होते हैं। इन दोनों की मिश्रित समष्टि रूप से 'काम' नाम से प्रसिद्ध अकार चैतन्य रूप सूर्य आ मिलता है।

इस प्रकार अकार हकार पद परस्पराश्लिष्ट तुरीय स्वर (ई) कामकला आदि शब्दों से व्यवहृत हो समस्त वाणी और शब्दार्थ सृष्टि में व्याप्त है। इस कारण सभी विश्व अहन्तामय ही है।

मन्त्र के अन्तिम शक्तिकूट के प्रथमाक्षर (स) में और मध्य (कामराजकूट) के चतुर्थाक्षर रूप में उल्लिखित हैं, इस कारण समस्त समष्टि व्यष्टि भावापन्न अहन्तापरिलक्षित पराम्बा, मन्त्र और जगत् का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है।

जिस प्रकार सागर को सागर में भरना बाल प्रयास मात्र है वैसे ही 'श्रीविद्या' को एक लघुलेख की परिधि में बाँधना। यदि सिन्धु बिन्दु में समा सकता है—तो दिक् काल वस्तु परिच्छेद शून्यतत्त्व को 'ललिता' ऐसे तीन अक्षरों में समस्त परावरानन्द का निर्देश किया जा सकता अशेषता समस्त जगत् हृल्लेखात्मक है। वही गुप्त रूप से समस्त तन्त्रों का सार है—

'व्योम्ना प्रकाशमान त्वं ग्रसमानत्वमग्निना ।
तयोर्विमर्श ईकारो बिन्दुना तन्निभालनम् ॥

हकार रूप आकाश से प्रकाशमान, रकार रूप अग्नि से उपसंहृत, उभय विमर्शरूप हकार से संयुक्त अन्तिम बिन्दु (अनुस्वार) से परिपूर्ण है। यही हृल्लेखा लक्षित परब्रह्म है।

प्रस्तुतकर्त्ता—नन्दनन्दनानन्द सरस्वती

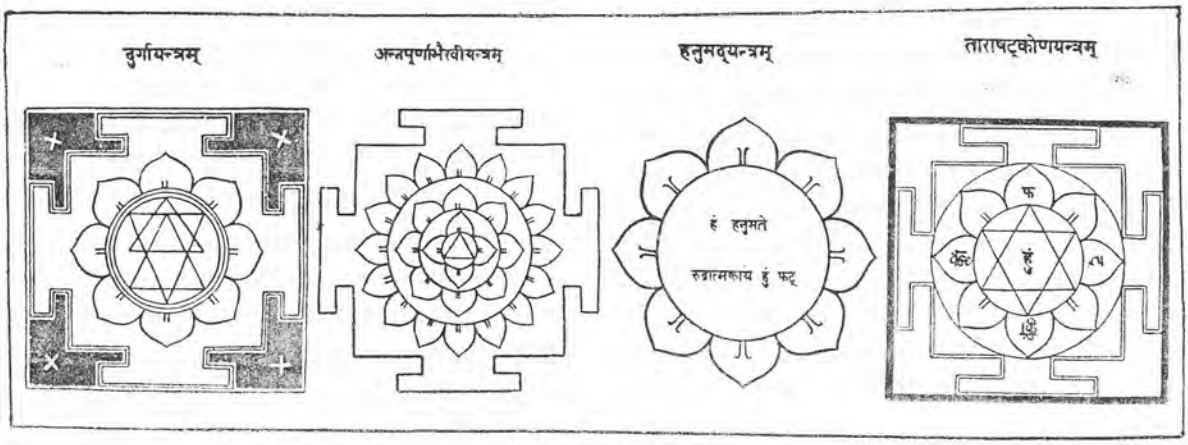

आम्नायविमर्शः

ऊर्ध्वाम्नाय-काशी-सुमेरु-पीठाधीश्वर-जगद्गुरु-शङ्कराचार्य-स्वामि-श्रीशङ्करानन्द-सरस्वतीपादाः

संस्कृत-वाङ्मयपुण्य-प्रवाहावगाहनशीलानां निगमागमारण्यरसामृत-प्लावित-चेतसां विद्वद्धौरेयाणां विदितचर एव 'आम्नाय'शब्दः। शब्दोऽयं बहुषु स्थलेषु समुपलभ्यते। तथाहि—"छन्दः पुरुष इति ममावोचामाक्षर-समाम्नाय एव तस्यैतस्याकारो रसः" [ऐ. आ. ३।२।३]। 'अथ निघण्टु-समाम्नायः' [नि. नि.] 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' [जै. सू. १।२।१]। 'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्' [वा. शि.]। 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' [अ. को. सं. व.]। 'आम्नायः कुल आगमे, उपदेशे च' [हैमे]। 'आम्नाये स्मृतितन्त्रे च' [रघु. धृत पु.]। 'आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोक-संग्रहः। आम्नायेभ्यः पुनर्वेदाः प्रसृताः सर्वतोमुखाः॥ [महा. शा. २६१ अ.]। 'प्रपञ्चं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नायमहसः' [सौ. ल.]। 'भगवान् परमशिवभट्टारकः श्रुत्याद्यष्टादशविद्याः सर्वाणि दर्शनानि लीलया तत्तदवस्थापन्नः प्रणीय, संविन्मय्या भगवत्या भैरव्या स्वात्माभिन्नया पृष्टः पञ्चभिर्मुखैः पञ्चाम्नायान् परमार्थसारभूतान् प्रणिनाय' [प. क. सू. २]।

तदित्थमाम्नायशब्दः श्रुतिस्मृतिसूत्रादिग्रन्थेषूपलभ्यमानः स्वीयं महत्त्वं ख्यापयति।

आम्नायशब्दार्थः

आङ्पूर्वकात् 'म्ना' अभ्यासे (भ्वा.) इत्यस्माद् धातोः कर्मणि घञ्। आम्नायते अभ्यस्यत इत्याम्नायः। आमनति उपदिशति धर्माधर्मौ इति वाम्नायः। वाचस्पत्येऽपि—आ + म्ना + घञ्। सम्य-गभ्यासे सम्यक्पाठे च। अभ्यासस्य सम्यक्त्वञ्च नियमधारणपूर्वकत्वं गुरुमुखश्रवणपूर्वकत्वञ्च। तथा च विविधकोशानुसारेण श्रुतिवेदनिगमा-गमाम्नायशब्दाः पर्यायत्वं भजन्ते। अत एव—आम्नायशब्दः संस्कृत-वाङ्मये क्वचित्—वेदपदेन क्वचिदागमपदेन क्वचिच्च तन्त्रपदेनापि व्यपदिश्यते।

आम्नायप्रकाराः

भैरवतन्त्रे—आम्नायाः पञ्चविधत्वमुक्तम्—

पूर्वं पश्चिमं दक्षिणं उत्तरञ्च निरुत्तरम्।

कुलार्णवे—

मम पञ्चमुखेभ्यश्च पञ्चाम्नायाः समुद्गताः।
पूर्वश्च पश्चिमश्चैव दक्षिणश्चोत्तरस्तथा।
ऊर्ध्वाम्नायश्च पञ्चैते मोक्षमार्गाः प्रकीर्तिताः॥

परशुरामकल्पसूत्रानुसारेणापि पञ्चाम्नाया इत्यत्र नास्ति संदेह-लेशावकाशः। भगवान् परमशिवभट्टारकः पञ्चभिर्मुखैः पञ्चाम्नायान् परमार्थसारभूतान् प्रणिनाय [प. क. सू. प्र. ख. २ सू.]।

'सर्वस्मात्तु विमोचकं पारमेश्वरशास्त्रं पञ्चस्रोतोमयं दशाष्टा-दशवस्वष्टकभेदभिन्नम्' इति तन्त्रसारे अभिनवगुप्तपादैराम्नायानां पञ्चसंख्याकत्वं स्पष्टमुदघोषि।

वामकेश्वरतन्त्रस्थसेतुबन्धव्याख्यायां "निरुत्तरपदेनोर्ध्वाम्नायतन्त्रं तस्यानुत्तराम्नायपदेनापि व्यवहारः" इति भास्कररायः।

षडाम्नायाः

समयाचारतन्त्रे द्वितीयपटले तु षडाम्नाया उक्ताः।

तथाहि—पूर्वाम्नायो यदा मन्त्रस्तदा प्राची दिशि स्थितः।
सदाशिवोऽहं भगवानाचारः परिकीर्तितः॥
एवं हि दक्षिणाम्नायो दक्षिणस्यां दिशि स्थितः।
एवमुत्तर आम्नाय उत्तरस्यां दिशि स्थितः॥
मुखमूर्ध्वकृतं देवि यत्प्रोक्तं तव सन्निधौ।
ऊर्ध्वाम्नायश्च कथितो देवानामपि दुर्लभः॥
यदाचारो मुखे देवि! यत्प्रोक्तं गिरिजे प्रिये।
अध आम्नाय इत्युक्तः सत्यं सत्यं सुमध्यमे॥
षडाम्नायाश्च कथिताश्चोत्पत्तिक्रमनामतः।

वैदिकतान्त्रिकग्रन्थगणनावसरे तत्त्वनिधावपि षडाम्नाया उक्ता:—

पूर्वाम्नायाह्वयं दक्षिणाम्नायाख्यमनुत्तमम्,
पश्चिमाम्नायकाभिख्यमुत्तराम्नायनामकम्।
अनुत्तराम्नायतन्त्रमूर्ध्वाम्नायाह्वयं तथा॥ इति॥

श्रीनाथाम्नायपद्धतिः—पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तरमनु चोर्ध्वं ततोऽनुत्तरम्—इत्येवं षडाम्नायानुररीचकार। अपि च यद्याम्नायानां चातुर्विध्यमेव स्यात्तदा षडाम्नाय-पद्धतिस्था षट्संज्ञा वैयर्थ्यमियात्। एवञ्च यत्राम्नायानां चतुष्ट्वं पञ्चत्वं वा वर्णितमुपलभ्यते तत्र त्रिवृत्-करण-पञ्चीकरणन्यायेन समाधेयम्।

अवान्तरं वैशिष्ट्यम्

परमेश्वरस्य विभुत्वात्—शाश्वतिकत्वाच्च तस्य सिद्धान्तोऽपि सनातन एव सार्वत्रिकः। भगवता च स्वांशभूतप्राणिनामधिकारानु-सारेण तेषां मुक्तये तत्साधनीभूता बहवो नियमा उपदिष्टाः। तेषाञ्च महती परम्पराऽस्ति। संघीभूता इमे नियमा आम्नायपदेन व्यपदिश्यन्ते।

परमेश्वरश्चेमान् स्वीयैः पञ्चभिर्मुखैः प्रोक्तवान्, अतएव पञ्चाम्नाया इति प्रसिद्धिः।

परमेश्वरस्य (काल्पनिकं) पूर्वमुखं पूर्वाम्नाय इति कथ्यते। अस्याम्नायस्य मुख्यो धर्मः 'सृष्टिः' मार्गश्च मन्त्रयोगाख्यः। चतुर्विंशतिः सिद्धान्ताः सन्ति। दक्षिणमुखं दक्षिणाम्नायपदेनोच्यते। अस्मिन्नाम्नाये मुख्यो धर्मः 'स्थितिः' मार्गश्च भक्त्याख्यः। पञ्चविंशतिः सिद्धान्ताः। पश्चिममुखं पश्चिमाम्नायपदेन व्यपदिश्यते। अस्मिन्नाम्नाये संहारो-मुख्यो धर्मः, कर्ममार्गः, द्वात्रिंशत् सिद्धान्ताः सन्ति। उत्तरमुखमुत्तराम्नायः। अत्र च 'कृपा' मुख्यो धर्मः, ज्ञानाख्यो मार्गः। षट्त्रिंशत् सिद्धान्ताः सन्ति।

ऊर्ध्वमुखं यच्च सर्वोत्तममस्ति 'ऊर्ध्वाम्नाय' पदेन व्यवह्रियते। अत्र मुख्यो धर्मः 'पूर्णं ब्रह्म' इति रहस्यपूर्ण उपदेशः। एवं च ऊर्ध्वाम्नायः सर्वानतिशेते।

अथ आम्नायः षष्ठाम्नाय इति व्यवह्रियते।

आम्नायानां प्रयोजनम्

परशुरामकल्पसूत्रीयप्रथमखण्डद्वितीयसूत्रीयभाष्ये वृत्तिकार आम्नायानां प्रयोजनं वर्णयति। तथाहि—

"नन्वष्टादशसु विद्यासु भवतीषु पुनराम्नायप्रणयनं व्यर्थमत आह संविन्मय्येति। अयमभिप्रायः—पुरुषार्थः सुखं, तच्च नैसर्गिकं कृत्रिमञ्चेति। नैसर्गिकं मोक्षरूपं, कृत्रिमं यस्तृतीयः पुरुषार्थः काम इत्युच्यते। उभयोः साधनं धर्मः, तस्यापि साधनमर्थः। एवं साक्षात्परम्परया वा पुरुषैरभिलषणीया अर्थाश्चत्वारः। तत्र कृत्रिमपुरुषार्थसाधनान्येवाष्टादशविद्याभिः प्राकट्येन प्रतिपादितानि। अकृत्रिम-पुरुषार्थो यस्तत्साधनमकृत्रिमं स्पष्टं न प्रतिपादितम्। कृत्रिमोपदेशश्चाकिञ्चित्करो लोकानामिति जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षुराम्नायविद्यां प्रणिनाय। एतावता च विदितमेव स्याद् विदुषामाम्नायस्य मुक्तिप्रदत्वावधिकं प्रयोजनम्"-इति।

आम्नायस्वरूपम्

षडाम्नायतन्त्रे पूर्वाम्नायस्य शब्दस्वरूपत्वं, दक्षिणाम्नायस्य श्रवणात्मकत्वं, पश्चिमाम्नायस्य ब्रह्मात्मकत्वं, उत्तराम्नायस्योत्तराननरूपत्वं, ऊर्ध्वाम्नायस्य तत्त्वरूपत्वं प्रोक्तम्। तथाहि—

पूर्वाम्नायः शब्दरूपं दक्षिणः श्रवणात्मकम्।
ब्रह्म पश्चिम आम्नाय उत्तरः उत्तराननम्॥
ऊर्ध्वाम्नायस्तत्त्वरूपं षडम्नाकुलसाधनम् (षडा० १४०,१४१)

भगवत्पूज्यपादाः शङ्कराचार्या मठाम्नायसेतौ—मठाम्नायोपनिषदि च पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणोर्ध्वात्मनिष्कल-भेदेन सप्ताम्नायान् तदीयमठांश्च वर्णयन्ति। तद्यथा—

प्रथमः पश्चिमाम्नायः शारदामठ उच्यते।
पूर्वाम्नायो द्वितीयः स्याद् गोवर्द्धनमठः स्मृतः॥
तृतीयस्तूत्तराम्नायो ज्योतिष्मान्हि मठो भवेत्।
चतुर्थो दक्षिणाम्नायः शृङ्गेरी तु मठो भवेत्॥
पञ्चमस्तूर्ध्व आम्नायः सुमेरुर्मठ उच्यते।
षष्ठः स्वात्माख्य आम्नायः परमात्मा मठो भवेत्।
सप्तमो निष्कलाम्नायः सहस्रार्कद्युतिर्मठः॥

ऊर्ध्वाम्नायस्य वैशिष्ट्यम्

प्रत्येकाम्नायस्य देवप्रदत्तविशिष्टयमन्त्रा उपमन्त्राश्च सन्ति। ते च भुक्तिमुक्तिप्रदान समर्थाः सन्ति। मन्त्राधिष्ठातृदेवतास्तदीयमन्त्रजपफलं साधकाय प्रयच्छन्ति। तेऽपि देवाः शिवशक्त्यंशभूता एवं। समेषां मन्त्राणां तत्त्वं रहस्यं वा शिव एव जानाति नान्यः तत्कृपयैवान्ये मन्त्रतत्ववेत्तारो भवन्ति। साधकेभ्यस्तदीयाम्नायज्ञानमावश्यकम्। अन्यथा साधनफलं जन्मशतैरपि न कश्चन प्राप्तुमर्हति।

कुलार्णवतन्त्रानुसारेण

चतुराम्नायविज्ञानादूर्ध्वाम्नायः परः प्रिये।
तस्मात्तदेव जानीयाद् यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः॥
ऊर्ध्वत्वात् सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायः प्रशस्यते।
ऊर्ध्वं नयत्यधस्थञ्च मूर्ध्वाम्नाय इतीरितः॥
तस्माद् देवेशि जानीहि साक्षान्मोक्षैकसाधनम्।
सर्वाम्नायाधिकफलमूर्ध्वाम्नायः परात्परम्॥

कुला० ३।१६-१९

पुनश्च तत्रैव भगवान् सदाशिवः—

सर्वलोकेषु सर्वेभ्यो ह्यहं पूज्यो यथा प्रिये!
आम्नायेषु च सर्वेषूर्ध्वाम्नायस्तथा शिवे॥

इत्यारभ्य—तथैव सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायोऽधिकः प्रिये इत्येतदन्तग्रन्थेनोर्ध्वाम्नायस्येतराम्नायापेक्षया श्रेष्ठत्वमजूघुषत्।

इत्थमागमादिप्रतिपादितं परमप्रसिद्धमूर्ध्वाम्नायं सुमेरुमठं वाराणसेयविद्वत्सहकारेण विश्ववन्द्या निगमागमाखिल-शास्त्र-पारङ्गताः सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा यति-चक्रचूडामणयोऽनन्त-श्रीविभूषिताः श्रीकरपात्रपादा उदधरन्।

सनातनधर्मप्राणानां तेषामद्य प्रादुर्भावदिवसः। चातुर्वर्ण्यमर्यादां दर्शयन्तः सर्वत्र निगमागमपथमालोकयन्त इमे धरायां चिरकालं निवसन्त्विति भगवन्तं भवानीपतिं प्रार्थयामहे। इति।

अघोरपीठ : मुहल्ला क्रींकुंड स्थित

• अवधूत भगवान राम •

बावन अघोरेश्वरों का समाधिस्थल––काशी ही नहीं अपितु सारी दुनियाँ में देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में अघोरपीठ सदियों से प्रतिबिम्बित होता चला आ रहा है, जिससे आज भी कोई भी मनुष्य उस स्थल को देखकर कह उठता है कि जीवित रूप में साक्षात् आभाएँ, किरणें, उस स्थल से, अघोरपीठ से निकलती रहती हैं। अघोरपीठ में आप स्वयं जाकर देख सकते हैं। काशी में बहुत से मठ हैं जो संज्ञाशून्य हो चुके हैं, प्राणहीन हो चुके हैं ! अघोरपीठ की शृंखला में महाराज श्री कीनाराम से लेकर महाराज श्री राजेश्वररामजी तक साधना का स्रोत, उद्गम स्थान रहा—देश के अघोर उपासकों की, अघोर महापुरुषों की।

अघोर––हम सहज में अघोर शब्द की व्याख्या कर लेते हैं। और कुछ नहीं, जो घोर न हो, कठिन न हो, सुगम सहज हो। जहाँ विधि व निषेध न हो, जहाँ कृत्रिम शास्त्रपुराण या कृत्रिम अनुभवों का आधारभूत न हो। अघोरेश्वरजन कृत्रिम आदर्श, आचरण, आचार के प्रति उदासीन रहते हैं। वे आत्मा में विश्वास करते हैं, उनमें आत्म-बुद्धि रहती है, देहकृत कर्मों में उन्हें विश्वास नहीं होता और देह बुद्धि उनमें नहीं होती। इसीलिए आम जनता में भ्रम है कि इन्हें मुक्ति नहीं मिलती। सही है मुक्ति देहकृत कृत्रिमता में विश्वास करने वाले को आवश्यक है न कि आत्मा में रमण करने वाले को। सर्व-भूतों में आत्मा देखने वाले को मुक्ति की क्या आवश्यकता है ? बिल्कुल भुक्ति मुक्ति से विरत होते हैं, इसीलिए आम जनता में यह चर्चा का विषय बना रहा कि औघड़, अघोरेश्वर यदि कुछ कह देते हैं उसका परिणाम अवश्य होता है, इन्हें वाक्सिद्धि होती है। इन्हें अन्तरिक्षगमन की शक्ति होती है। ये सदैव प्रज्ज्वलित यज्ञ-कुंड मानव शरीरों द्वारा आहुति-स्थल श्मशान में निवास करते हैं और इनकी श्मशान के सहचर सेवा करते हैं। ये हैं भी, ये विकृत पिशाचवत् उन्मादित वेष-भूषा में भी देखे जाते हैं और 'आबू के बाबू' 'गिरनार के सिद्ध' उस रूप में भी देखे जाते हैं। बड़े रईसों की तरह बड़े होटलों में, बड़े सैनिकों के मध्य, बड़े राज दरबारों में, बड़ी विद्वत् मंडली में, सही है आम जनता की धारणा हो भी सकती है। भेद रहित अभेद स्थिति में पूर्णतः पार किया हुआ चित्त योगी गुरु बहुरंगी सर्वसंगी को चरितार्थ करते हैं।

अघोर दर्शन––हमारा अघोर दर्शन बहुत बड़ा विस्तृत नहीं है। इसका यही दर्शन है––कृत्रिम शास्त्र और पुराण, कुरान और बाइबिल, तबरेज या गुरुग्रन्थ, जो कहता है कि इसे छोड़ो, उसे छोड़ो, इसे तुम ग्रहण करो। ये जिसे कहता है कि ग्रहण करो उसे वह छोड़ देता है। अघोरेश्वर कृत्रिम शास्त्र, जिसे छोड़ने को कहता है, उसे पूजता है और जिसे पूजने को कहता है उसे छोड़ देता है। इतने से आप औघड़ दर्शन समझ जायेंगे। औघड़ और घर की भावना से प्रेरित रहता है इसीलिए कृत्रिम ग्रन्थों या कृत्रिम देवताओं के प्रति आकृष्ट नहीं रहता, भले ही आपको करते दीखता हो पर वह उसमें नहीं रमता––निकट आवेंगे तो समझेंगे। औढर हम उस भूतेश को सम्बोधित करते हैं जो समबुद्धि रखनेवाला––प्राणियों के प्रति उदारता बरते। विषम एवं कटुजन उनमें उस उदारता का अभाव समझते हैं, समझते रहेंगे।

अघोर मंत्र––औघड़ अडांग बडांग फट्, इस तरह के शब्दों को जिसे आप मंत्र कह लीजिए, उच्चारण करते हुए या बुर-बुर इस तरह के मन्त्रों का स्वर भरते हुए दीखते हैं, इससे आप क्या अर्थ लगा सकते हैं ? उसी "अनमिल आखर अरथ न जापू। विदित प्रभाव महेश प्रतापू" की पुष्टि करता है। आप ही किसी को बहिन, मतारी या और किसी तरह से गाली का प्रयोग कर देखें कितना सिद्ध है। सिद्ध नहीं करना पड़ता। साँड़ या भैंसे को 'अर्र् छो' कहकर देखें जो स्वयं सिद्ध शब्द है, जिसका कोई अर्थ नहीं है उसे ही "अनमिल आखर अरथ न जापू" यही कह सकते हैं।

अघोर यंत्र––औघड़ पद्मासनस्थ हो जाता है। पद्मासन स्थित होता है तो आप ही देखें कि वह त्रिकोण सा यंत्रवत् हो जाता है। उसकी मुखार आहुतिकुंड की तरह, काली खोह की काली की तरह खुल जाता है। जो भी पदार्थ लेह्य, चर्व, चोष्य, भक्ष्य, खाद्य या अखाद्य अपने आप में समास होने पर पिंडपात करता है, आहुति देता है। वह दृष्टि दोष से विरत रहता है। हाँ, औघड़ जनों के आचार विचार आम जनों से कुछ भिन्न होते हैं। साधना काल का तो विकट होता है। साधना से उपराम होने पर समान जनों की तरह समान जनों के उपकारप्रद होता है।

अघोर की रहनी––वे स्वधर्मी होते हैं, परधर्म की आलोचना नहीं करते। उसकी भयंकरता को सही दृष्टि से समझते हैं। "योगः कर्मसु कौशलं" को चरितार्थ करते हैं। उनकी रहनी रहस्य से भरा होता है, वह रहस्य प्राणियों के उपकार के लिए होता है। इनकी कृत जिसे आप सिद्धि कहते हैं "औढर ढरन जग हितकारी", सन्त एवं सज्जनों के उदय का द्योतक होता है। कभी भी अपने अनुयायियों को समाज, राष्ट्र और जो प्रचलित धर्म है, उनसे असहयोग की भावना प्रेरित नहीं करते। जिस देश में, जिस भूमि पर विचरते हैं, उसे सदैव शुभ मंगल लौकिक दृष्टि से करते रहने का स्वभाव सा बन जाता है।

हाँ, औघड़ आत्मा का पुजारी होता है, आत्मा में आहुति देता है, उनकी अपने ही आत्मा में तृप्त रहने की स्वयोग्यता है। अपने इन्द्रियों को उन बूढ़े लोगों—जो बहुत से जीवन के पथ तय कर चुके हैं और उनके जीवन की अनेकों कठिनाइयाँ और समस्याओं को दिखाकर इंगित करता है। कहते हैं देखो, यह जैसा जीना चाहते थे वैसा नहीं जी पाए—हे इन्द्रियों! तू इनसे बोध प्राप्त कर और जिस मार्ग से चलकर और जिस सुख की यह इच्छाओं के बन्धन में अपने आपको जर्जर कर चुके हैं और शून्य, संज्ञाहीन, विवेकहीन जीवन जीते हैं, उससे तू विरत हो। तुम्हें वैसा जीवन नहीं जीना है। औवड़जनों का इसी प्रकार का सही और सच पूछिए तो विचार एवं कृत हुआ करता है।

औघड़ पद—औघड़ निगम एवं आगम शब्दावली और इसके दर्शन या रूप से उठे हुए स्थित होता है। यह पंथ नहीं, यह पद है। वैष्णव, शैव और शाक्त सभी समवर्तिता की अवस्था में इस पद को सुशोभित करते हैं। समवर्ती ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मुसलमान, ईसाई की दृष्टि नहीं रखता वह मानव मानवीय आत्मीयता का, सौर-मंडल का, एक नक्षत्र होकर पृथ्वी पर अलग से विचरता है। अभेद स्थिति को प्राप्त करने पर उसे ब्रह्मनिष्ठ, औघड़, अवधूत, कापालिक, तुरीयस्थ, मलंग, औलिया कहकर जन समूह सम्बोधित करता है।

*

वैष्णवागम में श्रीसीतारामोपासना

• स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज •

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥

श्रीरामतापनीय श्रुति के अनुसार योगियों के रमणस्थान, सत्य, अनन्त आनन्द चिद्रूप श्री राम अभिधावृति से परब्रह्म के वाचक हैं। प्रणव के वाच्य भी वे ही हैं। अकाराक्षरसम्भूत, विश्वभावन, जाग्रदवस्थापन्न जीव नियामक श्री लक्ष्मणकुमार हैं, उकाराक्षरसम्भूत, तैजसात्मास्वप्नावस्थापन्न जीवनियामक श्री शत्रुघ्नकुमार हैं। मकाराक्षरसम्भूत, प्राज्ञात्मक, सुषुप्तिनियामक श्री भरत जी हैं तथा प्रणव की अर्धमात्रा के स्वरूप ब्रह्मानन्दैक विग्रह, तुरीय नियामक श्री राघवेन्द्र हैं। अर्धमात्रा स्थित बिन्दु की वाच्य जगज्जननी श्री जानकी जी हैं—ऐसा तापनीयभाष्यकार श्री हरिदास स्वामी का मत है। इस प्रकार उपनिषद् भाग में सपरिवार श्री सीताराम जी की उपासना का वर्णन है ही, आगम ग्रन्थों में भी श्री सीतारामोपासना का विशद विवेचन उपलब्ध होता है।

उत्पत्यसम्भवाधिकरण में ब्रह्मसूत्रकार श्रीवेदव्यास जी ने इस विषय पर पूरे अधिकरण में पर्याप्त विचार किया है। स्वामी श्रीरामानुजाचार्य से लेकर सभी वैष्णवाचार्यों ने अपने-अपने भाष्यों में आगम प्रमाणों की पुष्टि की है। सात्वत संहिता, परम संहिता, मोक्षधर्म आदि ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा आगम प्रमाण को श्रुतिमूलक कहा गया है।

पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्।

समग्र पंचरात्र आगम के वक्ता स्वयं श्रीनारायण हैं। पंचरात्रान्तर्गत संहिताओं में सनत्कार संहिता, वशिष्ठ संहिता, भुवनेश्वर संहिता, अगस्त्य संहिता आदि में श्रीसीतारामोपासना का विशद विवेचन है।

सनत्कुमार संहितान्तर्गत श्रीरामस्तवराज पर दो संस्कृत टीकाएँ हैं। ग्रन्थ के प्रारंभ में श्री युधिष्ठिरजी ने श्री वेदव्यासजी से पूछा है—

किं तत्त्वं किं परं जाप्यं किं ध्यानं मुक्तिसाधनम् ?

उत्तर है—जो पर है, गुणातीत है, प्रकाशस्वरूप है, निर्गुण कल्याणकारी स्वरूप है एवं मोक्ष का कारण है वही श्रीराम परमतत्त्व है—'श्रीरामेति परं तत्वम्'। श्रीरामतारक मंत्र ही पर जाप्य है—'परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्'। तथा श्रीसीताविशिष्ट श्रीराघवेन्द्र का ध्यान ही मुक्तिप्रद ध्यान है—

वैदेही-सहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे,
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम्।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं,
व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृत्तं रामं भजे श्यामलम्॥

इस प्रकार श्री सीताविशिष्ट श्रीराम ही पर तत्व है। उनका मंत्र ही पर जाप्य है तथा रमणीय श्री अयोध्यास्थित मणिमण्डपान्तर्गत कल्पतरु के नीचे रत्नसिंहासन पर अष्टदल कमल है जो नानारत्नों से वेष्टित है। अग्निबीज, सूर्यबीज, चन्द्रबीज—तीन मुद्रायें वहाँ विद्यमान हैं उसी पर सपरिवार श्रीसीताराम जी विराजमान हैं। उन्हीं का ध्यान उपासकों को करना चाहिए—श्रीरामस्तवराज में इसी विषय का प्रतिपादन है।

गो-गोपिका–समाकीर्णं वेणुवादनतत्परम्"
उत्फुल्लामल-कोमलोत्पलदल–श्यामाय रामाय नः।
कामाय प्रमदामनोहरगुणग्रामाय रामात्मने।

इत्यादि श्लोकों के भाष्यों में भाष्यकारों ने भुशुण्डिरामायण कौशलखण्ड,

शिवसंहिता आदि रहस्यग्रन्थों में वर्णित श्रीसीतारामजी की मधुर लीलाओं का संकेत किया है।

वैष्णवागम में श्रीहनुमत्संहिता का असाधारण महत्त्व है। पाँच अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ श्री सीतारामजी की माधुर्य-लीला का मूल उत्स माना जाता है। इस संस्कृत ग्रंथ की व्याख्या में रसिकाचार्य स्वामी युगलानन्दशरण जी महाराज ने युगलविनोदविलास नामक स्वतंत्र ग्रन्थ का प्रणयन किया है, जो रसिक समाज में अत्यन्त आदरणीय है।

श्री हनुमत्संहिता में महर्षि अगस्त्य ने श्री हनुमान् जी से श्री सीताराम जी की ऐकान्तिक लीला के सम्बन्ध में जिज्ञासा की है। महर्षि ने कहा कि अनेक तत्त्वज्ञ महापुरुषों को भी श्री सीतारामजी की माधुर्य-लीला में प्रवेश दुर्लभ है। आप तो साक्षात् यूथेश्वरी चारुशीला हैं तथा श्री अवध में आपकी आराधना की जाती है–"त्वं साक्षाच्चारुशीला च नित्या मध्ये प्रपूजिता"अतः प्रमोदवनविहारिणी विहारी की माधुर्य-लीला आपके श्रीमुख से श्रवण करना चाहते हैं।

श्री हनुमान् जी ने कहा—'ब्रह्मर्षे ! आपने साधु प्रश्न किया है, अत्यन्त गोपनीय रहस्य आपकी प्रीति के कारण हम वर्णन करते हैं। भगवान् के दिव्यधाम ऐश्वर्य का वर्णन पूर्व ही मैंने किया। आज आपको प्रेमामृत महोत्सव सुनाते हैं—'अद्य ते कथयिष्यामि प्रेमामृत-महोत्सवम्'। रसिक सन्तों का यही जीवन है। अनधिकारी को यह गोपनीय रहस्य नहीं सुनाना चाहिये।

अवधनरेन्द्रनन्दन क्रीडारसरसिक राजीवलोचन श्रीराम ने जनकनरेन्द्रनन्दिनी श्रीजानकी जी से कहा—'श्री सरयू तट चलें, मेरे मन में अत्यन्त त्वरा है।' ऐसा कहकर श्री प्रियाजी के करकमल को पकड़ कर श्रीरघुनन्दन चल पड़े। युगलकिशोर के मनोभाव को जानकर रूप-यौवनशालिनी, सर्वाभरणभूषिता, सुस्मिता, प्रेमपूरिता, सर्वविद्याविशारदा नानावादिलकुशला, श्रीरामचित्तापहारिका सखियाँ उनके साथ चल पड़ीं। इन सखियों के अंशांश से अनेक ईश्वरियाँ उत्पन्न होती हैं—'यासां कलाकलांशेन जाता नार्यः श्रियादयः'। ये सभी श्रीमिथिलेशराज किशोरी जी की परिचारिकाएँ हैं जिनकी संख्या अनन्त है। उन सखियों के मध्य में दिव्यदम्पती वनविहार करने लगे। युगलपादपद्म के सौरभ से भ्रमर समीप में आकर मँडराने लगे। नखचन्द्रच्छटा को देखकर चकोर परिभ्रमण करने लगा। सुन्दर गति (चाल) को देखकर हंस और कुंजर लज्जित हैं। नव लावण्य को देखकर रति-मन्मथ मूर्छित हैं। इस प्रकार युगल किशोर सखियों से वेष्टित प्रमोदवन के विविध कुञ्ज-निकुञ्जों में भ्रमण करते हुए दिव्य आसन पर आसीन हो गए। सखियों ने गन्धमाल्य, वरान्न-पान भोगों से युगलकिशोर की सेवा की, तथा वे नृत्य करने लगीं।

द्वितीय अध्याय में श्रीप्रमोदवन-विहारी–विहारीजी नागकेसरवन में विहार कर अशोकवन में पधारे। वहाँ श्रीयुगलकिशोर की वन लीला का मधुर वर्णन है। तृतीय अध्याय में श्री सरयूपुलिन-विहार, विहारी जी का सरयूतट स्थित अशोकवनिका विहार का वर्णन है। श्रीसरयू जी की महिमा एवं उनकी शोभा का विस्तृत वर्णन है। श्री सरयू तट पर मणिमयी भूमि है। वहीं दिव्य अशोक वाटिका है, जहाँ के सभी वृक्ष, लता, पुष्प दिव्य हैं। वह वाटिका ब्रह्मज्योति से आवृत है, रसिक ज्योति का भेदन कर उस वाटिका में प्रवेश कर सकते हैं। 'तज्ज्योतिर्भेदने शक्ता रसिका रसभेदिनः'।

सन्तानकतरु की छाया में दिव्यमण्डपमण्डित चिन्तामणि महापीठ में दिव्यदम्पती विराजमान हैं। श्री रघुनन्दन ने रासविहार की इच्छा प्रकट की। इतने में ही रासेश्वरी श्री मिथिलेश राजकिशोरी जी ने प्रियतम के मनोभाव को जानकर अपने श्रीअंग से १८१०८ सखियों को प्रकट किया। जो सभी दिव्य-रूप-लावण्य गुणों से मण्डिता थीं। किसी के श्रीविग्रह से कमल के सौरभ निःसृत हो रहे हैं। प्रियतम प्रभु ने भी अपने दिव्य श्रीविग्रह से अपने समान ही किरीट कुण्डलादिमण्डित श्यामल-स्मित कमनीय किशोरों को प्रकट किया।

चतुर्थ अध्याय में श्रीसीताराम जी के महारास का विशद वर्णन है। पंचम अध्याय में श्री सरयू में युगलकिशोर की जलविहार लीला का वर्णन है। तत्पश्चात् श्री चन्द्रकला, श्री चन्द्रानना आदि षोडशसखियों द्वारा विविध सेवाओं का वर्णन है तथा हिण्डोलकुंज में हिण्डोल-लीला का तथा डोल-कुंज में होलीलीला का वर्णन किया गया है। भोजन-कुंड में भोग स्वीकार कर युगलकिशोर शयनकुंज में पधारे। इस प्रकार युगलकिशोर की अष्टयाम-लीला का भी इस ग्रन्थ में संक्षिप्त वर्णन है। श्री हनुमान् जी महर्षि अगस्त्य जी से कहते हैं—श्री सीताराम जी के शयनकुंज महापुरुषों के ध्येय हैं। चिन्तामणि को विमोहित करने वाली वहाँ की भूमि में रत्न-जटित निर्मलपीठ है। वह देश वाणी से परे है केवल गुरुकृपा से उसका ज्ञान सम्भव है। प्रणव तथा बीज के सहित सभी मन्त्रों से वह पीठ वेष्टित है। उस पर युगलकिशोर विराजमान हैं। लक्ष्मण, चारुशीला, भद्रा, मानवती आदि अन्तरंग सखियाँ परमानन्द में निमग्न–कोई छत्र, कोई मोछल, कोई ताम्बूल, कोई चामर, कोई दर्पण आदि सेवा-सामग्रियाँ लिए सुशोभित हैं। श्री अयोध्या तथा श्रीसरयू भी दिव्य-परिकर रूप धारण कर वीणा आदि यन्त्र लिए युगलकिशोर की सेवा में विराजमान हैं। श्री हनुमान् जी कहते हैं—न वहाँ चन्द्र की गति है, न सूर्य की। कोटि-कोटि सूर्य-चन्द्र की प्रभा से भी विलक्षण श्रीसीताराम जी का प्रकाश वहाँ विद्यमान है। सप्तपुरी शिरोमणि-भूता श्री अयोध्या वास्तव में ध्यान करने योग्य है। जहाँ सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् श्री राघवेन्द्र आह्लादिनी शक्ति श्रीजानकीजी के साथ निरन्तर रमण करते रहते हैं।

तुरीया जानकी प्रोक्ता तुरीयो रघुनन्दनः।
उभयोरंशजाः सर्वे चावतारा ह्यसंख्यकाः।
सर्वेषामवताराणामवतारी रघूत्तमः।
श्रुतं दृष्टं मया सर्वं चिराय जीवनान्मुने !

श्री हनुमान् जी कहते हैं—श्री सीताराम जी सदा तुरीयावस्था में विराजमान रहते हैं। उनसे असंख्य अवतार उत्पन्न होते हैं। सभी अवतारों के अवतारी श्री रघुनन्दन हैं। चिरजीवी होने के कारण मैंने शास्त्रों से भी इस प्रकार जानकारी प्राप्त की है तथा इस रहस्य को अपने नेत्रों से भी देखा है।

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्याः सन्त्यन्ये चिरजीविनः।
सर्वेऽपि विभवासक्ता यतोऽहं विभवात्परः॥

माधुर्ये च वयस्याहमैश्वर्ये हनुमान्कपिः ।
किंचित्तेनैव जानामि रहस्यं रामसीतयोः ॥
अस्माद्रासादादिभूतान्नानारासो भविष्यति ।
ज्ञात्वैवं रसिकाः सर्वे रमन्ते कथयन्ति च ॥

ब्रह्मादि देवता भी चिरजीवी हैं, किन्तु अपने-अपने वैभव में सभी आसक्त हैं। मैं विभव से परे हूँ, अतः इस रहस्य को जान सका हूँ। माधुर्य में मैं श्रीसीताराम जी की सखा हूँ ऐश्वर्य में मैं कपि हनुमान् हूँ। इसीलिये श्रीसीतारामजी के कुछ रहस्यों को यत्किंचित् मैं जानता हूँ। इस आदि रास से अनेक रास प्रकट होंगे ऐसा जानकर रसिक भक्तजन इस रास का वर्णन करते हुए रमण करेंगे। श्रीसीतापति का यह आदि रास मोक्ष को तुच्छ करने वाला है—'कैवल्यदौर्बल्यकरं महारसम् । इदं रहस्यं परमं सुगोपनम्'—यह रहस्य अत्यन्त गोपनीय है। जो श्रद्धापूर्वक इसका पाठमात्र कर लेते हैं वे भगवद्धाम को प्राप्त कर लेते हैं। इस परम मधुर रहस्य का स्मरण कर श्री अगस्त्य जी प्रेमामृतसिन्धु में डूब गये। प्रेमावेश के कारण मार्ग में चलते समय उनके चरण शिथिल हो रहे हैं। अपने हृदय में श्रीसीताराम जी का ध्यान करते हुए वे विलम्ब से आश्रम पधारे।

इस प्रकार हनुमत्संहिता में श्रीसीताराम जी के गोपनीय रहस्यों का सम्यक् विवेचन किया गया है।

शिवसंहितान्तर्गत श्रीरामार्चन पूजन पद्धति का विशद विवेचन है। २१ कोष्ठ के यंत्र में चार आवरणों में पूजन का विधान है। इस रामार्चन पूजन का देश के कोने-कोने में पर्याप्त प्रचार है। साधकों में प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिये इसका अनुष्ठान प्रचलित है। सन्तजन कष्टग्रस्त भक्तों के कष्टनिवारणार्थ रामार्चन करने का आदेश प्रदान करते हैं। लोमशसंहिता में श्रीसीताराम-रहस्य का विशद विवेचन है। युगलरस की प्राप्ति के लिये सर्वोशिरोमणि श्री चन्द्रकला जी की जन्म-लीला एवं उनके द्वारा श्रीसीताराम रहस्य का वर्णन किया है। श्री वृन्दावन की उपासना में जिस प्रकार श्री ललिता जी मुख्य हैं उसी प्रकार श्रीसीतारामोपासना में सहचरियों में श्री चन्द्रकला जी का प्रमुख स्थान है। श्री प्रिया-प्रियतम को इनकी सहायता की अपेक्षा रहती है। श्रीराघवेन्द्रसहित समस्त प्रमोदक को ही श्री अयोध्या जी से श्री मिथिला जी में पहुँचाकर इन्होंने श्री रघुनन्दन को आश्चर्य चकित कर दिया। अनेक गोपनीय रहस्यों का इस संहिता में उद्घाटन किया गया है। अन्त में श्री चन्द्रकला जी के व्रत एवं पूजन विधि का वर्णन है। इस प्रकार समस्त वैष्णवागम में भगवन्नाम, रूप, लीला, धाम के रहस्यों का विस्तृत वर्णन है। रसिकाचार्य श्रीअग्रस्वामी, श्रीमधुराचार्य जी, श्रीकरुणासिन्धु जी, स्वामी हरदास जी, स्वामी श्री कृपानिवास जी, श्री रसिक अली जी, स्वामी युगलप्रिया जी, स्वामी युगलानन्यशरण जी, स्वामी श्री जानकीवरशरण जी, स्वामी श्री काष्ठजिह्वा जी प्रभृति पूर्वाचार्यों के संस्कृत एवं हिन्दी ग्रन्थों में आगम ग्रन्थों की विशद व्याख्या उपलब्ध है। यदि इन पूर्वाचार्यों को आगमग्रन्थों का भाष्यकार कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी।

श्रीसीतारामोपासना के विशेष जिज्ञासुओं को इन मूलग्रन्थों का स्वाध्याय कर विशेषरहस्यों का रसास्वादन करना चाहिए।

अहमर्थः

• आचार्य श्रीरामेश्वर झा •

पं० श्री रामेश्वर जी झा काशी ही नहीं संपूर्ण भारत और विश्व के प्रतिष्ठित शैवशास्त्रवेत्ता विद्वान् हैं। संस्कृत की प्राचीन शिक्षापद्धति से व्याकरण, न्याय तथा वेदान्त के निष्णात आचार्य पं० रामेश्वर जी झा बिहार के मधुबनी क्षेत्र के पटसा-ग्राम के निवासी हैं। वहाँ संपन्न घर के गृहस्थ और विद्वान् पं० रामेश्वर जी झा अभी भी नित्यानन्द संस्कृत महाविद्यालय स्वयं के व्यय से चलाते हैं। प्रायः आप रहते काशी में ही हैं किन्तु आवश्यकता पड़ने पर आप इस विद्यालय में स्वयं भी अध्यापन कार्य करते हैं। आपके विद्यालय के मध्यमाकक्षा के छात्र भी श्लोक रचना करते और संस्कृतशास्त्रों के उत्तम वेत्ता होते हैं। आपकी अपनी स्वतन्त्र पद्धति है संस्कृत अध्यापन में।

स्वभाव से विरक्त पं० रामेश्वर जी झा गत २५ वर्षों से शैवशास्त्र के अध्ययन और अनुशीलन में निरत हैं। आपने इस शास्त्र के तत्त्वों को सुलझा लिया है और ग्रन्थों के जटिलतम विषयों को आपने उनकी समस्त सूक्ष्मताओं में समझ लिया है। इस अधिकार के कारण आपको शैवपीठ के मुख्य स्थान श्रीनगर भी बुलाया जाता है। वहाँ के राजानक श्री लक्ष्मण जी ब्रह्मचारी हैं, इन दिनों मुख्य अधिकारी आचार्य। आपको पं० रामेश्वर जी गुरु रूप में प्रणाम करते हैं। प्रस्तुत पद्यों में भी आपने उन्हें आरंभ में ही प्रणाम किया है।

आचार्य रामेश्वर जी झा ने अपनी डायरियों में हजारों श्लोक बनाकर लिख रखे हैं। इनमें से १११ पद्य यहाँ दिए जा रहे हैं। इनमें निहित अनुभूति और मानवीय मानस की उच्चता शान्तरस से परिपूर्ण है। आज इस प्रकार की मानसिक शिक्षा संपूर्ण विश्व को अपेक्षित है। निश्चित ही इन पद्यों के प्रसार से जनमानस स्वस्थ होगा और उसमें आत्मविश्वास जगेगा।

पं० रामेश्वर जी झा ने पूर्णताप्रत्यभिज्ञा नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी संस्कृत श्लोकों में लिखा है। यह १९६१ में प्रकाशित हो चुका है। यह रचना पिछले अनेक शतकों की सर्वाधिक महत्त्व की रचना है।

आचार्य झा जी तन्त्र के प्रयोगपक्ष और योग के व्यवहारपक्ष के भी वेत्ता हैं। आपकी वाणी सिद्ध है और आप में अनेक बार भविष्य-दर्शन की शक्ति देखी गई है। प्रणव के जप में सिद्ध पं० रामेश्वर जी झा ने अपना दमा योगाभ्यास से ही दूर कर लिया है। —संपादक

श्रीपूर्णपीठे निहितोऽस्मि येन शिवावतारेण सुदेशिकेन ।
साक्षाच्छिवं तं सततं नमामि श्रीलक्ष्मणाख्यं पशुतापहारम् ॥१॥

पूर्ण श्रीपीठ पर मुझे जिन्होंने आसीन किया ऐसे शिवावतार, उत्तम गुरु, साक्षात् शिव तथा पशुता और पशु-ताप के अपहर्ता श्रीयुत लक्ष्मण-नामक गुरुजी को मेरे अविरत प्रणाम ॥१॥

नृत्यद्भिर्भवभूमिकाभिरनिशं रङ्गेऽत्र भूतैः सह
कालोऽयं दुरतिक्रमोऽस्ति निखिलैः सिद्धैः सुरैर्योगिभिः ।
यः कालं कलनामयं स्वजनितं जानाति कालाधिपः
कालातीतवपुर्विभुर्विजयते रामेश्वरो योगिराट् ॥२॥

सांसारिक भूमिकाओं में भूतों के साथ निरन्तर इस विश्वरूपी रंगमंच पर नृत्य कर रहे सभी सिद्धों, सभी देवों और सभी योगियों द्वारा काल का अतिक्रमण कठिन है। हाँ, योगिराज रामेश्वर इन सबसे परे हैं क्योंकि वे काल के स्वामी हैं, उनका अपना स्वरूप काल से परे है और वे जानते हैं कि यह कलना-मय काल उन्हीं से उत्पन्न हुआ है ॥२॥

अरूपं यस्य वै रूपं सर्वरूपतया स्थितम् ।
अगाधं तमहं वन्दे शिवं स्वं निर्विकल्पकम् ॥३॥

मैं अगाध और निर्विकल्प शिव-रूप स्वात्मा को प्रणाम करता हूँ जिसका अरूप रूप सर्वरूपता के साथ अवस्थित है ॥३॥

अलक्ष्यं व्यापकं नित्यं स्वप्रकाशमयं शिवम् ।
स्वरूपं सर्वदा सिद्धमगाधं चाविकल्पितम् ॥४॥
अस्ति,
तत्र न कर्तव्यमस्ति किंचन साम्प्रतम् ।
सर्वशक्तिमयस्तस्माद् यथेच्छसि तथा कुरु ॥५॥

अपना रूप सदा ही अलक्ष्य, व्यापक, नित्य, स्वप्रकाश, शिव, सिद्ध, अगाध और विकल्परहित है। उसमें नया कुछ भी करणीय नहीं है। इसलिए हे जीव तू सर्वशक्तिमय है। जैसा चाहे वैसा कर ॥४–५॥

नित्यं सुखं निरुपमं विषयानपेक्षं स्वानन्दसिन्धुसहजोल्लसितं निरस्य ।
तुच्छं चलं विषयजं बहुधाऽनुभूतं चेतः सखेऽनुभवितुं कथमिच्छसि त्वम् ॥६॥

आत्मारूपी आनन्दसिन्धु से सहज रूप से उल्लसित विषयनिरपेक्ष निरुपम और नित्य सुख को छोड़कर अनेक बार अनुभूत, तुच्छ, क्षणिक और विषयों से उत्पन्न सुख को, प्रिय चित्त तू क्यों अनुभव करना चाहता है ॥६॥

नान्तर्बहिर्धावं, न तत्र किंचित् त्वं धावकः स्वच्छतमः स्वतन्त्रः ।
नित्योऽसि सिद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि ग्राह्यत्वमायासि न पूर्णरूपः ॥७॥

तू न भीतर दौड़ और न बाहर। न भीतर कुछ है और न बाहर। सत्य यह है कि दौड़ने वाला तू स्वयं स्वच्छतम, स्वतन्त्र,नित्य, सिद्ध और निरंजन है। तुझे जाना नहीं जा सकता, क्योंकि तू पूर्ण है। भला पूर्ण को भी कोई जान सकता है ॥७॥

विविधानि विचित्राणि रूपाण्येकस्य मे विभोः ।
दृश्यन्तेऽप्यनुभूयन्ते मयैकेन विपश्चिता ॥८॥

मैं विभु और एक हूँ। मेरे ही विविध और विचित्र रूप दिखाई पड़ रहे हैं और अनुभव में आ रहे हैं। इनका द्रष्टा और अनुभविता विद्वान् भी अकेला मैं ही हूँ ॥८॥

अस्म्यहं सततं सिद्धः किन्तु बोध्यतया न हि ।
अस्मि बोधकरूपेण चित्रं विश्वं विभासयन् ॥९॥

मैं सदा सिद्ध हूँ किन्तु बोध्यरूप में नहीं अपितु बोधकरूप में—'इस विश्वरूपी चित्र को भासित करते हुए' ॥९॥

अभिज्ञातस्वरूपोऽपि योऽप्रमत्तो न जायते ।
सोऽवश्यं सुखदुःखाभ्यां पीड्यते पशुवत् सदा ॥१०॥

स्वरूप की पहचान हो जाने पर भी जो अप्रमत्त नहीं होता वह अवश्य ही पशु के समान सुख और दुःख के द्वन्द्व की पीड़ा पाता है ॥१०॥

ततोऽभिज्ञाय सततं शिवात्मानमनुस्मरेत् ।
अनुसन्धानसंलग्नो योगी भोगी च मुक्तिभाक् ॥११॥

इसलिए अभिज्ञान हो जाने पर सदा अपने शिव-रूप आत्मा का स्मरण करते रहना चाहिए। जो आत्मा के उक्त स्वरूप का ध्यान सतत करता रहता है वह योगी हो या भोगी, सदा ही मुक्त रहा आता है ॥११॥

एकत्रांगेऽस्मि चिद्रूपः परत्रानन्दसंयुतः ।
पराहंवचसा नित्यं भासमानोऽस्मि सुस्थिरः ॥१२॥

मैं एक अंग में चिद् हूँ और दूसरे में आनन्द। अहमात्मक परा वाणी से सदा भासमान मैं सुस्थिर हूँ ॥१२॥

स्वरूपावगतिर्मुक्तिर्मुक्तिरन्या न काचन ।
सति देहे यथा बन्धस्तथा मुक्तिरपीष्यताम् ॥१३॥

मुक्ति है स्वरूप-ज्ञान। और कुछ मुक्ति नहीं है। परंतु देह रहते यह सोचना चाहिए कि जैसा बन्ध वैसी ही मुक्ति ॥१३॥

स्वप्रकाशमयी यस्य स्वावभासनतत्परा ।
देश-कालाद्यविच्छिन्नशक्तिरस्त्यहमात्मिका ॥१४॥

शक्ति भी एक तत्त्व है जो देश से अवच्छिन्न है न काल आदि से। उसका स्वरूप है अहम्। वह स्वप्रकाशा है और स्वतत्त्व का अवभासन करती रहती है ॥१४॥

अलक्ष्यात्मा स एवास्मि शिवोऽहं परमाद्वयः ।
अगाधश्चाविकल्पश्च समाधौ शान्तिनिर्भरः ॥१५॥

मेरा स्वरूप अलक्ष्य है। मैं वही हूँ। शिव हूँ। परम अद्वय हूँ। अगाध हूँ। अविकल्प हूँ। समाधि में सदा शान्ति से परिपूर्ण हूँ ॥१५॥

अमितोऽस्म्यविलक्ष्योऽस्मि नीरूपोऽस्म्यस्मि सर्वभूः ।
प्रकाशमान एवास्मि नो प्रकाशे पुनः पुनः ॥१६॥

मैं अमित हूँ, अलक्ष्य हूँ, नीरूप हूँ, सर्वविधाता हूँ। सदा प्रकाशमान मैं रुक रुक कर प्रकाशित नहीं होता ॥१६॥

विकसन्नेव सततमगाधे नित्य-सच्छिवे ।
अनाद्यनन्तरूपोऽस्मि प्रत्यभिज्ञातरूपकः ॥१७॥

मैंने अपना अनादि और अनन्त रूप जान लिया है अतः अगाध सत् शिव में सदा खिला रहता हूँ ॥१७॥

नेदानीं भासते किंचिद् विश्वं क्वापि कथंचन ।
अद्वितीयश्चिदात्माहं भासे पूर्णत्वमागतः ॥१८॥

अब कोई भी विश्व कहीं भी किसी भी प्रकार से भासित हो ही नहीं रहा। अद्वितीय चिदात्मा में ही पूर्णता को प्राप्त होकर भासित हो रहा हूँ ॥१८॥

विमर्शजनिता भान्ति दशा बह्व्यो मुहुर्मुहुः ।
एषा तु परमावस्था योगिगम्या निराश्रया ॥१९॥

बार बार जो अनेक प्रकार की दशाएँ भासित होती हैं वे तो विमर्श-जनित हैं। परम अवस्था तो यह है जो योगिगम्य और निराश्रय है ॥१९॥

नात्र कालो न देशो दिङ् नाकाशो न नेश्वरः ।
भात्येका तु परा शक्तिः सर्वभानावरोधिका ॥२०॥

इसमें न काल है न देश, न दिक्, न आकाश और न ईश्वर। परा शक्ति तो एक है। सभी भानों को दूर कर वही अकेली भासित होती रहती है ॥२०॥

स्वप्रकाशात्मिका नित्यं स्वावभासनतत्परा ।
अकृत्रिमा-निरुद्धा च शक्तिर्मेऽस्त्यहमात्मिका ॥२१॥

मेरी अहमात्मिका शक्ति स्वप्रकाशा, स्वात्मा का सदा प्रकाश करने वाली, अकृत्रिम और अनिरुद्धा है ॥२१॥

तया विभासितो भामि व्यापकोऽलक्ष्य एव तु ।
देशकालाद्यसंस्पृष्टश्चिद्घनानन्दसागरः ॥२२॥

वह शक्ति मुझे भासित करती है और मैं उससे भासित होता रहता हूँ, परंतु हूँ मैं व्यापक और अलक्ष्य। मैं देश काल आदि से असंस्पृष्ट चिद्घन और आनन्दसागर हूँ ॥२२॥

अपि देहादिसंसर्गभानवर्जितभास्वरः ।
विकल्परहितोऽगाधो भामि भानविवर्जितः ॥२३॥

मैं देह आदि के संसर्ग के भान से रहित होकर भास्वर हूँ। विकल्परहित हूँ अगाध हूँ। भासमान होता हुआ भी भान-रहित हूँ ॥२३॥

स्पन्दः शब्दोऽनुभूतिश्च परिच्छित्तिर्मितात्मनः ।
अभिज्ञातस्वरूपस्य मितं नास्त्यमितात्मनः ॥२४॥

स्पन्द शब्द और अनुभूति की सीमाएँ तो मितात्माओं के लिए हैं। जिसने अपना स्वरूप पँहचान लिया ऐसे अमितात्मा के लिए कोई सीमा या माया नहीं ॥२४॥

प्रतीतं निखिलं भाति स्वस्मात् स्वस्मिन्निवोद्गतम् ।
अभिज्ञातुर्न वै भिन्नं भाति किंचिद् विभासितम् ॥२५॥

जो कुछ भासित हो रहा है वह आत्मा के भीतर आत्मा से ही उत्पन्न होकर भासित हो रहा है। विभासित हो रहा सब कुछ अभिज्ञाता से अलग नहीं ॥२५॥

पूर्णोऽसि व्यापकोऽसि त्वं संकोचं मा गृहाण भोः ।
त्वयि प्रोतमिदं विश्वं नाधारस्तेऽस्ति कश्चन ॥२६॥

तू पूर्ण और विभु है। संकोच मत कर। यह विश्व तुझ में ही प्रोत है। तेरा कोई आधार नहीं ॥२६॥

कुत्र नासि कदा नासि भाति किं वा त्वया विना ।
स्थितमेव नमस्यामि सा मे पूजा परा भवेत् ॥२७॥

तू कहाँ नहीं है। किस समय नहीं है। ऐसा क्या है जो तेरे बिना भासित हो रहा है। स्थित को ही नमस्कार करता हूँ। वही मेरी परा पूजा है ॥२७॥

अन्विष्यमाणस्त्वमणौ न दृष्टो महत्स्वरूपेऽपि च नैव लब्धः ।
श्रान्त्याऽत्मनि तु स्थितिमागतेन तत्रापि चात्मानि समस्त लब्धः ॥२८॥

जब खोजा तब न तो तुझे अणु में पाया और न महत् में। थककर जब अपने आप में लौटा तो वहाँ भी पा लिया और यहाँ भी ॥२८॥

स्वानन्दनिर्भरवपुः परितोऽप्यगाधः स्वस्मिन् स्वतो गगनचुम्बितरंगशीलः ।
काङ्क्षाविहीन-गति-शून्य-समेधि-रूपःकोयं जनैरविदितो जनतापहर्ता॥२९॥

समस्त जन का तापहारी किन्तु उनसे अविदित यह कौन है जो इच्छारहित और गतिशून्य होते हुए भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है। जो आत्मानन्द में सराबोर है। चहुँओर से अगाध है तथा अपने में स्वयं ही जिसकी तरंगें आकाश को छू रहीं हैं ॥२९॥

स्वच्छः स्वतन्त्रः शिव एक एव यो मत्स्वरूपोऽस्त्यहमस्मि यश्च ।
सोऽहं सदा तन्मयतामुपेतो मुक्तोऽस्मि, माया वशवर्तिनी मे ॥३०॥

शिव स्वच्छ, स्वतन्त्र और एक है। वह मत्स्वरूप है और मैं तत्स्वरूप हूँ। इस प्रकार मैं सदा तन्मय और मुक्त हूँ। माया तो मेरी चेटी है ॥३०॥

शिवोऽद्वितीयोऽस्मि जगन्मयोऽस्मि विभाति नित्यं मयि सर्वदेदम् ।
देहात्मकोऽप्यस्मि शिवात्मकोऽहमेकोत्प्यनेकोऽपि सदा विभामि ॥३१॥

मैं अद्वितीय शिव भी हूँ और संसार भी हूँ। यह सब कुछ मुझ में ही भासित हो रहा है। मैं देहात्मक भी हूँ और शिवात्मक भी। इसी प्रकार एक भी हूँ और सदैव अनेक रूप से भी विभासित हो रहा हूँ ॥३१॥

मिथ्यैव कथ्यते कैश्चिन्मद्भिन्नस्त्वमसीति वाक् ।
त्वद्भिन्नः कः प्रकाशेत त्वमेको हि प्रकाशसे ॥३२॥

यह जो कहा जाता है कि तुम मुझसे भिन्न हो यह झूठ है। तुमसे भिन्न होकर कौन प्रकाशित हो सकता है। प्रकाशित तो एकमात्र तुम ही होते हो॥ इस प्रकार यदि मैं प्रकाशित हो रहा हूँ तो तुमसे भिन्न नहीं हूँ ॥३२॥

प्रकाशतमसी भातो मत्प्रकाश-प्रकाशिते ।
तत्रैव भुवने भाति प्रकाशेऽहं त्वलक्षितः ॥३३॥

प्रकाश और तम मेरे ही प्रकाश से प्रकाशित होकर भासित हो रहे हैं। उन्हीं दोनों में यह विश्व भासित हो रहा है। मैं भी प्रकाशित होता हूँ किन्तु अलक्षित होकर ॥३३॥

य ईश्वरः सर्वगतः समश्च ज्ञान-क्रिया-शक्ति-समन्वितोऽस्ति ।
ततो विभिन्नं न हि किंचिदस्तीत्यहं स एवास्मि भवांश्च सोऽस्ति ॥३४॥

जो ईश्वर सर्वगत होकर ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति से युक्त है उससे भिन्न कुछ नहीं है। अतः मैं भी वही हूँ और आप भी वही हैं ॥३४॥

उपासतेऽपि ये चान्यं देवं यं कंचनापि तु ।
स देवोऽप्यहमेवास्ति न चेद् देवो जडो भवेत् ॥३५॥

जो लोग अन्य किसी देवता की भी उपासना करते हैं वह भी मेरा रूप है। नहीं तो वह जड़ सिद्ध होगा ॥३५॥

विभास्य विश्वं वियदादि चित्रं विभामि यस्तत्र मितस्वरूपः ।
अनेक एकोऽपि शरीरभेदात् स्थितो विदंस्तं स्वमहं भजामि ॥३६॥

विश्व के आकाश आदि समस्त चित्रों को विभासित कर मैं स्वयं मित-रूप से भासित होता हूँ। एक होते हुए भी शरीर भेद से मैं अनेक हूँ। तत्तत्व का बोध रखते हुए मैं अपनी आत्मा के भजन में लीन हूँ ॥३६॥

शून्यादिसर्वात्मतया विभातोऽप्यस्म्येव शून्यादिविभिन्नरूपः ।
नित्यः स्थिरः सर्वगतोऽप्यसर्वः पूर्णो ह्यलक्ष्योऽहमिहैव मुक्तः॥३७॥

शून्य आदि जो कुछ है उस सबके रूप में भासित मैं शून्य आदि से भिन्न भी हूँ। मैं नित्य भी हूँ और स्थिर भी। सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी मैं कुछ नहीं हूँ। पूर्ण और अलक्ष्य मैं यहीं मुक्त हूँ ॥३७॥

यस्मान्निवर्तते प्राणो यस्मादेव प्रवर्तते ।
सोऽहमस्मि सदा सिद्धो भावाभावावभासकः ॥३८॥

प्राण जिससे लौटते और जिससे आते हैं वह मैं सदैव सिद्ध हूँ और भाव तथा अभाव दोनों का भासक हूँ।

अगाधे त्वयि यो लब्धस्तादात्म्यं सच्चिदात्मनि ।
कथं स म्रियते धीरो नामरूप——परिच्युतः ॥३९॥

सच्चिदात्मा अगाध आपमें जो तादात्म्य को प्राप्त हो गया, नाम और रूप से मुक्त वह धीर कैसे मर सकता है। ३९॥

तव स्वभावोऽस्ति मम स्वभावस्तव क्रियाप्यस्ति मम क्रियैव ।
तव स्थितिर्नाथमम स्थितिश्च मम स्थितिर्वास्तु तव स्थितिर्वा ॥४०॥

आपका स्वभाव मेरा स्वभाव है और मेरा स्वभाव आपका। आपकी क्रिया भी मेरी क्रिया है। स्वामिन्, आपकी स्थिति भी मेरी ही स्थिति है। अब आप रहें या मैं ॥४१॥

प्रत्यक्षमेवास्ति भवद्विभूतिः सर्वेन्द्रियैर्भासित-सर्व-रूपा ।
अलक्ष्यरूपोऽस्ति भवान् मदात्मा विभक्तरूपोऽप्यविभक्त एव ॥४१॥

आपकी विभूति सभी इन्द्रियों से समग्र रूप से प्रत्यक्ष ही भासित हो रही है। अलक्ष्यस्वरूप वाले आप मुझ से अभिन्न और आपका स्वरूप भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही है ॥४२॥

अस्ति यत् तत् सदैवास्ति यद् भवेत् तत् तु कालगम् ।
अनित्यं कालगं वेद्मि वेत्ता नित्योऽस्मि सर्वकृत् ॥४२॥

जो है वह सदा से है। जो होने वाला है वह काल के गर्भ में होगा। जो काल के गर्भ में होगा वह होगा अनित्य। इस सबको मैं जानता हूँ। नित्य वेत्ता मैं ही इस सबका निर्माण करता और इस सबको काटता रहता हूँ ॥४२॥

अहो महच्चित्रमिदं चरित्रं धन्यस्य कस्यापि सुयोगिनः खलु ।
वसंश्च कुत्रापि मिते शरीरे बिभर्मि विश्वं यदिदं समस्तम् ॥४३॥

मैं जो कोई सुन्दर और धन्य योगी हूँ इसका यह बड़ा ही विचित्र है चरित्र कि रहता तो हूँ किसी परिमित शरीर में परंतु धारण किए रहता हूँ इस संपूर्ण विश्व को ॥४३॥

तूर्णं विनाशिनि विहाय वपुष्यहन्तां नित्ये निसर्गसुलभे कुरु तामनन्ते ।
स्वेच्छावशोन्मिषितदृष्टिबलेन दृश्ये स्वातन्त्र्यशक्तिसहिते कुरु मा विलम्बम् ॥४४॥

तुरन्त विनाशशील शरीर को 'मैं' न समझकर स्वभाव से सुलभ और नित्य अनन्त को 'मैं' समझो। इस अनन्त के दर्शन होते हैं उसकी अपनी इच्छा से उन्मिषित दृष्टि की शक्ति से। वह स्वातन्त्र्यशक्ति से युक्त जो ठहरा। इस कार्य में देरी मत कर ॥४४॥

वाचं निरस्य,भज शान्तिमनन्यरूपे स्वस्मिन् स्वभावविमले परमात्मरूपे।
धावन्तमेव ततः एव सदैव पश्य स्पन्दं स्वभावविमलं निज-भान-भूतम् ॥४५॥

मौन धारण कर। और तब परमात्मरूप आत्मा में पहुँचकर शान्ति प्राप्त कर। आत्मा अन्यरूप नहीं है। वह स्वभाव से विमल है ।४५॥

भवितव्यमथ ग्राह्यं कर्तव्यं यस्य शिष्यते ।
नो ज्ञातस्तेन मूढेन नित्यः स्वात्मा शिवो विभुः ॥४६॥

जिसके लिए भवितव्य, ग्राह्य और कर्तव्य शेष है उस मूढ़ ने नित्य, विभु और शिव स्वात्मा को जाना नहीं ॥४६॥

ज्ञातो येन शिवः सद्यः स्थितः स्वात्मतया विभुः ।
नित्यो नित्यं स आस्ते हि शिवाभिन्नवपुः स्वराट् ॥४७॥

जिसने जितनी जल्दी शिव को विभु और स्वात्मरूप से अवस्थित जान लिया स्वयं नित्य वह नित्य ही स्वप्रकाश और शिव से अभिन्न रहता है ॥४७॥

कुर्वन्नकर्तृतामेति नाकुर्वन् याति कर्तृताम् ।
नो हृष्यति न च द्वेष्टि पश्यन् स्वात्मानमद्वयम् ॥४८॥

जब व्यक्ति अपनी आत्मा को अद्वय रूप से देखने लगता है तब वह करता हुआ भी अकर्ता बना रहता है और अकर्ता रहते हुए भी बना रहता है कर्ता। तब वह न हर्ष में पड़ता और न विषाद में ॥४८॥

क्रीडन् करोत्यकुर्वाणो हृष्टः कामविनिर्गतः ।
तृप्तो गृह्णाति भुङ्क्ते च तुष्ट्यतुष्टिवहिःस्थितः ॥४९॥

कुछ भी न करते हुए खेल के रूप में वह सब कुछ करता जाता है जो निष्काम होता है और इसीलिए सदा प्रसन्न रहता है। वह सदैव तृप्त रहता है और ग्रहण और भोग दोनों करता रहता है परंतु सृष्टि और असृष्टि दोनों से परे रहते हुए ।४९॥

विश्वात्मा प्रविभागशून्यहृदयो दिग्देशकालेष्वपि
भ्राम्यन्नेव सदा स्थिरोऽस्ति सहजानन्दाम्बुधिश्चिद्वपुः ।
नोपेत्येव मितात्मतां स्वविभवैर्देहैश्च दृश्यैरपि
स्वच्छः सर्वमयः स्वभावनिरतः शान्तः स्वतन्त्रः स्वराट् ॥५०॥

उस विश्वात्मा का हृदय प्रविभाग से रहित है। वह दिग्देशकाल में सदा ही घूमता रहता है। किन्तु सदा स्थिर रहता है। वह सहज आनन्द का सागर और चैतन्यरूप जो ठहरा। देह और दृश्य उसकी अपनी विभूतियाँ हैं किन्तु कभी भी वह इनसे परिमित नहीं होता। वह स्वच्छ, सर्वमय, अपने आपमें लीन, शान्त स्वतन्त्र और स्वप्रकाश है। ॥५०॥

नित्यमीशेन तादात्म्यं जानन्नीशं भजन्नपि ।
देहवानिव संसारे वसन् योगी शिवायते ॥५१॥

ईश्वर के साथ नित्य तादात्म्य का बोध लिए और ईश्वर का भजन करते हुए भी योगी मानों देहवान् सा होकर संसार में रहता है किन्तु रहता है वह शिवमय ही ॥५१॥

सुखानुभवतः पूर्वं दुःखानुभवतः पुरा ।
विनाशेऽप्येनयोर्भामि भानरूपः सदा स्थितः ॥५२॥

सुख-दुःख के अनुभव के पहले और इनके नष्ट होने पर भी मैं भान-रूप होकर सदा स्थित रहता हूँ ॥५२॥

अनुभवाम्यहं यद्धि प्रकाशेऽहं सदैव तत् ।
नो मनागपि भेदोऽस्ति प्रकाशेऽनुभवेऽपि च ॥५३॥

मैं जो अनुभव करता हूँ वही प्रकाशित भी करता हूँ। अनुभव और प्रकाशन में तनिक भी भेद नहीं है ॥५३॥

भानस्य विषयो भूत्वा भानमेव विभाति च ।
भानं स्वरूपभानार्थं भाति भिन्नतयेव तु ॥५४॥

ज्ञान ही भान का विषय बनकर भासित होता है। भान अपना भान करता हुआ भिन्न-सा लगता है ॥५४॥

स्वस्मिन् स्थितः सर्वमयः समन्ताद् विकाससंकोचमयस्वरूपः ।
कस्याप्यहं नास्मि न मेऽस्ति कश्चिद् विभामि चैकोपि विभिन्नरूपः ॥५५॥

मैं स्व-स्वरूप में स्थित रहता हुआ सर्वरूप हूँ। मेरा स्वरूप विकसित और संकुचित होता रहता है। परंतु न मैं किसी का हूँ और न मेरा कोई है। एक ही मैं विभिन्न रूपों में भासित होता रहता हूँ ॥५५॥

उत्थानस्य लयस्यापि द्रष्टैकोऽहं सनातनः ।
सृष्टौ स्थितौ लये वाऽस्मि विक्रियारहितो विभुः ॥५६॥

मैं सनातन हूँ। अकेला मैं ही उत्थान और लय का द्रष्टा हूँ सृष्टि, स्थिति और प्रलय तीनों में। मैं विभु हूँ और मुझमें कोई अन्तर नहीं आता ॥५७॥

दर्श्यते स्थाप्यते किं न सर्व-शक्ति-मता मया ।
भास्यते क्रियते सर्वं स्वात्मनि स्वात्मना स्वयम् ॥५७॥

सर्व-शक्ति-मान् द्वारा किसकी स्थापना और किसका प्रकाशन नहीं किया जाता। यह सब मैं स्वयं अपने भीतर करता रहता हूँ ॥५७॥

अकृत्रिम-विमर्शेनाकृत्रिमाकृतिमानहम् ।
सर्वदा सर्व एवास्मि व्याप्य-व्यापक-वर्जितः ॥५८॥

अपने अकृत्रिम विमर्श से अकृत्रिम आकृतिमान् मैं सदा सब कुछ हूँ किंतु न व्यापक हूँ और न व्याप्य ॥५८॥

इतश्चाप्यमुतश्चापि स्थितोऽस्म्येकोऽहमद्वयः ।
इतोऽमुतो-विभागस्य कल्पकोऽप्यस्मि मध्यगः ॥५९॥

मैं इधर भी और उधर भी। किन्तु हूँ एक ओर अद्वय। इधर-उधर के विभाग की कल्पना का मूल भी मैं ही हूँ सबके बीच मध्यस्थ रहता हुआ ॥५९॥

वर्तमाने वर्तमानः को न स्यात् सर्वशक्तिभाक् ।
भविष्यद्भूतचिन्ताप्तो विस्मृतात्मा न को भवेत् ॥६०॥

वर्तमान में वर्तमान रहने वाला कौन सर्वशक्तिमान् नहीं बन जाता। और भविष्य और भूत की चिन्ता से घिरा कौन ऐसा है जो आत्मविस्मृत न हो ॥६०॥

परिवर्जितसंकोचो विकसन्नस्मि सर्वतः ।
बोधोद्भूतक्रियाशक्त्याऽक्रियोद्भूतविदा पुनः ॥६१॥

मुझमें संकोच कभी नहीं रहता। मैं सदा विकासमान ही रहता हूँ। ज्ञान से उद्भूत क्रियाशक्ति से और क्रिया के अभाव से उद्भूत ज्ञानशक्ति से होता रहता है मेरा विकास ॥६१॥

सांप्रतं विद्यसे हि त्वं तादृशो नहि यादृशः ।
भवितुं यतते नित्यं निर्विकल्पो विकल्पयन् ॥६२॥

इस समय क्या तुम वैसे हो जैसे हो नहीं। विकल्पों में फँसकर तुम कुछ होने का यत्न करते हो यद्यपि हो निर्विकल्प ॥६२॥

अहो विदिततत्त्वोऽपि नाविद्यां त्यक्तुमर्हसि ।
अविद्यैवास्ति विद्याया भासिका स्थापिका यतः ॥६३॥

अचरज की बात है कि तत्त्व-बोध हो जाने पर भी तुम अविद्या को छोड़ नहीं सकते, क्योंकि अविद्या ही है विद्या की भासिका और स्थापिका ॥६३॥

अनिर्देश्य-स्वरूपं हि यो निर्दिश्य दिदृक्षते ।
निर्माय गगनं चित्रं स द्रष्टुमभिवाञ्छति ॥६४॥

जो अनिर्देश्य को निर्देशपूर्वक देखना चाहता है वह आकाश को चित्र बनाकर उसे देखना चाहता है।

स्वस्मादेव समुद्भूय स्वस्मिन्नेव स्थितं जगत् ।
स्व-स्वरूपतया भाति नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥६५॥

संसार मुझसे ही उत्पन्न होकर मुझ में ही स्थित है। नित्य-युक्त-योगी के लिए संसार उसका अपना रूप ही है ॥६५॥

विस्मृत्य देहं समताऽभ्युपेया लभ्या न देहे विषमैक-बीजे ।
स्वात्मस्थितिः शान्ति-समत्व-जुष्टा विद्या-स्त्यविद्याप्यशरीरितैव ॥६६॥

समता प्राप्त की जा सकती है देह को भुलाकर ही। विषमता के मुख्य कारण देह में समता नहीं मिल सकती। स्वात्मा में स्थिति शान्ति और समता से युक्त होती है। यही विद्या है। अविद्या है अशरीरिता या स्वयं को शरीरी न समझना ॥६६॥

स्वस्माद् भिन्नं कथं किं स्यात् स्यात् स्वभेदानुयोगि यत् ।
प्रकाशमानरूपत्वं स्वत्वमेवास्ति वस्तुतः ॥६७॥

कोई भी वस्तु स्व से भिन्न कैसे हो सकती है। स्वयं में स्वयं का भेद रह कैसे सकता है। वास्तविक वस्तु है स्वत्व और वह है प्रकाशमानता ॥६७॥

तस्य नास्त्येव वस्तुत्वं यद्धि नैव प्रकाशते ।
प्रकाशते यतः सर्वं स प्रकाशोऽस्म्यहं किल ॥६८॥

वह वस्तु वस्तु ही नहीं जो प्रकाशित न हो। सर्व-प्रकाशक प्रकाश हूँ स्वयं मैं। इसमें कोई संशय नहीं ॥६८॥

समस्तशास्त्रोदधिसारमेतदेकस्त्वमेवाऽसि च सर्वभूतः ।
त्वं चेन्न भूया निखिलस्य भाता भायात् कथं सर्वमिदं विचित्रम् ॥६९॥

समस्त शास्त्ररूपी समुद्रों का सार इतना ही है कि एक तुम ही हो सब। तुम यदि सबके भासक न बनो तो यह विचित्र और संपूर्ण विश्व भासित हो कैसे ॥६९॥

स्वरूपं पश्य हे स्वान्त स्थितमस्ति सदैव यत् ।
न च बाध्यं न वा प्राप्यं विश्वरूपतया स्थितम् ॥७०॥

मेरे चित, अपना स्वरूप पहचान। वह सदा स्थित रहता है। विश्वरूप होने से न वह हटता न मिलता ॥७०॥

देहं देहोद्गतं स्पन्दं पश्यतो गृह्णतश्च मे ।
न वा शान्ति न वा पूर्तिर्न स्थितिः स्यात् कदाचन ॥७१॥

देह और देह से उद्गत स्पन्द को देखते और समझते रहने वाले मुझे न तो शान्ति की अपेक्षा है, न पूर्ति की और न स्थिति की ही। ये तो मुझे सदा प्राप्त ही हैं ॥७१॥

स्वल्प-शक्त्या त्वयाध्यासः क्रियते यः किलानिशम् ।
स त्याज्यः पूर्णशक्त्या स भवन्नस्ती ति दृश्यताम् ॥७२॥

जीव, तू अपनी क्षुद्र शक्ति से जो दिनरात अभ्यास किया करता है उसे छोड़। वह तो पूर्ण शक्ति से स्वयं हो रहा है। देख न ॥७२॥

बुभूषैव महामाया स्वप्रकाशमयस्य मे ।
त्रिकालसिद्ध एवास्मि भवेयं च कथं नु किम् ॥७३॥

स्वप्रकाशमय मेरी बुभूषा-होने की इच्छा ही तो है माया। और मैं तो ठहरा त्रिकालसिद्ध । मुझे भला किसलिए क्या होना है। ॥७३॥

अलक्ष्यं लक्षितुं येच्छा सिद्धं साधयितुं च या ।
सन्तं भावयितुं वापि तास्त्यक्त्वा-हं सुखी सदा ॥७४॥

अलक्ष्य को लखने, सिद्ध को बनाने या विद्यमान को गढ़ने की जो मेरी इच्छाएँ हैं इन्हें छोड़कर मैं सदा सुखी हूँ ॥७४॥

व्यापकोऽप्यहमेवास्मि व्याप्योऽप्यस्म्यहमेव हि ।
व्याप्य-व्यापकयोर्ज्ञाता द्रष्टा भासयिता सदा ॥७५॥

व्यापक भी मैं ही हूँ और व्याप्य भी मैं ही। इन दोनों का ज्ञाता, द्रष्टा और भासयिता भी मैं ही हूँ ॥७५॥

या या कापि स्थितिः क्वापि प्रतिभाति विलक्षणा ।
स्वोल्लासजनिता सा सा स्व-स्वरूपं हि संमतम् ॥७६॥

नानाप्रकार की जो भी कोई स्थिति कहीं भी दिखाई देती है वह मेरे उल्लास से ही जनित है और वह मेरा ही स्वरूप है ॥७६॥

या स्थितिर्लम्भनीया स्यात् कृत्या नियति-जन्मना ।
किंचित्कर्तृत्व-कलया जन्या सा न शिवात्मिका ॥७७॥

नियतिजन्य क्रिया से जो स्थिति प्राप्य होती है वह शिवात्मिका नहीं होती। क्योंकि वह जन्या होती है और उसकी उत्पादिका नियति भी होती है सीमित कर्तृत्वकला से युक्त ॥७७॥

स्थित एव स्थितिं काञ्चिद् वाञ्छन् स्वीयां स्थितिं त्यजन् ।
क्लिश्नासि सततं व्यर्थं तिष्ठ स्वस्मिन् सदा स्थितः ॥७८॥

तुझे तो स्थिति प्राप्त ही है। किसी कल्पित स्थिति की इच्छा में पड़कर अपनी स्वाभाविक स्थिति को छोड़ रहा है और इस प्रकार क्लेश भोग रहा है। सदा स्वयं में स्थित रहा ॥७८॥

बाह्यस्थ-विषय-व्रातं परिहाय यदैव हि ।
क्रियते प्राणदेहादावहंभावस्तदैव हि ॥७९॥
लुप्यते स्वस्वरूपं तद् व्यापकं परमामृतम् ।
यत् स्वभावात् स्वतः सिद्धं स्वरूपामर्शसंयुतम् ॥८०॥

बाहरी विषयों को छोड़ देने पर भी यदि प्राण देह आदि में 'अहं'-बुद्धि हो जाती है तो उसी समय परम अमृत रूप अपना व्यापक स्वरूप लुप्त हो जाता है, जो स्वतः सिद्ध स्वाभाविक और आत्मपरामर्श से युक्त रहता है ॥७९-८०॥

तस्मात् क्रियाविहीनेन स्थेयं स्वस्मिन् सदैव हि ।
पराहंभाव एवाथ स्थातव्यं सर्व-साधकैः ॥८१॥

इसलिए क्रियारहित हो अपने पर-अहं-भाव में ही सदैव स्थित रहना चाहिए। वही सर्वसाधक है ॥८१॥

देशो रूपं क्रिया कालो द्रष्टा ज्ञाता च भोगभुक् ।
भवोऽभावः सुखं दुःखमस्येकाकी भवन् भवान् ॥८२॥

अकेला तू ही है देश, रूप, क्रिया, काल, द्रष्टा, ज्ञाता, भोक्ता, स्थिति, अभाव, सुख और दुःख ॥८२॥

मद्भिन्नं नहि किञ्चिदस्ति भुवने तत्त्वं शिवाद्यात्मकं
निर्व्याजोऽस्मि महेश्वरः सुकृतिनां सर्वार्थदो निश्चलः ।
मद्भासैव विभाति विश्वमखिलं मत्सत्तया सत्त्ववत्
सद्यो याति विलीनतां पुनरिदं मय्येव चान्तर्मुखे ॥८३॥

विश्व में मुझसे भिन्न कुछ नहीं। शिव आदि सब मैं ही हूँ। सच्चा महेश्वर हूँ मैं ही। पुण्यात्माओं को मैं ही देता हूँ सब कुछ, यद्यपि स्वयं निश्चल रहता हूँ। यह संपूर्ण विश्व मेरी ही ज्योति से भासित हो रहा है, मेरी ही सत्ता से सत्तावान् है और चुटकी बजाते ही विलीन भी होता है मुझमें ही ॥८३॥

विशुद्धं स्वात्मानं रविमिव वियद्-व्याप्तकिरणं
तथा सर्वस्यायं गगनमिव सर्व-स्थितिकरम् ।
नवाङ्कूराक्रान्तक्षितिमिव विकल्पाऽहितरुचि
स्फुरत्प्राणोल्लासैरमृतपरिपूर्णोदधिमितः ॥८४॥

मैं अपने विशुद्ध स्वात्मा को प्राप्त हूँ। उसकी किरणों से जगद् व्याप्त है और वह आकाश के समान सर्वाश्रय है। वह नानाप्रकार की विकल्प-लीला से खेला करता है वैसे ही जैसे पृथिवी नए-नए अंकुरों से। उसमें प्राणों का उल्लास हो रहा है और वह अमृत का लबालब भरा सागर है ॥८४॥

या चैका सहजोन्मिषन्त्यपि सदा देहादिविश्वान्तकैः
शब्दैरर्थवतीव भाति बहुधा चित्र-स्वरूपान्विता ।
शब्दब्रह्म-वपुष्मती स्वरसतो भोगापवर्ग-प्रदा
तामाद्यामहमात्मिकां भगवतीं सद्यःस्थितां संश्रये ॥८५॥

मैं उस भगवती की शरण में हूँ जिसका शरीर है शब्द-ब्रह्म और जो स्वभावतः भोग और मोक्ष दोनों देती रहती है। वह आद्या और अहमा-

त्मिका है। एक होती हुई भी देह से लेकर विश्व तक के नाना शब्दों से अर्थवती होती हुई सी अनेक चित्तों में सहज रूप से उन्मिषित होती रहती है वह ॥८५॥

ज्ञातं येन निज-स्वरूपमभितश्चिद्भैः स्वरूपैः स्थितं
भेदाभेदमयं विशुद्धविभवं जाज्वल्यमानं स्वतः ।
दृष्टादृष्ट-समस्त-मेय-जगतां बीजं विकल्पात्मनां
तेनाप्तं नर-जन्म-दुर्लभ-फलं विश्वात्मकत्वं स्फुटम् ॥८६॥

जिसने अपने स्वरूप के विषय में यह जान लिया कि यही है विश्वात्मक अनेक रूपों में भेदाभेदमय होकर अवस्थित, यह सर्वात्मना विशुद्ध है, स्वतः प्रकाशमान है, दृष्ट और अदृष्ट सभी मेय और विकल्पात्मक विश्व का बीज है, उसने मनुष्यशरीर-प्राप्ति का दुर्लभ फल 'अपना विश्वात्मभाव' प्राप्त कर लिया ॥८६॥

दिव्याय देवाय दिगम्बराय नित्याय शुद्धाय महेश्वराय ।
रामेश्वरायाखिल-विग्रहाय स्वात्मैव रोचेत शिव-स्वरूपः ॥८७॥

विश्व-रूप रामेश्वर को शिवस्वरूप अपना आत्मा ही रुच सकता है। रामेश्वर दिव्य हैं, देव हैं, दिगंबर हैं, नित्य हैं, शुद्ध हैं और महेश्वर हैं ॥८७॥

निर्वृताखिलमेयमानसरणिः स्वीय-स्वभावे स्थितो
जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्ति-मान-जनकं देहं च पश्यन्नपि ।
बाह्यान्तः परिभात-मेय-मखिलं जानन् स्वशक्त्युद्गतं
नित्यानुग्रहवैभवो विजयते रामेश्वरो योगिराट् ॥८८॥

जिसने संपूर्ण मेय और मान का पथ झाड़ दिया है, जो अपने स्वयं के स्वभाव में अवस्थित है, जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में ज्ञाता के रूप में स्थित रहता हुआ शरीर को भी देखता रहता है, भीतर और बाहर भासित हो रहे समस्त विश्व को जो अपनी शक्ति से उद्भूत जानता है इस प्रकार का सदैव अनुग्रह का वैभव लिए योगिराट् रामेश्वर की तुलना ही क्या ॥८८॥

नाना-शास्त्र-निषेवण-श्रम-फलं शैवागमोद्भासितं
स्वात्मानं शिवमेव शान्तमनसा व्यक्तं विकल्पोज्झितम् ।
संदृश्याप्त-शिवात्मभाव इतरांल्लोकानपीशेच्छया
नैज-ज्ञान-गिरा प्रबोधयति यः सोऽसौ हि रामेश्वरः ॥८९॥

वही हूँ मैं रामेश्वर जो अपनी आत्मा का ही शान्तचित्त से निर्विकल्प शिव के रूप में साक्षात्कार करता रहता है। यह है फल नाना शास्त्रों के निषेवण का। इसे उद्भासित किया है शैवागम ने। शिवात्मभाव को प्राप्त हो जाने पर यही रामेश्वर अपनी ज्ञानगिरा से अन्य लोगों को भी ईश्वरेच्छा के कारण जगाता रहता है ॥८९॥

न्यक्कृत्य संकेतमुखावलोकिनं शब्दं विकल्पात्मकबोध-कारिणम् ।
यं वक्त्यसांकेतिक-शब्दनं स्वतः संवित्स्वरूपं प्रणतोऽस्मि तेन तम् ॥९०॥

मैं संवित्स्वरूप उस स्वात्मा को उस असांकेतिक शब्दव्यापार से प्रणाम करता हूँ जो विकल्पात्मक बोधकारी और संकेतमुखापेक्षी शब्द से बहुत ऊपर है ॥९०॥

समाप्तकृत्योऽपरिशिष्टमेयो विधूतदुःखः समवाप्तबोधः ।
कृती कृतार्थोऽपरिमेयशक्तिः कश्चिद् वपुष्मान् विजहाति मृत्युम् ॥९१॥

ऐसे कोई शरीरधारी मृत्यु को छोड़ पाता है जिसके लिए कुछ भी करणीय शेष न हो, कुछ भी ज्ञातव्य न बचे, जो दुःखों से मुक्त हो, जिसने बोध की पूर्णता पा ली हो, जो कृती हो, कृतार्थ हो और हो जिसकी शक्ति अपरिमेय ॥९१॥

अभिन्नं वेत्ति यो विद्वान् स्वात्मानं च गुरुं शिवम् ।
तत्रोभि मुक्तमात्मानं विद्याविद्योभयात्मकम् ॥९२॥

जो विद्वान् अपनी आत्मा, गुरु और शिव को अभिन्न समझता है उस विद्या और अविद्या इन दोनों से युक्त अपनी मुक्त आत्मा को प्रणाम ॥९२॥

अस्मीत्येवं हि संस्थेयं नो विकल्पानुगो भवेत् ।
आगच्छन्ति विनश्यन्ति विकल्पाश्चित्ररूपिणः ॥९३॥

'मैं आत्मरूप हूँ' इसी एक भाव में अवस्थित रहना चाहिए। विकल्प में नहीं पड़ना चाहिए। विकल्पों के चित्र तो जाते आते रहते हैं, वे टिकाऊ नहीं ॥९३॥

नासीदृशस्त्वं न च तादृशस्त्वं त्वं कीदृशोऽसीत्यनुयोग-शून्यः ।
त्वं यादृशोऽसीत्यपि नैव वक्तुं योग्योऽसि शम्भो त्वमसि त्वमेव ॥९४॥

भगवान् शिव, आप न ऐसे हैं न वैसे। आप कैसे हैं यह प्रश्न ही आपके विषय में संभव नहीं। आप जैसे हैं उस रूप में भी आपका वर्णन संभव नहीं। आप वाणी से परे हैं। भगवन् आपके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आप आप ही हैं ॥९४॥

अत्र तत्र च सर्वत्र सदेदानीं यदा तदा ।
इत्थं यत् तदिदं किंचित् सर्वं स्वस्मिन् विभाति वै ॥९५॥

'यहाँ, वहाँ, सब जगह और सदा इस समय तथा जब तब'—इन परिधियों में भासित होता है वह सब यह स्वात्मा ही तो है ॥९५॥

सर्वतः प्रथमं भासे भासे भानतयापि च ।
भासमानतया भासे भासी नास्म्यहमस्मि भाः ॥९६॥

सबसे पहले भासित होने वाला मैं ही हूँ। मैं ही भासित होता हूँ भान-रूप से। भासमान-रूप से भी भासित होता हूँ मैं ही और सत्य यह है कि मैं भासित होने वाला नहीं, मैं तो भा ही हूँ ॥९६॥

प्रतिक्षणमहं भासे क्षणो भाति मयि स्थितः ।
अविच्छिन्नमहं भासे क्षणो विच्छिद्य भासते ॥९७॥

मैं भासित होता रहता हूँ प्रतिक्षण और क्षण भासित होता है मुझमें। मेरा भान है अविच्छिन्न जबकि क्षण है विच्छिन्न रूप से भासित होने वाला ॥९७॥

अस्पन्दोऽप्यस्मि सस्पन्दः सस्पन्दोऽस्पन्द-भानकृत् ।
स्पन्दास्पन्दविनिर्मुक्तो भास्म्यहं चोभयात्मकः ॥९८॥

मैं स्पन्दरहित होते हुए भी स्पन्दसहित हूँ और सस्पन्द होते हुए भी स्पन्द का भान नहीं करता। वस्तुतः मैं स्पन्द और अस्पन्द दोनों से मुक्त होकर भासित हो रहा हूँ और उभयात्मक भी हूँ ॥९८॥

नाप्नोमि संकोचविकासलेशमुन्मेषमेषौ मम शक्ति-धर्मः ।
विभामि सर्वात्मतयापि चैको भा-मात्र-रूपोऽस्मि न मानगम्यः॥९९॥

मुझे न संकोच का ही लव छूता और न विकास का ही। उन्मेष और निमेष मेरी ही शक्ति के धर्म हैं। सर्वात्मभाव से भासित होता हुआ भी मैं एक हूँ। मैं केवल भा-रूप हूँ, मान-गम्य नहीं ॥९९॥

द्रष्टुं चापि स्फुटीकर्तुं यं नित्यमनुधावसि ।
नीरूपः स त्वमेवासि शुद्धः स्वच्छो निरञ्जनः ॥१००॥

तू जिसे सदा ही देखने और स्पष्ट करने दौड़ रहा है वह निराकार, शुद्ध, स्वच्छ और निरंजन तू ही तो है।

स्वाभिज्ञोच्छलितानन्दो महास्पन्द-समन्वितः ।
आप्लावित-जगद् योगी कोऽपि भाति चिदम्बुधिः ॥१०१॥

अपनी पहचान से जिसमें आनन्द उच्छलित हो रहा है, जो महास्पन्द से समन्वित है, जिसने स्वयं से जगत् को भर रखा है ऐसा कोई योगी चित्समुद्र के रूप में सुशोभित होता रहता है ॥१०१॥

स्वाभिज्ञोल्लसितानन्दो–कृत्रिमस्पन्द–वर्तनः ।
अविच्छिन्न-स्वरूपस्थो राजते काल-भासकः ॥१०२॥

अपनी अभिज्ञा से जिसमें आनन्द उल्लसित हो रहा है, जिसका स्पन्द सहज और अकृत्रिम है, जो अपने अविच्छिन्न रूप में अवस्थित रहता है वही है सुशोभित होने वाला कालतत्त्व के भासक के रूप में ॥१०२॥

विश्वातीतपदे तिष्ठन् योगी नायाति याति च ।
समाधिं नैव जानाति संसारं मोक्षमेव वा ॥१०३॥

विश्वातीत पद पर विराजमान योगी न कहीं जाता न आता। वह न समाधि जानता, न बन्ध, न मोक्ष ॥१०३॥

स्वाभिज्ञया स्थितः स्वास्मिन् व्यापि-स्पन्देन च श्वसन् ।
देह-मुक्तोऽपि देहस्थो विश्वं स्वस्मिन् प्रपश्यति ॥१०४॥

अपने अभिज्ञान से अपने में सदा अवस्थित, व्यापी स्पन्द से साँस लेता, देहमुक्त होता हुआ भी देह में अवस्थित योगी विश्व को अपनी आत्मा में अवस्थित देखता है ॥१०४॥

पश्यंश्च वर्णयंश्चापि स्वरूपं योगिपुंगवः ।
कुर्वन् कर्माण्यनेकानि कर्तृत्वं याति जातु नो ॥१०५॥

उत्कृष्ट योगी अपने स्वरूप के दर्शन और वर्णन करता हुआ अनेक प्रकार के कर्म करता है किन्तु कभी भी उनका कर्ता नहीं बनता ॥१०५॥

अनादृतक्रमो धृत्वा महा–वदेह्यधारणाम् ।
देहं चक्रं च देहस्थं सिञ्चन् योगी जपेद् जगत् ॥१०६॥

क्रम छोड़कर और पर विदेहभाव धारणकर देह और देहस्थित चक्रों का सेचन करता हुआ योगी जगत् का जप करे ॥१०६॥

अनिर्देश्याद् यस्माच्चलति पवनः प्राणयति य–
स्तथैवाहंशब्दो नदति सकल-प्राणिषु पुनः ।
इदं सर्वं दृश्यं भवति पुनराभाति सततं
तमात्मानं वन्दे जनन-मरण-क्लेश-रहितम् ॥१०७॥

जिस अनिर्देश्य से पवन की गति आरंभ होती है और जो सबको प्राणवान् बनाए हुए है, इसी प्रकार अहं–शब्द के रूप में जो सभी प्राणियों में ध्वनित है, जिससे यह संपूर्ण विश्व पैदा होता और सदा उसी के भीतर आभासित होता रहता है उस जन्म-मृत्यु के क्लेश से रहित आत्मा को प्रणाम ॥१०७॥

अन्तर्बहिश्चाप्यहमेव चैको दृश्योऽप्यदृश्यो लघु-दीर्घ-रूपः ।
कुर्वन्नकुर्वन्नपि सुस्थिरोऽहं जीवन्मृतो भामि शिवोऽद्वितीयः ॥१०८॥

भीतर बाहर सर्वत्र मैं ही हूँ दृश्य। लघु और दीर्घ रूप मेरे ही हैं। मैं कर्ता और अकर्ता दोनों हूँ। मैं जीते जी मृत भी हूँ और सदा भासमान अद्वितीय शिव हूँ ॥१०८॥

अन्विष्यमाणस्त्वमणौ न दृष्टो महत्स्वरूपेऽपि च नैव लब्धः ।
स्वस्मिन् स्थितिं प्राप्तवता तु सौख्यात् तत्रापि चात्रापि समत्र लब्धः ॥१०९॥

भगवन्, आपको बाहर खोजने चला तो आपको अणु में पाया और न महत् में। किन्तु जब स्व-स्वरूप में लौट आया तो चुटकी बजाते ही यहाँ, वहाँ और सर्वत्र पा लिया आपको ॥१०९॥

स्वानन्दनिर्भरवपुः परितोऽप्यगाधः
स्वस्मिन् स्वतो गगनचुम्बि–तरङ्ग–शीलः ।
काङ्क्षा–विहीन–गतिशून्य–समेधमान–
मूर्तिः क एष जनतापहरोऽस्ति सिन्धुः ॥११०॥

यह कौन सा है समुद्र जो अपने आनन्द में लीन है। कहीं भी जिसकी थाह पाना संभव नहीं। जिसकी स्वयं के द्वारा स्वयं में उठी तरंगें आकाश को चूम रही हैं। जिसमें कोई इच्छा नहीं है। जिसमें कोई गति नहीं है। जो निरन्तर बढ़ती ही जाती है और जो प्यासे विश्व की प्यास भी बुझाता है ॥११०॥

शिवोऽद्वितीयोऽस्मि जगन्मयोऽहं
विभाति विश्वं मयि सर्वदेदम् ।
देहात्मकोऽप्यस्मि शिवात्मकोऽह–
मेकोऽप्यनेकोऽपि सदा विभासितः ॥१११॥

मैं शिव हूँ, अद्वितीय हूँ, जगन्मय हूँ, यह विश्व मुझमें ही सदा भासमान रहता है। मैं देहात्मक भी हूँ और शिवात्मक भी। एक भी हूँ और अनेक भी। इसी रूप में सदा भासित रहा हूँ ॥१११॥

*

तन्त्र की व्यापकता

• स्वामी सदानन्द सरस्वती (वेदान्ती स्वामी) •

तन्त्र एक स्वतन्त्र दर्शन है। इसकी उत्पत्ति श्रुति से हुयी है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार जिससे ज्ञान का विस्तार हो वह तन्त्र है—'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्।'

शैवसिद्धान्त के अनुसार—

"तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणञ्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

तत्त्व मन्त्र के प्रचुर अर्थज्ञान का विस्तार और रक्षा करता है इसलिये इसे तन्त्र कहा जाता है।

लोग कहते हैं कि तन्त्र शास्त्र एक नवीन शास्त्र है। क्योंकि शक्ति पूजा इसका प्रधान अंश है। परन्तु शक्ति की उपासना नवीन नहीं, अत्यन्त प्राचीन है।

पुरा सर्वे द्विजाः शाक्ताः न शैवाः न च वैष्णवाः।
आदिशक्तिमुपासन्ते गायत्रीं वेदमातरम्॥ (दे० भा०)

महाभारत में भगवती की कई जगह स्तुति की गई है। श्रीमद्भागवत में उमा की पूजा का उल्लेख है। मार्कण्डेय पुराण ने देवी की महिमा का गान ही नहीं किया, दुर्गासप्तसती के द्वारा शक्ति उपासना को घर-घर तक पहुँचा कर व्यापक बना दिया है।

स्कन्दपुराण, ब्रह्मपुराण, भविष्यपुराण, पद्मपुराण, देवीपुराण शक्ति पूजा के महत्त्व का पूर्ण प्रतिपादन करते हैं। अतः तन्त्र शास्त्र को नवीन कैसे कहा जा सकता है ?

श्रीमद्भागवत वैष्णव सम्प्रदाय का परम सम्मान्य एवं आदरणीय पुराण है। श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैं कि मेरी पूजा तीन प्रकार की है—

१. वैदिक, २. तान्त्रिक और ३. मिश्र।

इसी पुराण के ११ वें स्कन्द में लिखा है कि प्रत्येक युग में केशव भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होते हैं और उनकी भिन्न-भिन्न रूप से पूजा की जाती है। कलियुग में उनकी पूजा तन्त्र मत के अनुकूल ही होना उचित है—

यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप॥
(श्रीमद्भागवत—११।५।२८)
नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु॥
(श्रीमद्भागवत ११।५।३१)

महाभारत विराट् पर्व में युधिष्ठिर ने दुर्गा की स्तुति की है। म० भा० शान्ति पर्व अध्याय २४१ श्लोक ६४ से ६८ तक शिवजी को सम्पूर्ण पञ्चरात्र का ज्ञाता कहा है (पञ्चरात्र तन्त्रग्रन्थ है) इसी पर्व में लिखा है कि सत्ययुग में रुद्र ने बालखिल्य ऋषि को तन्त्रशास्त्र सिखलाया है।

महाभारत शान्ति पर्व के अनुसार पाशुपतव्रत तन्त्राचार के सिद्धान्तों पर है। शान्ति पर्व में मोक्ष धर्मविषयक कतिपय श्लोक हैं जहाँ तन्त्र का उल्लेख किया गया है (म० भा० शान्ति पर्व अध्याय २८४ श्लोक १२१ से १२४ तक)।

ब्रह्मपुराण के अनुसार महादेव की पूजा वैदिक और तान्त्रिक मत से करनी चाहिए।

वाराहपुराण के ८१ अध्याय के अनुसार जितने महाशक्ति के रूप हैं उतने ही शिव के हैं। एक की पूजा से दूसरे की भी पूजा हो जाती है। पुनः जो देवी की आराधना करते हैं उससे शिव भी प्रसन्न होते हैं और देवी उस साधक को सिद्ध हो जाती हैं।

कालिकापुराण में देवी के ध्यान का विस्तार से वर्णन और उनकी पूजा दुर्गा तन्त्र के अनुसार करने का आदेश है। सम्पूर्ण कालिका पुराण तन्त्र का अनुसरण करता है। मार्कण्डेयपुराण में तो शक्ति का ही महत्त्व बतलाया गया है।

स्कन्दपुराण के अन्तर्गत शङ्कर-संहिता में कार्तिकेय महादेव से कहते हैं कि शैवागम जानने वाले बहुत कम लोग हैं। महादेवजी उत्तर देते हैं कि आगम और निगम जो वेद के सार हैं, मन को प्रसन्न करने वाले हैं और उनको गुप्त रखना चाहिए। शैवागम का अर्थ तन्त्र शास्त्र है।

स्कन्दपुराण के अन्दर ब्रह्मोत्तर खण्ड में एक शिव कवच है। उसके जो बीज, मन्त्र, मूर्तिध्यान इत्यादि हैं, वह सब तन्त्र के अनुकूल हैं।

छान्दोग्य, तल्वकार उपनिषदों में उमा देवी का ध्यान है। वहाँ इन्द्रादि देवी के सन्मुख प्रकट हुए हैं। उस स्थल पर कहा गया है कि इन्द्रादि देवों की स्थिति का सम्पूर्ण कारण केवल महाशक्ति का प्रभाव और फल है।

अथर्व वेद में—अथर्वशिखा, अथर्वशिरः, अन्नपूर्णा, अमृतनाद, अमृत विन्दु, कृष्ण, कौल, त्रिपुरा तापनीय, देवीद्वय, ध्यान विन्दु, नाद विन्दु, पाशुपत्, वृहज्ज्वाला रहस्य, सरस्वती रहस्य, सीतासुदर्शन आदि का उल्लेख है।

वेद में सरस्वती सूक्त, यजुर्वेद में लक्ष्मी सूक्त और ऋग्वेद के १० वें मण्डल में देवी सूक्त उपलब्ध है।

भगवान् शङ्कराचार्य ने तन्त्र शास्त्र को माना है और अपने शारीरक भाष्य में तान्त्रिक षट्चक्र का निरूपण किया है।

देवी भागवत का उपासना काण्ड तान्त्रिकाचार का अनुसरण करता है। पातञ्जल-दर्शन में भी तान्त्रिक प्राणायाम का उल्लेख है।

वाल्मीकि रामायण में बला अतिबला का उल्लेख है। इसका साधन तन्त्रसार में दिया है (वा० रा० बालकाण्ड सर्ग २२ श्लोक १२-१३-१५)। बला और अतिबला विद्या हैं। इनकी दीक्षा विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को दी थी।

शक्ति देवता की उपासना प्रायः सम्पूर्ण भारत में अनादि काल से चली आ रही है। जैसे—कामाख्या कामरूप में, योगमाया, पूर्णभासी वृन्दावन में, अन्नपूर्णा, विशालाक्षी, त्रिपुर भैरवी, संकटा, ६४ योगिनी, काल भैरवी, दुर्गा इत्यादि काशी में, गुह्येश्वरी, नैपाल में, गायत्री-सावित्री, राजस्थान में, ज्वालामुखी हिमाचल में, मीनाक्षी दक्षिण भारत में, इस प्रकार अनेक शक्ति देवता का पूजन अनादि काल से भारत के विभिन्न प्रान्तों में होता आ रहा है। व्रज वनिताओं का कात्यायनी व्रत और सीता का गौरी पूजन तो प्रसिद्ध ही है। अतः तन्त्र शास्त्र प्राचीन और व्यापक है।

भगवती का स्वरूप व्यापक और बृहत् है। वह अर्धचन्द्रधरी है, खड्ग, पाश, त्रिशूल, शंख-चक्रादि विविध शस्त्रास्त्र धारिणी है। उसके शस्त्रों का सम्मान और पूजन किया जाता है।

मुसलमान अपने उपासना मन्दिर के शिखर पर अर्धचन्द्र अंकित करते हैं और उसका सम्मान करते हैं, ईसाई अपने उपासना मन्दिर के शिखर पर पाश चिह्न अंकित करते हैं और उसका सम्मान करते हैं। हिन्दू अपने उपासना मन्दिर में त्रिशूल, शंख, चक्र-खड्ग आदि चिह्नों को अंकित करते हैं और उसका सम्मान करते हैं।

भगवती के चिह्नों का, वाहनों का, मन्त्रों का, शस्त्रास्त्रों का पूजन काल्पनिक नहीं है। तन्त्र-शास्त्र के अनुसार ही है। अतः तन्त्र-शास्त्र सर्वत्र किसी-न-किसी रूप में विद्यमान होकर व्यापकता को प्रकट कर रहा है।

मानव जगत् के सभी समाज में तन्त्र व्याप्त है। इस्लाम धर्म में भी मन्त्रों के द्वारा बहुत से कार्य किए जाते हैं। आदिवासियों में भी मन्त्र की परम्परा चलती है। विष निवारण में तो तन्त्र, मन्त्र, औषधि के प्रयोग प्रत्यक्ष फल देते हैं और जीवन की रक्षा करते हैं।[1]

---

१. वृश्चिक विष निवारण का तान्त्रिक प्रयोग—

२० की संख्या को एक संख्या तक उल्टी गणना एक साँस में करते हुए दंश स्थान से नीचे की ओर लकड़ी अथवा अंगुलियों से विष को उतारने से विष उतर जाता है। यह अनुभूत प्रयोग है।

सर्प विष निवारण के लिये मन्त्र औषधि और तान्त्रिक विधियाँ अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से उपलब्ध होती हैं।

श्रीचक्रं तदधिष्ठात्री देवता च

• पण्डित श्री पट्टाभिराम शास्त्री •

श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः

इति तन्त्रशास्त्राण्युद्घोषयन्ति। शिवा च शिवश्च शिवौ, तयोः शरीरं श्रीचक्रमिति उक्तं भवति। संख्या शास्त्रानुसारेण शकारस्य संख्या ५, वकारस्य च संख्या ४। एवं स्त्रीलिङ्गान्त शिवशब्दस्य पुंलिङ्गान्तस्य च शिवशब्दस्य प्रत्येकं ५४, ५४ इति संख्या निष्पद्यते। ५, ४ अनयोर्मेलनेन ९ संख्या प्राप्ता भवति। एवं द्वितीयसंख्ययोर्मेलनेनापि ९ संख्या निर्गच्छति। एवं प्राप्तया ९ संख्यया किमधिगन्तव्यं भवतीति पर्यालोचनीयम्। श्रीचक्रस्यान्तः नव चक्राणि सन्ति। तानि नवावरणानीत्यपि व्यवह्रियन्ते। तत्र चत्वारि शिवस्य चक्राणि शिवायाश्च पञ्च चक्राणि। इदं नव चक्रात्मकं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः—

'चतुर्भिश्शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः'॥

इत्यागमः। शिवं तच्छक्तिञ्चाभेदभावनया पश्येदित्युपदेष्टुमेव 'शिवयोः' इति पदे नवसंख्याद्वयमस्ति। 'श्रीचक्रम्' इत्यत्र संख्याशास्त्रेण २७-२ अङ्का भवन्ति। एतेषां योजनेन १० संख्या निष्पद्यते। तत्राङ्कानां वामतो गतिरित्या श्रीयमाणे १ अङ्कोऽवशिष्यते। तेन श्रीचक्राराधन समये शिवशक्त्योरैक्य भावना कर्तव्येति 'श्रीचक्र' पदेनोपदिश्यते। श्रीचक्राधिष्ठात्री देवता श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी। तस्या आराधनमन्त्रः 'श्रीविद्या' मन्त्रः। विद्यासु श्रीविद्यैव गरीयसी। अथवा विद्यापदेन श्रीविद्यैव ग्राह्या। कथमादि संख्याशास्त्रेण श्री २ वि ४ द्या १ इति संख्या निष्पद्यन्ते। अङ्कानां वामतो गतिरित्याश्रिते १४२ इति सम्पद्यते। अन्तत उभयोर्योजनेन ६ संख्या अवशिष्टाङ्केन सह प्रयोगे १६ अङ्का भवन्ति। इयं १६ संख्या षोडशाक्षरीं विद्यामवगमयति। श्रीविद्या षोडशाक्षरी विद्या। अतश्चैव श्रीचक्राराधनम्। अन्ततोविद्यमानमङ्कद्वयं ४२, अस्यादौ विद्यमानेनैकाङ्केन योजने सति ४३ अङ्का जायेरन्। इमे अङ्काः श्रीचक्रगतान् ४३ त्रिकोणान् बोधयन्ति। श्रीचक्रं श्रीयन्त्र पदेनापि व्यवहरन्ति। 'श्रीयन्त्रम्' इति पदेन २१२ संख्योपस्थाप्यते। योजनेन ५ संख्या निष्पत्तिः। शक्तिचक्रेषु पञ्चसु शिवचक्राणां चतुर्णां शते पञ्चाशत्न्यायेनान्तर्भावोऽवशिष्यते। अन्तर्भावश्चैक्यानुसन्धानायैव। कटपयादि संख्याशास्त्रद्वारा

श्रीचक्रश्रीविद्याविषयेऽधीयमाने बहूनि तत्त्वान्यवगतानि भवेयुः। प्राप्तेऽवसरे कानिचन तत्त्वानि लेखान्तरे प्रस्तोष्यामः ।

नवसु चक्रेषु प्रथमं त्रैलोक्यमोहननाम्ना सङ्कीर्त्यते। चक्रमिदं चतुरस्राकारं चतुर्द्वारयुतं रेखात्रयसमन्वितं भवति। प्रथम रेखायां दश देवता अणिमासिद्ध्यादयः, मध्यमरेखायां ब्राह्म्यादयोऽष्टौ, अन्त्यरेखायां सर्वसंक्षोभिण्यादयो दश पूजनीया भवन्ति। इदं प्रथममावरणम्।

द्वितीयं षोडशदलसंयुतं वर्तुलाकारं सर्वाशापरिपूरकनाम्ना व्यवह्रियते। अत्र कामाकर्षिण्यादयो नित्यकलाः षोडश पूज्यन्ते। तृतीयमष्टदलकमलं नाम्ना सर्वसंक्षोभणं कथ्यते। अत्रानङ्गकुसुमादयोऽष्टौ देव्यः पूज्यन्ते। चतुर्थं चतुर्दशारं सर्वसौभाग्यदायकं चक्रम्। अत्र चतुर्दश सर्वसंक्षोभिण्यादयः देवताः पूज्यन्ते। पञ्चमं बहिर्दशारं सर्वार्थसाधकं चक्रम्। अत्र सर्वसिद्धिप्रदादयो देवताः पूजनीयाः। षष्ठमन्तर्दशारं सर्वरक्षाकरं चक्रम्। अत्रापि दश देवता सर्वज्ञादयः। अष्टारं सर्वरोगहरं चक्रं सप्तमम्। वशिन्यादयोऽष्टौ देवताः पूज्यन्ते। त्र्यस्रं त्रिकोणमष्टमं चक्रं सर्वसिद्धिप्रदनामकम्। अत्र वाणिन्यादयश्चतस्र आयुध देवताः त्रिकोणे बिन्दौ च कामेश्वरादयः पूज्यन्ते। बिन्दुचक्रं नवमं सर्वानन्दमयनामकम्। अत्रैव श्रीमहाभट्टारिकाया ललिता महात्रिपुरसुन्दर्याः पूजनम्। इदं नवममावरणम्। सर्वानन्दमयचक्रं विहायाष्टसु चक्रेषु या या देवतास्तास्सर्वा अपि प्रधान देवताशक्तिसम्पन्ना एव। अङ्गदेवता इति न ता उदासितुं योग्याः। एतेन साङ्गस्य प्रधानस्य यथावदनुष्ठानेनैव यागः फलदो भवतीति यथा कर्मकाण्डेषु न्यायस्तथैव चर्याकाण्डेऽपीति सिद्ध्यति। तत्तदावरणपूजनान्ते तत्तदावरणौपयिक मुद्राः तद्बीजाक्षराणि च सन्ति विभिन्नानि।

तन्त्रशास्त्रसिद्धबीजाक्षराणि दृष्ट्वानिरर्थकानि लोकवञ्चनाय केनचन प्रवर्तितानि, यथा सौमिकानि कर्माणि तत्र च प्रयुज्यमानानि मन्त्रजातानि इति कश्चनाद्यजातो यथाजातो वदति लिखति च। तं शिशासिषामि- 'मित्रे चर्षौ' इति सूत्रं विरचयन् पाणिनिः लक्ष्यं 'विश्वामित्रं' विस्मरन्निव पृथगेव लक्षणं निर्दिदेश। एतेन लक्ष्यानुरोधेनैव लक्षणानि निर्मीयन्त इतिसिद्ध्यति। कोशग्रन्था अपि तथैव। तान्त्रिकसम्प्रदायसिद्धसार्थकबीजाक्षराणां निघण्टवः एकाक्षरकोशाश्च तत्सम्प्रदायविद्भिः प्रणीता उच्चावचा उपलभ्यन्ते। 'तत्तन्त्राभिधानकोशः' इति कश्चन ग्रन्थः। तस्मिंश्च 'ह्रीं क्लीं श्रीं' इत्यादीनामर्थास्स्पष्टं निर्दिष्टास्सन्ति। 'हुं फट्' इत्यादीनामप्यर्थोवर्तत एव। बिडालाक्षणोन्मिलनमात्रेण जगत आन्ध्यं न सिद्ध्येत्। तान्त्रिकप्रक्रिया तु चिरन्तनी। अनया प्रक्रियया सिद्धा महात्मानोऽसङ्ख्याः सन्ति, आसंश्च। चमत्कार प्रदर्शनेनैव तेषां सत्त्वम्, तदप्रदर्शनेन तेषामभाव इति धारणा न समीचीना। यश्च नाम यथाजातो वेदेष्वेव मन्त्रान् निर्माय तान् कर्मसु संयोज्य, तदनुकूलानि च कर्माणि आविष्कृत्य द्रव्य सञ्चयाय चिरन्तना व्यापृता बभूवुरिति निरर्गलं कथयन् तान्त्रिकमन्त्र विषये किमिव न ब्रूयात् ? न तस्य रसनायां शिरास्सन्ति। किमनेन यथाजातेन ? प्रकृतमनुसरामः। ज्ञानार्णवे—

'वाच्यवाचकरूपेण सर्वे मन्त्रा व्यवस्थिताः।
यद्देवताया यो मन्त्रस्तस्या मन्त्रस्स वाचकः' ॥

इति सामान्यरूपेणाभिधाय विशेषार्थास्तत्र तत्र तन्त्रेषु निरूपिताः। अतो जपद्वारा मन्त्रसिद्धौ जातायामर्थ सिद्धौ साधकः प्रवर्तेतेति यो वैदिकः क्रमः स एव तान्त्रिकोऽपि। अर्थशब्देन देवतारूपोऽभिप्रेयते। तदर्थमेव चर्याकाण्डम्। तत्रोपदिष्टं शक्तेराराधनाय श्रीचक्रम्। अत्र नवचक्रेषु सन्ति त्रयश्चत्वारिंशत् त्रिकोणाः, अष्टादश मर्माणि, चतुर्विंशति सन्धयश्च।

'द्विरेखासङ्गमस्थानं सन्धिरित्यभिधीयते।
त्रिरेखासङ्गमस्थानं मर्म मर्मविदो विदुः'।

इति सन्धिमर्मणोः स्वरूपम्। एवमत्र श्रीचक्रं विभावनीयम्—

अनर्घमणिसंयुतः पीयूषाम्भोधिः, तन्मध्य एकं नन्दनकाननम्, यच्च काञ्चनानोकहसुम-धूलीभिः कल्पितालवालवद् प्रसूनेभ्यो विगलन्माध्वीरसधारा परिपूरितम्, मुग्ध कोकिलानां निक्वाणैर्मुखरीकृत दिङ्मण्डलम्, सविधे स्यन्द मानाया अम्बसरितः कल्लोलैर्वेल्लितम्, शुकीदष्टमातुलुङ्गफलशतान्वितम्। तन्मध्ये किञ्चिदेकं नीपकान्तारं यच्च सिद्ध वन्दिभिश्चिन्तितम्, तन्मध्ये पञ्चविंशतिप्राकारैर्विविधमणिनिर्मितैरुपेतं सुन्दरं नगरम्, नगरमध्ये चतुष्पदि महाविद्या कलाभिस्संवृतम्, शक्रादिद्वारपालैः परिवेष्टितमेकं रत्न सिंहासनम्। तत्रेदं—

चतुरस्रत्रिरेखाढ्यं चारुत्रिवलयान्वितम्।
कलादलसमायुक्तं कनदष्टदलान्वितम् ॥
चतुर्दशारसहितं दशारद्वितयान्वितम्।
अष्टकोणयुतं दिव्यमग्निकोण विराजितम् ॥
योगिभिः पूजितं योगियोगिनीगणसेवितम्।
आशाभिपूरकं दिव्यमर्चकानामहर्निशम् ॥
अष्टादशसुसमद्धिद्धं चतुर्विंशतिसन्धिकम् ॥

श्रीमद् बिन्दुगृहोपेतं श्रीचक्रम्। तत्र बिन्दुगृहे तपनीयांशुकधरः कामेश्वरो नृणां कामितार्थप्रदो भगवानासीनः। तस्याङ्कमध्यमासीना शिवा षोडशवार्षिका भगवती श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी। एवं जापकोत्तमा भगवतीं चिन्तयेयुः। सततं चिन्तनेनैवमवाप्तदैवबलाः चर्याकाण्डोक्त सपर्यया कामेश्वरं कामेश्वरीञ्च सन्तर्प्य तयोरैक्यानुसन्धानेन प्राप्ते समये पवर्गरहितामवस्थां प्राप्नुयुः।

श्रीविद्या

• श्री श्रीशचन्द्र पाण्डेय •

देवादिदेव पूजित तपःपूत भारत-भूमि में ऋषि-मुनियों द्वारा अनेक उपासना पद्धतियों का प्रादुर्भाव हुआ जिनमें 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की महिमा का विशद गान किया गया है। हमारे आत्मा को प्रकाश मिले जिससे हमारे भीतर बाहर शान्ति का वातावरण बने। इसके लिए अनेक प्रकार की सगुण-निर्गुण उपासना पद्धतियाँ अपनाई गईं। उपासनाओं में शक्ति की उपासना (कल्ट Cult) की प्रधानता एवम् महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आज भी शक्ति की अनेक रूपों में पूजा होती है। यहाँ तक कि भौतिकवादी राजनयिक अनेक प्रकार के छलछद्मों से सत्ता छोड़ना नहीं चाहते। राजनयिक और अध्यात्मिक सत्ता में बहुत ही अन्तर है। उपासना अध्यात्म क्षेत्र में आवृत्त है। स्थूल रूप से शक्ति की उपासना १. काली, २. तारा, ३. षोडशी, ४. भुवनेश्वरी, ५. छिन्नमस्ता, ६. बगला, ७ धूमावती, ८. कामाक्षी, ९. कमला, १०. भैरवी या इसके सादृश्य के अनेक नामोप्रकार और पद्धतियों से की जाती है। इनमें मुक्ति-मुक्ति प्रदान करने वाली सहस्रनाम्नी श्रीविद्या अथवा महात्रिपुरसुन्दरी ललितापराम्बा हैं। प्रस्तुत निबन्ध में श्रीविद्योपासना के सम्बन्ध में स्वल्प प्रकाश डालना अभीष्ट है। इस सम्बन्ध में यह निवेदन नितान्त आवश्यक है कि विद्या-का रहस्योद्घाटन बिना दीक्षा और गुरु के नहीं हो सकता। यह भी विचि-त्रता है कि गुरु और रहस्य स्वयम् उसके ही प्रेरणा से प्राप्त होता है। मा स्वयम् साधक के पात्रत्व श्रद्धा-विश्वास के अनुसार मार्गनिर्दिष्ट करती है।

श्रीविद्या का शक्ति उपासना में रहस्यमय तथा महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीविद्या की महिमा का वर्णन करने में विरले ही समर्थ हैं। इसकी विशेष चर्चा ब्रह्माण्डपुराण के ललितोपाख्यान में वर्णित है। ललिता सहस्र नाम, त्रिशति आदि इसी के अंग हैं। यह लोपामुद्रा अगस्त सम्वाद के रूप में वर्णित है। त्रिविधात्मक संसार के आविर्भाव और तिरोभाव की भूमि त्रिपुरा होने से इन्हें महात्रिपुरसुन्दरी, श्री अथवा परा विद्या कहते हैं। यह पूर्णतया मन्त्र-यन्त्र-तन्त्रात्मक उपासना है जिसका लक्ष्य पुरुषार्थ चतुष्टय द्वारा मोक्ष प्राप्ति है। उपासक को उपासना में किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि उपासक का निर्देशन मा स्वयम् करती है बशर्ते उपासक निष्ठापूर्वक शुद्ध चित्त से उपासना करता रहे। कहने का अभिप्राय यह है कि गुरु के निर्देशन में अपने आप रास्ता बनता जाता है। गुरु का स्थान और दीक्षा क्या है ? इस सम्बन्ध में शास्त्रों में बड़ी महिमा गाई गई है यथा :—

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः

× × ×

ओं आनन्दमानन्दकरं प्रसन्न ज्ञान स्वरूपं निजबोधरूपं
योगीन्द्र मीड्यं भवरोग वैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि ॥

माता-पिता के पश्चात् 'आचार्य्य देवो भव' कहा गया है। साधना पथ के पथिक भौतिक स्तर पर गुरु से उस प्रकाश की आशा करता है जिससे उसे तापत्रय से मुक्ति मिले। गुरु कृपा से अविद्या तथा अज्ञान का नाश होकर प्रकाश मिलता है अर्थात् आत्मज्ञान (Self Knowledge) की प्राप्ति होती है। विद्या उपासना में किसी प्रकार के जाति सम्प्रदाय या स्त्री-पुरुष का भेदभाव न होने पर भी यह सही है कि यह उपासना सामान्य के लिये साध्य नहीं है। श्रीविद्या की उपासना पूर्व जन्म के संचित संस्कारों और वर्तमान की कठोर संयम एवम् साधना से ही सुलभ हो सकती है। शास्त्रों में पूर्व जन्म के कर्मों के अनुभार वर्तमान जीवन प्रेरित होना माना गया है। कुछ लोग प्रारब्धवादी होकर कर्म को गौण मानते हैं किन्तु यह भूल जाते हैं कि 'कर्मण्येवाधिकारस्तेमा फलेषु कदाचन' का सिद्धान्त कितना सटीक है। इसी के आधार पर संस्कार बनते और सञ्चित होते हैं। अस्तु, यदि संस्कार का अभाव है तो साधना में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। ऐसी सूरत में गुरु से मन्त्र दीक्षा लेना आवश्यक है। मंत्र प्राप्त कर उसका निरन्तर जप तथा मनन करना चाहिये। जप एक कठिन साधना है। इससे उपास्य प्रसन्न होकर सफलता के लिये अग्रसारित करता है।

दीक्षा—दीक्षा से दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। इससे पाप का क्षय होता है। अदीक्षित व्यक्ति की पूजा देव गण नहीं ग्रहण करते और स्वीकारते एवम् वह निरर्थक सिद्ध होता है। जो व्यक्ति बिना गुरु से दीक्षा लिए मंत्र जाप करता है वह निष्फल होता है। पुस्तकें पढ़कर मन्त्र जाप न करना चाहिये। इससे अनिष्ट की ही सम्भावना होती है। नवरत्नेश्वर में लिखा है 'समस्त

प्रकार की दीक्षाओं का अखण्डित फल मुक्ति है। "व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणा।" दीक्षा देने का अधिकारी ब्राह्मण होता है। माता द्वारा दी गई दीक्षा अठगुना फलदायक होती है। विधवा, शूद्र आदि दीक्षा देने के अधिकारी नहीं हैं। अपात्र को दीक्षा नहीं देनी चाहिये। जिसमें पात्रत्व हो वही दीक्षा का अधिकारी है। मन्त्र को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये। गुरु प्रदत्त मन्त्र किसी को प्रकट न करे। गोपनीयता के लिये लिखते हैं—'राज्यं देयं, शिरो देयं, न देयं षोडशाक्षरीम्' यद्यपि यह श्रीविद्या के लिये कहा गया है फिर भी यह सभी मन्त्रों के लिए उपयुक्त है।

श्रीविद्या—श्रीविद्या की देवता आद्याशक्ति राजराजेश्वरी पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी है। वह समस्त देव देवियों की जननी है। दुर्गासप्तशती में 'परंपराणां परमाहिस्त्वमेव परमेश्वरी' मन्त्र इन्हीं को संकेत कर लिखा गया है। यह परम ज्योति पुञ्ज एवम् वेदजननी हैं। योगी श्री अरविंद के सावित्री महाकाव्य में इन्हीं का गुणगान किया गया है। उनके अनुसार वह वेद वर्णित अदिति और दिव्य अग्नि (Celestial fire) हैं। अनामा होने के बावजूद उसके सहस्र नाम हैं। सृष्टि कर्त्री होने के नाते उन्हें जन द्वारा श्रीमाता कहा गया है। श्री ललिता सहस्र नाम का आरम्भिक पद ध्यान देने योग्य है—

'श्रीमाता श्रीमहाराज्ञी श्रीमत्सिंहासनेश्वरी
चिदाग्निकुण्डसम्भूता देवकार्य्यसमुद्यता'।

श्रीमाता को नमन, जो सिंहासनेश्वरी अर्थात् जो सिंह के आसन पर आरूढ़ हैं। वह महाराज्ञी हैं जो ब्रह्मरूपी चिदाग्नि से देव कार्य करने के लिये समुद्भूत हुई हैं। जब यह परा शक्ति विमर्ष रूपेण प्रकट होती है वह इच्छा अथवा काम का प्रतीक होता है। इसका अनेक कलाओं अथवा अंश के रूप में प्राकट्य होता है। इसे नित्य कला भी कहा गया है यथा 'कामकला ब्रह्माण्डे पिण्डाण्डे जयति सैव नित्यकला' अर्थात् महाराज्ञी श्रीमाता कामकला रूप में प्रत्येक जीव चराचर में अंश अथवा कलाओं के रूप में विराजमान है। अस्तु, उस षोडशिकारूपा नित्यकला के अनुग्रह और प्रसाद से जीवन सार्थक हो जाता है। कामकला के विमर्श से स्पन्द होता है, स्पन्द से नाद की उत्पत्ति होती है। नाद विन्दु में केन्द्रित हो जाता है। इसी विन्दु के दो सम स्थान और एक ऊपर रखकर त्रिकोण बनता है। विन्दु और त्रिकोण के संयोग से श्रीयंत्र उद्भूत हुआ है। विन्दु ही योनि या आविर्भाव स्थान है। स्थूल शरीर में सूक्ष्म-रूपेण मूलाधार स्थित त्रिकोण में त्रिवलयावृत कुण्डलिनी सुप्तावस्था में पड़ी हुई है। यह त्रिकोण त्रिपुर का भी प्रतीक है। ब्रह्मा का त्रिवृत्तात्मक स्वरूप सत, चित् आनन्द प्रभृति तीन तत्त्वों के समन्वय से ही बना है। शरीर में भी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तीन ही कोष हैं। इसी प्रकार जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन दशाएँ हैं। इच्छा, कर्म, ज्ञान भी तीन ही हैं। इस तीन का करिश्मा देखते चलें—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, आकाश, पाताल, पृथ्वी। यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि श्रीविद्या तंत्र त्रयमय है। बीजाक्षर भी तो तीन ही हैं। कालिकापुराण के अनुसार श्रीविद्या त्रय से सम्बन्धित होने के कारण त्रयमय है। नाम, रूप, मंत्र त्रिकोण सभी त्रय युक्त हैं :—

त्रिकोणं मण्डलं चास्य भूपुरंच त्रिरेखकम्।
मन्त्रोपि त्र्यक्षरा प्रोक्ता तथा रूपत्रयं पुनः॥
त्रिविधा कुण्डा शक्तिः त्रिदेवानां च सृष्टये।
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात् तस्मात्तु त्रिपुरा मता॥

इसी क्रम में त्रिविधात्मक संसार के आविर्भाव और तिरोभाव की भूमि त्रिपुरा होने से इन्हें महात्रिपुरसुन्दरी भी कहा जाता है।

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुरा भवत्वत
त्रयीमया त्वच्च पुरैव देव्या
लये त्रिलोक्यापि पुराकृत्वत
प्रायो ऽम्बिकास्य त्रिपुरेति नाम।

इनका नाम त्रिपुरसुन्दरी पड़ने का उपर्युक्त कारण भी है। यानी त्रिपुरों में परम श्रेष्ठ सुन्दरी। कामकला, कामेश्वरी, राजराजेश्वरी, पराम्बा, शिवप्रिया, शिवंकरी, शिवमूर्ति, गायत्री, व्याहृति, सन्ध्या, सावित्री, नित्य यौवना, मदशालिनी, कुलेश्वरी प्रभृति कुछ प्रख्यात नाम हैं। श्रीविद्योपासक शक्ति के साथ ही साथ शिव की उपासना करता है। इसका रहस्य त्रिपुर यानी हृदय-तालु भ्रू-मध्य यानी आज्ञाचक्र में जाकर पूर्ण होता है (त्रिपुरजागर्ति जगतां)।

श्रीचक्र—श्रीचक्र शिव दम्पति का विग्रह है। 'श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः। श्रीविद्या के मन्त्रों में कुछ शिव के, कुछ शक्ति के, कुछ शिवशक्ति के संयुक्त हैं। अस्तु, साधक कामेश्वर कामेश्वरी दोनों का ध्यान करते हैं यथा 'जीव शिवं परम शिवं संयोजयामि स्वाहा—हंसः सोहम्, सोहम हंसः।' श्रीचक्र राजराजेश्वरी पराम्बा का निलय है।

श्रीयन्त्र में नव चक्र हैं। त्रिकोणों की संख्या नौ है। ४ का कोण ऊपर की ओर, ५ नीचे की ओर, बीच का केन्द्र विन्दु विमर्शात्मक है। अस्तु ९ मन्त्रात्मक एवम् सिद्ध मन्त्र है। बीच के विन्दु को केन्द्र मान सारे त्रिकोण और वृत्तों का निर्माण होता है।

विन्दु त्रिकोण वसु कोण दशार युग्मं मन्वाश्र नागदल संयुत षोडशारं
वृत्त त्रयं च धरणी सदन त्रयंच्च श्रीचक्र मेतदुदि पर देवताया।

सौन्दर्यलहरी के ग्यारहवें श्लोक में निम्नांकित निर्माण पद्धति का उल्लेख है :—

चतुर्भिः श्रीकण्ठै, शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः॥
त्रयश्चत्वारिंशद् वसुदलरस्त त्रिवलयः
त्रिरेखाभिः सार्धं तव चरणकोणा परिणतः॥११॥

(व्याख्या के लिए विष्णुदेव तीर्थ की हिन्दी टीका अथवा संस्कृत की अनेक टीकाएँ देखी जा सकती हैं) अर्थ यह है कि ४ श्रीकण्ठ और ५ शिव युवतियाँ, इन ९ मूल प्रकृतियों के संयोग से तेरे निवास के ४३ त्रिकोण बनते हैं, जो शम्भु के विन्दु स्थान से भिन्न हैं। वे तीन वृत्तों और तीन रेखाओं सहित ८ और १६ दलों से युक्त हैं(टीका श्री विष्णुतीर्थ)। श्रीचक्र का निर्माण स्फटिक, सुवर्ण, रजत, पञ्च लौह और शालिग्राम शिला पर पूजा

जाता है। कहीं-कहीं यन्त्र शिवलिंग पर भी उत्कीर्ण पाया जाता है। चक्र अमूर्त रूप है। प्रतिमा पूजन में हम नख-शिख, अंग-प्रत्यंग का पूजन करते हैं। यही कारण है कि सौन्दर्यलहरी, शक्ति महिम्न, वरिवस्या रहस्य आदि में अंग प्रत्यंग का विशद लालित्य पूर्ण वर्णन है। काशी, प्रयाग, नैमिषारण्य आदि के ललिता मन्दिर प्रसिद्ध हैं। दक्षिण भारत के सभी प्रख्यात मन्दिरों में यन्त्र और विग्रह हैं। शृंगेरी और काञ्ची के भगवदपाद शंकर द्वारा स्थापित मन्दिरों में विशेष पूजन-अर्चन होता है क्योंकि भगवदपाद स्वयम् श्रीविद्योपासक थे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आज की उपासना बहुत कुछ उन्हीं की परम्परा में होती है यद्यपि उनमें भी अनेक आम्नाय और कुलाचार हैं। उनके पृथक् सम्प्रदाय और पूजन पद्धतियाँ हैं। सामान्यतः लोग मन्त्रोपचार पूजन करते हैं किन्तु षोडशोपचार और चतुःषष्ट (६४) प्रकार की पूजा विधियाँ भी विशिष्ट साधकों, मठों तथा मन्दिरों में अपनाई जाती हैं। आजकल इस विद्या के सर्वश्रेष्ठ साधक अनन्त-श्रीविभूषित स्वामी करपात्रीजी स्वीकार किए जाते हैं। इनका श्रीविद्यारत्नाकर उपासकों का सर्वश्रेष्ठ मार्ग दर्शक है।

श्रीयंत्र में नव चक्र हैं। कोई-कोई बिन्दु को न गिनकर आठ ही कहते हैं। इन नव चक्रों के विशिष्ट नाम और स्वरूप हैं। बिन्दु त्रिकोण श्लोक के अनुसार गणना में बिन्दु का त्याग नहीं किया जा सकता। इन नव चक्रों में पहला बाह्य चौकोर जो त्रिरेखावृत्त है, चतुरस्र कहा जाता है। ये तीनों रेखाएँ एक के बाद एक हैं जिनमें चारों दिशाओं के मध्य में चार द्वार हैं—इसे भू-पुर चक्र कहते हैं। भू-पुर से पृथ्वी तत्व का बोध जानना। इन्हीं चतुरद्वारों से मन्दिर में प्रवेश होता है। इसके पश्चात् त्रिवलय यानी ३ वृत्त हैं। चतुष्कोण और वृत्त के बीच का स्थान त्रैलोक्य मोहन चक्र है। तीन रेखाओं के बाद कमल दल—१६ दलों का कमल सर्वाशापरिपूरक चक्र है। यह चक्र सभी इच्छाओं और मनोरथों का पूरक है। उसके पश्चात् अष्टदल कमल का वृत्त सर्व संक्षोभण चक्र है। इसके पश्चात् पाँच त्रिकोण जिसका कोण नीचे की ओर है ▽ इस पर चार त्रिकोण ऊपर की ओर△ इस विधि से निर्मित ९ त्रिकोणों की संख्या ४३ हो जाती है। ऊपर के मुख वाले चतुर्दशारकोण को सर्व सौभाग्यदायक चक्र कहा गया है। यह सर्व-सौभाग्य का सूचक है। इसके भीतर का १० त्रिकोण—दशार सर्वार्थ साधक चक्र है। इसके भीतर का अन्तरदशार सर्वरक्षाकर चक्र है, समस्त विपदाओं से रक्षक, सर्व विघ्न निवारक। अब अष्टकोण लें। यह सर्वरोगहर चक्र है—हर प्रकार की व्याधियों का रक्षक (सर्वव्याधि प्रशमनी)। इसके भीतर उलटा हुआ (Inverted) त्रिकोण सर्व सिद्धिप्रद चक्र है। अन्तर बिन्दु सर्वानन्दमय चक्र है। इस प्रकार कामकला से प्रसूत इच्छा मूलक आद्याशक्ति का द्योतक और प्रत्येक चक्र का क्रमिक विकास है। इससे चक्रों के नाम का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। उन्हें पुनः गिना देना अप्रासंगिक न होगा।

(१) त्रैलोक्यमोहन यानी तीनों लोकों को सम्मोहित करने वाला।
(२) सर्वाशा परिपूरक—समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाला।
(३) सर्वसंक्षोभण।
(४) सर्वसौभाग्यदायक।
(५) सर्वार्थसाधक।
(६) सर्वरक्षाकर।
(७) सर्वरोगहर।
(८) सर्वसिद्धिप्रद।
(९) सर्वानन्दमय।

कबीर ने कैसी सीधी भाषा में 'अष्ट कमल दल चरखा डोलै' कहकर इस उपासना की पुष्टि की है यद्यपि उनका निर्गुनिया पन्थ है। श्रीयन्त्र का भी अमूर्त स्वरूप हमने ऊपर कहा है। महामुनि दुर्वासा ने आवरणों सहित निम्न श्लोक में श्रीचक्र की वर्णना की है :—

श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोष इति ते संसारचक्रात्मकं
विख्यातं तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं सर्वतः।
एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिरुरुणं श्रीसुन्दरीभिर्वृतं
मध्येबैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे॥

उक्त श्लोक की विस्तृत व्याख्या से लेख का आकार बहुत बढ़ जाएगा किन्तु यह इतना सारगर्भित है कि उद्धरण का लोभ न संवरण कर सकना कठिन हो गया। अस्तु, संक्षेप में अर्थ सारांश से महिमा स्पष्ट हो जाएगी, यथा 'हे शिवे संसार चक्र स्वरूप श्रीचक्र में स्थित बीजाक्षर रूप शक्तियों से प्रकाशमान मूल विद्या के नव बीज मन्त्रों से प्रसूत, शोभाशालिनी आवरण शक्तियों से परिवेष्टित तुम्हारा श्रीचक्र वेदों के मूल कारण ओंकार का कोष है अर्थात् श्रीचक्र के मध्य त्रिकोण में स्थित बिन्दु चक्र के ऊपर सुशोभित पञ्चमहाशव (पञ्चमहाप्रेत) से सन्नद्ध सिंहासन पर महाकामेश्वराङ्क में तू ब्रह्मात्मिका स्थित है।'

हादि कादि विद्या—त्रिपुरोपनिषद् में दोनों विद्याओं का संकेत निम्न श्रुतियों द्वारा किया गया है। सौन्दर्य लहरी का क्रम इससे भिन्न है। सौन्दर्य लहरी में कादि विद्या को मूल विद्या बताकर उससे लोपामुद्रा का निर्माण किया गया है। त्रि० प० में लोपामुद्रा को पहिले कहकर निर्माण किया गया है। कादि को मूल विद्या बताने वाली श्रुति निम्न प्रकार की है :—

'कामोयोनिः कमला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वाभिमिन्द्रः
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरुच्येषा विश्वमाताऽदिविद्या'

—अथर्ववेद

लोपामुद्रा यानी हादि विद्या के लिए निम्न श्रुति है :

'षष्ठं सप्तममथ वह्नि सारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयत्त'। पञ्चदशी के दोनों श्लोकों में दो रूप हैं। सौन्दर्य लहरी के ३२ वें श्लोक में संन्यासियों के लिये और ३३ वें में गृहस्थों के लिये हादि विद्या का उपदेश दिया गया है। गृहस्थों को सृष्टि और स्थिति न्यास तथा सन्यासियों को संहार से पूजन करना चाहिये, यथा 'सृष्टि स्थिति विनाशानां'। अन्य प्रयोगों के सिद्धि की विधि ३३ वें श्लोक में है। भगवती की आराधना या उपासना से भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं। भोगासक्त गृहस्थ के लिए श्रीचक्र पूजन, न्यास और बहिर अनुष्ठानों से युक्त कादि विद्या है। यह आणवी दीक्षा द्वारा प्राप्त होती है। सकाम अनुष्ठानों से यद्यपि कामनाओं की पूर्ति होती है, किन्तु तान्त्रिक या वैदिक उपासना में सिद्धियों का महत्व गौण है।

मन्त्र जप से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है किन्तु इसके पूर्व मल और काय शुद्धि द्वारा कायिक परिष्कार आवश्यक है। कुण्डलिनी जागरण होने पर आत्म शुद्धि स्वयं हो जाती है। कुण्डलिनी जागरण के लिए शक्ति दीक्षा आवश्यक है। कुण्डलिनी जागरित होने पर मन्त्र लय, हठ, राजयोग प्रभृति योगों का स्वतः विकास होता है। आणवी दीक्षा क्रम में गुरु मन्त्र का उपदेश करके श्रीचक्र पर भगवती की पूजन विधि बताई जाती है। शक्ति दीक्षा गुरु शक्तिपात द्वारा देता है (योगी चन्द्रमोहन)। तीसरी शाम्भवी दीक्षा शिष्य को ब्रह्मात्मैक्य भाव में ले जाकर महावाक्यों के उपदेश द्वारा होता है। श्रीविद्या का १५ अक्षरों का मन्त्र पञ्चदशाक्षरी कहा जाता है। १६ वाँ बीज लगा देने से षोडशाक्षरी हो जाती है। यह सोलहवाँ अक्षर प्रायः गुरुउपदिष्ट होता है। इसके प्रथम पञ्चाक्षर वाग्भव-कूट, बीच के ६ अक्षरों का कामकला कूट और ४ अक्षरों का अन्तिम कूट होता है जो शक्ति कूट है, यथा :—

श्रीमद्वाग्भवकूटैकस्वरूपमुखपंकजा ।
कण्ठाद्यःकटिपर्यन्तमध्यकूटस्वरूपिणी ॥३४॥
शक्तिकूटैकतापन्न कट्योऽधोभागधारिणी ।
मूलमन्त्रात्मिकामूलकूट त्रय कलेवरा ॥३५॥
कुलामृतैकरसिका कुलसंकेतपालिनी ॥३६॥
(ललिता सहस्र नाम)

इन तीनों कूटों की साधना सम्प्रति खड्गमाला, ललिता-त्रिशति तथा सहस्र नाम द्वारा की जाती है। खड्गमाला सहस्राक्षरी है। त्रिशक्ति-कादि और सहस्रनाम से हादि विद्या की साधना सम्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में माहात्म्य खण्ड में पूजा का क्रम तथा उत्तरार्द्ध में फलश्रुति है। भगवान् श्री हयग्रीव की उक्ति के अनुसार, 'कीर्तयेन्नाम साहस्रंमिदं मत्प्रीतये सदा, मत्प्रीत्या सकलान कामानल्लभते नात्र संशय :।' परास्वा आद्य शक्ति की कृपा से ही ब्रह्माण्ड का उत्कर्ष और सञ्चालन होता है, क्या इसमें भी संशय का स्थान है ?

शक्ति उपासना या कल्ट से पाश्चात्य मनीषी भी पूर्णतया प्रभावित हैं जिनमें अग्रणी सर जान उडरफ ने तन्त्र शास्त्रों के उद्धार और संरक्षण के लिए कठोर परिश्रम किया है। उनका सर्पेन्ट पावर, शिव और शक्ति, कामकला विलास, एन इन्ट्रोडक्शन टू तन्त्र शास्त्र, गारलेण्ड आफ लेटर्स, महानिर्वाण तन्त्र, आदि बहुत ही प्रसिद्ध प्रामाणिक एवम् शोधपूर्ण हैं। योग की ओर अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द तथा योगानन्द परमहंस ने महत्वपूर्ण कार्य किया। यह कथा सर्व विदित है कि राम कृष्ण परमहंस ने शक्तिपात कर विवेकानन्द का जीवन बदल दिया था। योगानन्द परमहंस की 'योगी की आत्मकथा' भी बहुत ही महत्वपूर्ण कृति है। जो श्रीविद्या की बात नहीं करते थे किन्तु कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के ही प्रभाव से इतने विख्यात हुए। महाराष्ट्र के नित्यानन्द महाप्रभु के शिष्य श्री मुक्तानन्द ने अपनी चिद शक्ति विलास नामक ग्रन्थ में कुण्डलिनी साधना और चमत्कार का विशेष वर्णन किया है। लेख बहुत विस्तृत हो गया अतः मा से क्षमा माँग कर विराम करता हूँ।

"अतोहं विश्वरूपां त्वां नमामि परमेश्वरीं"।

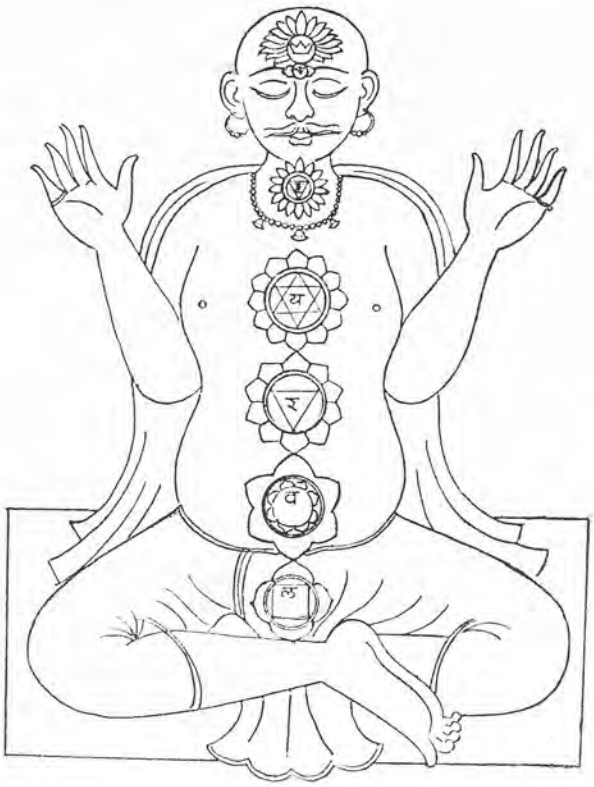

पुरी पीठाधीश्वर जगद्गुरुशंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थ जी महाराज
महंत वीरभद्र मिश्र, अखाड़ा गोस्वामी तुलसीदास, काशी द्वारा प्रसारित

श्रीचक्र स्थित गुरु-मण्डल

• श्रीरामकुमार तिवारी •

महाराज्ञी महात्रिपुरसुन्दरी ने श्रीचक्र के नव विभाग कर यथाक्रम शक्तियों का स्थान नियुक्त किया। इस प्रकार शक्ति वृन्द को नवों चक्रों में विभाग और विशेष स्थान देकर महात्रिपुरसुन्दरी स्वयं उनकी अधिष्ठात्री बनकर नव रूपों में हो गई। त्रिपुरा, त्रिपुरेशी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरवासिनी, त्रिपुराश्री, त्रिपुरमालिनी, त्रिपुरासिद्धा, त्रिपुराम्बिका और नवमी स्वयं महात्रिपुरसुन्दरी आवरण देवियों के आदि अग्र भाग में विराजमान हो गई तब ब्रह्मा आदि देवताओं ने सम्पूर्ण श्रीचक्र को शक्तिगणों से आवृत्त देखकर दिव्यरूप कामेश्वर भगवान् से प्रार्थना की कि हे षडैश्वर्य सम्पन्न कामेश आप भी अपने अंश से शिवाकार परिवार रचिए। देव गणों की प्रार्थना से सन्तुष्ट कामेश शिव ने अपने अंश से तथा भगवती के अंश से दोनों के समानांश से मित्रीश, षष्टीश, उड्डीश तथा चर्यानाथ नामक चार देवगणों की रचना की। कामेश्वर शिव ने उन शक्तिमंत्र के गुरुजनों को शान्त शरीरधारी बनाया और उनसे कहा कि तुम पृथक्-पृथक् विद्या के गुरुओं को रचो।

कामेश शिव की आज्ञा पाकर आद्य ईश ने दिव्य नाम वाले दिव्यौघ, द्वितीय ने सिद्धौघ, तृतीय ने मानवौघ गणों की क्रम से रचना की। सात, चार और नव संख्या वाले सर्व विद्यागुरु एवं नौ नाथों की, जो कालमूर्ति महाप्रभा सम्पन्न हैं, उन्हें चतुर्थ ईश ने रचा। इस प्रकार गुरु-मण्डल की क्रमिक रचना हुई।

मित्रीश आदि जो राजराजेश्वर कामेश्वर भगवान् द्वारा रचे गये हैं वे स्वच्छ स्फटिक संवित्तिरूप वाले वाणी के विद्या गुरु हैं। पराशक्ति ही पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी और परा रूप में चतुर्विध प्रकार हो शब्दमयी है। उसमें ध्वनि रूपवाला अव्यक्त है, जो वर्णात्मक, व्यक्त कहलाती है, उसमें नादस्वरूप ब्रह्म के अंकुरवाला ध्वनि सात प्रकार की है—षड्ज ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। ये सात वीणा और कण्ठ आदि से उत्पन्न स्वर हैं। इनकी षट्, सप्त, पञ्च, चार और नव संख्या के भेद से विभिन्न विविधताएँ हैं। इस प्रकार बारम्बार भेद होने से इनकी इदमित्थं संख्या गणना शक्य नहीं है। यह देव संस्थान ही सात संख्या वाले गुरु हैं। इसी से दिव्यौघ कहे जाते हैं। ये मित्रीश भगवान् से उत्पन्न हैं। व्यक्त रूप आलौकिक विद्यामय है, चार कूट वाला है, उसके आश्रय में रहने वाले सिद्धगण चार संख्या में हैं। ये सिद्धौघ कहलाते हैं। ये भगवान षष्ठीश से उत्पन्न हैं।

लौकिक मातृका रूप वाले मन्त्रमय आठ कूटेश्वरीमय हैं, उनके आश्रय में मानव हैं। अतः ये आठ संख्या वाले हैं। उड्डीश भगवान से उत्पन्न ये आठ मानवौघ हैं।

सब शब्द कालमय है। तीन मात्राओं की परम अवधिवाला ध्वनिराशि से युक्त एवं वर्ण आदि आठ वर्ग से संयुक्त है। काल के अवच्छिन्न करने वाले तुरीय पद के आश्रय में चर्यानाथ भगवान से उत्पन्न ये नवनाथ हैं।

प्रकार्श, विमर्श, आनन्द, ज्ञान, सत्य, पूर्ण स्वभाव, प्रतिभ एवं सुभग नाम के ये नव नाथ हैं। विद्या भेद से व युगभेद से ओघ चार प्रकार के हैं। मिश्रित होने से शक्तिमिश्र गुरु श्रीचक्र में व्यवस्थित हैं। गुरुविद्या प्रवर्तक पाचवाँ ओघ भी है।

श्रीचक्र में त्रिकोण में वामकोण से आरम्भ कर तीनों रेखाओं पर नव नाथों का पूजन होता है। पुनश्च मूल त्रिकोण के ऊपर महात्रिपुरसुन्दरी के पृष्ठ भाग में विमला और जयनी देवी के मध्य में अरुणा देवी के अग्र भाग में दक्षिणोत्तर तीन रेखाओं में पहली रेखा में सात दिव्यौघ, द्वितीय रेखा में चार सिद्धौघ, तृतीय रेखा में आठ मानवौघ गुरुओं का पूजन होता है। इसी तरह प्रथम रेखा में परमेष्ठि गुरु, द्वितीय रेखा में परम गुरु एवं तृतीय रेखा में स्वगुरु का पूजन होता है। इस प्रकार यंत्रराज पंचशक्ति त्रिकोणों और चार शिव त्रिकोणों से युक्त हो नव त्रिकोणात्मक होता है। संहार क्रम से शिव चक्र पूजन अथवा अग्नि चक्र पूजन और सृष्टि क्रम में पंचशक्ति से पूजन आरम्भ होता है। यही पूजा रहस्य है।

समयाचार

• डा० श्यामाकान्त द्विवेदी •

"ललिता सहस्रनाम" के भाष्य में भास्कर राय ने "कुलाङ्गना कुलान्तः स्था कौलिनी कुलयोगिनी। अकुला समयान्तस्था समयाचार तत्परा।"(३७) की व्याख्या करते हुए "समयान्तस्था" एवं "समयाचार तत्परा" नाम की व्याख्या करते हुए **'समय'** के निम्न अर्थ बताए हैं—

(१) परम्परागत रीति-रिवाज।
(२) दहराकाश में चक्र की भावना करते हुए पूजा-विधान की योजना।
(३) समयाचार मार्ग के प्रतिपादक वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन, सनत्कुमार द्वारा विवेचित संहितापञ्चक 'शुभागम पञ्चक'।
(४) शुभागमपञ्चक में विहित आचार।
(५) साम्य को प्राप्त = 'साम्यं यातीति समया भगवती'।
(६) शिव-शक्ति का साम्य-भाव। 'समय' (शिव) + समया (शिवा) का साम्यभाव।

"शंभुना पञ्चविधं साम्यं याति इति समया भगवती महात्रिपुर सुन्दरी"—अर्थात् पांच प्रकार से शंभु के साथ साम्यभाव प्राप्त करने के कारण भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही 'समया' कहलाती हैं। शंभु भी 'समय' शब्द से अभिहित किए जाते हैं क्योंकि उनका समया के साथ सम प्रधान भाव से साम्य है। 'समय' के उपासक ही 'समयी' कहलाते हैं तथा उनकी उपासना पद्धति "समय मार्ग" कही जाती है।

समय एवं समया में साम्य—समप्रधान भावापन्न 'समया' एवं 'समय' में पञ्चविध साम्य है: (१) अधिष्ठान साम्य, (२) अवस्थान साम्य, (३) अनुष्ठान साम्य, (४) रूप साम्य, (५) नाम साम्य।

अधिष्ठान-साम्य : दोनों मूलाधार चक्र के अधिष्ठान हैं।
अवस्थान-साम्य : दोनों नृत्यावस्था में स्थित हैं (लास्य+ताण्डव)।
अनुष्ठान-साम्य : सृष्टि-विधान में दोनों का पारस्परिक सहयोग है।
रूप-साम्य : दोनों के ही रूप अरुण हैं।
नाम-साम्य : 'नवात्मा' शब्द से दोनों का अभिधान होता है। (शिव + शिवा)

"रुद्रयामल तंत्र" के दश पटलों में उपदिष्ट आचार को भी 'समयाचार' कहते हैं।

षड्विध ऐक्यानुसंधान रूप महावेध संस्कार में सहस्रदल कमल में प्रविष्ट शक्ति के पुनः आधार कमल में प्रत्यावर्तन तक की प्रतीक्षावधि को भी 'समयाचार' कहते हैं। "समयाचार" नाम के तंत्र में पूजा-संकेत को भी 'समय' की आख्या दी गई है। विजया आदि द्रव्यों के ग्रहण का अभिधान भी "समय" ही किया गया है। समयाचार का प्रधान ग्रंथ "सौन्दर्यलहरी" की लक्ष्मीधरी टीका है। आचार्य गौड़पाद के ग्रंथ "सुभगोदय" को दृष्टि में रखकर भगवत्पाद शंकर ने "सौन्दर्य लहरी" ग्रंथ का प्रणयन किया। 'सौन्दर्य लहरी' की लक्ष्मीधरी टीका 'समयाचार' का प्रधान ग्रंथ है। 'शुभागमपञ्चक' के अप्राप्य होने के कारण उक्त टीका तथा 'ललितासहस्र-नाम' का भास्कर राय प्रणीत भाष्य "समयमत" के स्वरूप-विवृति के आधारग्रंथ माने जाते हैं।

'सौन्दर्यलहरी' के अष्टम श्लोक की टीका के प्रसंग में लक्ष्मीधर समयमत की मीमांसा का संकेत देते हुए कहते हैं "समय मत के पारदृश्वा भगवान शंकराचार्य समयारूपा भगवती की स्तुति करते हैं। समयाचार आन्तर पूजा को एवं कौलाचार बाह्य पूजा को कहते हैं।"

उपर्युक्त पञ्चविध साम्य-विधान का 'समयाचार' अभिधान में पुष्कल योग है। पञ्चविध साम्य की विद्वानों ने एकविध ही प्रत्युत् अनेक विध मीमांसाएँ की हैं।

"समयि"—"सह मया वर्तते" " वह मेरे साथ है"—इसी सत्य की अनुभूति करने हेतु जिस आचार में "समया" की उपासना की जाती है उस शाक्त सम्प्रदाय को 'समयाचार' का अभिधान दिया गया है।

समयमत का साहित्य—समयमार्ग का मूल स्रोत 'शुभागम पञ्चक' है, जो इस प्रकार है: (१) वसिष्ठ संहिता, (२) सनक संहिता, (३) सनन्दन संहिता, (४) सनत्कुमार संहिता, (५) शुक संहिता। इसके अतिरिक्त 'सौन्दर्य लहरी' की "लक्ष्मीधरी टीका" भी (वर्तमान काल में) श्रेष्ठतम उपलब्ध ग्रंथ है, क्योंकि शुभागम पञ्चक उपलब्ध ही नहीं है।

भास्करराय मखिवन का "ललितासहस्रनाम" पर प्रणीत भाष्य भी इस मत की व्याख्या करने वाला प्रामाणिक ग्रंथ है। ब्रह्मसूत्र के शक्तिभाष्य भी इस मत के प्रामाणिक ग्रंथ कहे जा सकते हैं, किन्तु उन्होंने भी लक्ष्मीधरी टीका का ही उद्धरण दिया है। अतः उपलब्ध साहित्य में लक्ष्मीधरी टीका ही समयमत का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है।

श्रीविद्योपासना एवं समयमत—'ललितासहस्रनाम' के भास्करी भाष्य में "कुलकुण्डालया कौल मार्ग तत्पर सेविता" (श्लोक १४४) की व्याख्या करते हुए आचार्य भास्कर राय ने श्रीविद्या की उपासना करने वाले मतों में निम्न तीन मतों का उल्लेख किया है—(१) समय मत (२) कौल मत, (३) मिश्र मत। इनमें वैदिक मार्गानुसारी आचार "समय मत" ही है। तंत्र के सप्ताचारों की दृष्टि से 'समयाचार' दक्षिणाचार से सम्बद्ध है तथा "शुद्ध तंत्र" माना जाता है। इस प्रकार शाक्त सम्प्रदायों में समयाचार सम्प्रदाय वैदिक आचार-प्रधान सम्प्रदाय है। तांत्रिक आचार-मार्गों में मुख्य रूप से दो ही आचार हैं, जो इस प्रकार हैं: (१) कौलाचार और (२) समयाचार। शंकराचार्य इसी आचार के अनुयायी थे।

कौलाचार एवं समयाचार—कौलाचार का सम्बन्ध 'वामाचार' से है, तो समयाचार का सम्बन्ध 'दक्षिणाचार' से है। कौलाचार वेद-विरोधी है, तो समयाचार वेदानुवर्ती है। कौलाचार में पञ्चमकारों का भौतिक प्रयोग विहित है, तो समयाचार में इनके अनुकल्प का प्रयोग विहित किया गया है तथा भौतिक प्रयोग की निन्दा की गई है। कौलाचार पर तिब्बती तंत्रों का प्रभाव पड़ा है, तो समयाचार पर वेदों का। कौलों के मत में ऊर्ध्वाम्नाय का सम्बन्ध 'कौलाचार' से है, तो समय मत में ऊर्ध्वाम्नाय का सम्बन्ध (कौलाचार से न होकर) समयमत से है। कौलाचार के मत में वैदिक मार्ग हेय है,तो समयमत में कौल मार्ग अवैदिक होने के कारण हेय है तथा वाममार्ग परायण होने के कारण निन्दनीय है। समयमत अन्तर्याग प्रधान है, तो कौलाचार बहिर्याग प्रधान है। कौल मत में आधार चक्र त्रिकोण ही बिन्दुस्थान है और वहाँ बिन्दु की अर्चना ही कौलों की नमस्या है, तो समयमार्गियों की दृष्टि में श्रीचक्र त्रिकोण बैन्दवस्थान है। 'बैन्दवस्थान' सहस्रकमलान्तर्गत 'सुधासिन्धु' या 'सरघा' है जो कि चतुष्कोणात्मक है। सहस्रकमल में समय एवं समया की पूजा ही समयमत की नमस्या है। समयमार्गियों की दृष्टि में "मिश्रकं कौलमार्गं च परित्याज्यं हि शाङ्करि"।*

पूजा-विधान—श्री चक्रयंत्र की पूजा का विधान सभी शाक्त सम्प्रदायों में है। इसे ही "वियत् पूजा' की भी आख्या दी गई है। यह पूजा (१) **दहराकाश** एवं (२) **बाह्याकाश** दोनों में अनुष्ठित होती है। बाह्याकाशगता पूजा **कौलों की पूजा** है। हृदयाकाश में अनुष्ठित श्रीचक्र की पूजा **सामयिकों की पूजा** है। यह दहराकाश एवं सहस्रदल कमल में सम्पन्न होती है। दहराकाशगता पूजा से ऐहिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। एतदर्थ होम, तर्पण भी विहित हैं किन्तु ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार की सिद्धियों के लिए (समयमत में) आन्तर पूजा का ही विधान किया गया है, बाह्य पूजा का नहीं। कौल प्रत्यक्ष मकार पञ्चक के उपासक हैं, तो समयी प्रतीकात्मक मकार पञ्चक के। बाह्याकाशगता पूजा कौल पूजा कही जाती है। दहराकाशगता पूजा 'समय पूजा' कही जाती है। सृष्टि क्रम की पूजा समयाचारियों की एवं संहार क्रम की पूजा कौलों की है।

* स्थानाभाव के कारण इस विषय का अधिक विस्तार संभव नहीं है।

समयाचार में मकार पञ्चक का अर्थ—(१) 'मद्य'—व्योम-पङ्कजनिस्यन्द सुधापान रतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तास्त्वितरे मद्यपायितः॥
(२) 'मांस'—पुण्यापुण्य पशुं हत्वा ज्ञान खड्गेन योगवित्।
परे लय नयेच्चित्तं मांसाशी स निगद्यते॥
(३) 'मत्स्य'—गंगायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा।
तौमत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु समवेन्मत्स्यसाधकः॥
(४) 'मुद्रा'—सत्संगेन भवेन्मुक्तिर सत्संगेषु बंधनम्।
असत्संगमुद्रणं यत्तुतन्मुद्रा प्रकीर्तिता॥
(५) 'मैथुन'—इडापिङ्गलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत्।
सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः।
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्॥

समयमत की साधना-पद्धति—श्री सुन्दरी की उपासना द्विविध प्रकार से होती है जिसे (१) बहिर्याग एवं (२) अन्तर्याग कहते हैं। समयाचारी अन्तर्यागात्मक पूजा करते हैं:—इस मत में बाह्यपूजा के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः इनकी पूजा दहराकाश एवं सहस्रार ही सम्पन्न होती है :—

"समयिनां मंत्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपोनास्ति। बाह्य पूजा होमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमलमेवं सर्वं यावदनुष्ठेयम्"।

समयाचारी वैदिक आचार-विचार का आत्मीकरण करते हुए 'श्री विद्या' की आन्तर उपासना करते हैं। प्रभात स्नान, संध्यावंदन, मध्याह्न जप, पुरोडाशादिक का अशन, स्वस्त्री के साथ संभोग को ही ये विधेय मानते हैं न कि मदिरादिक को। नित्य पञ्चयज्ञ का विधान भी इन्हें मान्य है, किन्तु ये आन्तर पूजा पर बल देते हैं। ये मातृ उपासक हैं, क्योंकि समयमार्ग में श्रीविद्या की ही उपासना का विधान है।

इनकी उपासना का लक्ष्य है मूलाधार प्रसुप्ता कुण्डलिनी का योग-विधि से प्रबोधन करके सहस्रारस्थ शिव के साथ सामरस्य कराना। दहराकाश में श्रीचक्र की कल्पना करके पूजा विधानात्मक **'समय' नामक अन्तर्याग के द्वारा** ही ये **सामरस्य की प्राप्ति** कराते हैं। इसीलिये इस सम्प्रदाय को **'समयाचार'** कहते हैं। सहस्रार के मध्य चतुष्कोण चन्द्र-मण्डल ही समयाचारियों का **'बिन्दुस्थान'** है जिसे वे **"सुधासिन्धु"** या **"सरघा"** भी कहते हैं। समयाचारी इसी 'सरघा' में 'समय' एवं 'समया' की आन्तर पूजा करते हैं। इनकी दृष्टि में बाह्य त्रिकोणादि में पूजन हेय है। अन्तिम स्थिति में कौल एवं समयाचारियों में कोई भेद नहीं रह जाता, किन्तु इसके पूर्व दोनों में यथेष्ट भिन्नता है।

श्रीचक्र की साधना का लक्ष्य है ज्ञाता (साधक), ज्ञान (श्रीचक्र), ज्ञेय (त्रिपुरा) में तादात्म्य की प्राप्ति कराना। यह चक्र 'श्री यंत्र' कहलाता है जिसकी अधिष्ठात्री देवी ललिता या महात्रिपुरसुन्दरी है। इस यंत्र के अन्दर अनेकों चक्र हैं जो कि 'सर्वानन्दमय' नामक बिन्दु से विकसित हुए हैं। श्री यंत्र के मध्य में पराशिवशक्ति स्थित हैं।

समयमत का तात्विक रहस्य—

सूर्य चन्द्र दोनों का देवयानपितृयाणात्मक इडा पिंगला मार्ग से अहोरात्र संचरण होता रहता है। 'चन्द्र' वामनाडी मार्ग से संचरण करता हुआ द्विसप्ततिसहस्र नाड़ी मार्ग को अमृत से सिंचित करता है। सूर्य दक्षिण नाड़ी मार्ग से संचरण करता हुआ तदुत्सिक्त अमृत बिन्दुओं का शोषण करता है। जब सूर्य-चन्द्र दोनों का आधार चक्र में समावेश होता है तब **'अमावस्या'** तिथि का आविर्भाव होता है और उससे ही कृष्णपक्ष की तिथियों का उन्मेष होता है। कुण्डलिनी शक्ति सूर्य किरण के संपर्क के कारण चन्द्रमण्डल मध्य से निःसृत पीयूष के द्वारा परिपूरित आधार-कुण्ड में सोती है। कुण्डलिनी की यह निद्रावस्था ही **"कृष्णपक्ष"** है। जब योगी समाहित चित्त होकर चन्द्र को चन्द्रस्थान में एवं सूर्य को सूर्यस्थान में वायु के द्वारा निरुद्ध करने हेतु सक्षम होता है तब चन्द्र-सूर्य निरुद्ध अमृत के आहरण में अशक्त हो जाते हैं। अमृत कुण्ड में सुप्त कुण्डलिनी निराहार होने के कारण जाग्रत होकर सर्पवत् फुत्कार करती हुई ग्रंथित्रय का भेदन करती हुई सहस्रदलकमल के मध्यवर्ती चन्द्रमण्डल को डस लेती है। परिणामस्वरूप उसमें से अमृतधारा निकल पड़ती है। इस अमृतधारा के द्वारा आज्ञा चक्र के ऊपर स्थित चन्द्रमण्डल को आप्लावित करती हुई तत्क्षरित चन्द्रामृत से समस्त शरीर को आप्लावित कर देती है।

"सहस्रदलपद्म" में स्थित **चन्द्रमण्डल, आज्ञा चक्र के ऊपर स्थित चन्द्र मण्डल से भिन्न है।** आज्ञा चक्र के ऊपर स्थित **चन्द्रमा की कला पञ्चदश नित्याएँ हैं।** ये कलाएँ आज्ञा चक्र के नीचे विशुद्ध चक्र में परिवर्तित होती हैं। सहस्रदलस्थ चन्द्रमण्डल ही **चित्कलायुक्त बिन्दुस्थान** है। योगियों को कृष्ण पक्ष का त्याग करके शुक्ल पक्ष में ही कुण्डलिनी-जागरण करना चाहिए। शुक्लपक्ष की समस्त तिथियाँ **'पूर्णमासी'** कही जाती हैं। कृष्णपक्ष की अमावस्या के अन्तर्गत होने के कारण अमावस्या ही कृष्णपक्ष है।

सूर्य-चन्द्र की गति का निरोध एवं मूलबंध उड्डीयान बंध, जालन्धर बंध के अभ्यास से सम्पन्न होकर सुषुम्णा में जब प्राण-प्रवाह होता है तब षट्चक्रों का ज्ञान होता है। **षट्चक्र सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध हैं। 'आधारपद्म'** अंधकारमय होने से, **'स्वाधिष्ठान'** अंधकार एवं प्रकाशमय होने से, **'मणिपूर'** अनाहत पर्यन्त तम-प्रकाश मिश्र होने से, विशुद्ध के चन्द्रलोक एवं आज्ञा के 'सुधालोक' होने पर भी सूर्यकिरण के संपर्क होने से ज्योत्स्ना का अभाव होने के परिणामस्वरूप ये सभी चक्र ध्यानोपयुक्त नहीं हैं। समाधिनिष्ठ योगी जन बिन्दु, चन्द्र, निरोधिका, नाद एवं नादान्त **तुरीयावस्था** में ही ध्यान करते हैं शक्ति, व्यापिका, समना, उन्मना **तुरीयातीतावस्थाएँ** हैं। इनके ऊपर स्थित **सहस्रार** का बिन्दुस्थान पूर्ण ज्योत्स्नामय होने के कारण **समयचारियों के लिये ध्येय** है।

सहस्रदल कमल की पूजा—

सहस्रदल कमल की पूजा का लक्ष्य है बिन्दुचित्कला के साथ शिव-शक्ति का सामरस्य रूप अनुसंधान। यह अनुसंधान चतुर्विधात्मक है—

(१) आधारादिक षट्चक्रों का त्रिकोण के साथ तादात्म्य।

(२) बिन्दुस्थान चतुरस्र का सहस्रदल के साथ तादात्म्य।
=बिन्दु-शिव का तादात्म्य।

(३) शक्ति एवं शिव का त्रादात्म्य।

(४) मंत्र एवं चक्र के साथ तादात्म्य।

यही समाराधन **"महारहस्य"** कहा जाता है।

समयमत में सादाख्य-तत्व-स्वरूप **'समय' की "सहस्रदल कमल" में पूजा** होती है। समयाचारी योगी सादाख्य तत्व के चिन्तन में रत रहते हैं। उनसे भिन्न आराधक **चतुर्विध ऐक्य एवं षड्विध ऐक्य** का अनुसंधान करते हैं किन्तु वे भी बाह्यपूजा नहीं करते। समयाचारी, मंत्रपुरश्चरण, जप, बाह्य होम एवं बाह्यपीठादि में बाह्यपूजादिक नहीं करते। उनकी समस्त क्रियाएँ हृदयकमल में अनुष्ठित होती हैं।

समयमत का साधन-क्रम—

समयमत में त्रिपुरा का समाराधन सहस्रदल कमलस्थ बिन्दु स्थान में होता है। "पूर्ण चन्द्रमण्डल' या "सुधासिन्धु" में श्री चक्र का न्यास करके चिन्मयी कला, आनन्द रूप आत्मा, श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी की पूजा की जाती है। उसकी षोडश कलाएँ हैं। उसकी तिथि रूपा १५ कलाएँ घटती बढ़ती रहती हैं, किन्तु षोडशी कला सच्चिदानन्दरूपिणी है। मातृका के १६ स्वरों के साथ प्रत्येक कला का योग करके उनका ध्यान एवं पूजन किया जाता है। शुक्लपक्ष का क्रम निम्नानुसार है—

तिथि	शक्ति	तिथि	शक्ति	तिथि	शक्ति
प्रतिपदा	त्रिपुरसुन्दरी	पंचमी	भेरुण्डा	नवमी	त्वरिता
द्वितीया	कामेश्वरी	षष्ठी	वह्निवासिनी	दशमी	कुलसुन्दरी
तृतीया	भगमालिनी	सप्तमी	वज्रेश्वरी	एकादशी	नीलपताका
चतुर्थी	नित्यक्लिन्ना	अष्टमी	रौद्री	द्वादशी	विजया
तिथि	शक्ति	तिथि	शक्ति	तिथि	शक्ति
त्रयोदशी	सर्वमण्डला	चतुर्दशी	ज्वालामालिनी	पञ्चदशी	मालिनी

च. **कृष्ण पक्ष में प्रतिलोम से पूजन** सम्पन्न होता है।

षोडश स्वर 'अः' के साथ **नित्यषोडशी कला रूप मूल विद्या** का सभी **तिथियों में पूजन** किया जाता है। **कौलमत में प्रति दिन एक ही नित्या की पूजा** की जाती है। **समयमत** में सभी का पूजन प्रतिदिन किया जाता है। नित्याओं का स्थान विशुद्ध चक्र है। षटचक्रों में वर्णों की स्थिति निम्नाङ्कित है—

सं०	चक्र	वर्ण
१.	स० के बिन्दु स्थान में	१६ वाँ 'अः' स्वर
२.	विशुद्ध में	१६ स्वर
३.	अनाहत	क से ठ तक (१२ सूर्यों के रूप में)
४.	मणिपूर	डकार से आरंभ करके ठकार पर्यन्त आग्नेय वर्ण
५.	स्वाधिष्ठान	बकार से लकार तक 'मिश्र'
६.	मूलाधार	'अधतामिश्र': व श ष स

मातृका	ग्रंथि	पञ्चदशा मंत्र	कला
सूर्य	रुद्र	हादिकूट	११६
चन्द्र	विष्णु	सादिकूट	१३६
अग्नि	ब्रह्म	कादिकूट	१०८
३	३	३	३६०
			संवत्सर रूप

कलाएँ स्वसम्बद्ध षट्चक्रों को आवृत्त किए हुए हैं। श्री चक्र का षट्चक्रों के साथ भी समन्वय है। सहस्रदल कमल, प्रकाशमयी नित्याकला से युक्त चन्द्रबिम्ब ही श्री चक्र है। **सदाशिव के साथ सादाख्य कला का ध्यान** करणीय है। वही 'बिन्दु' है।

(१) षट्चक्र का षट्चक्रों के साथ तादात्म्य है।

(२) मंत्र का श्री चक्र के साथ तादात्म्य है—

(क) ३ ह्रीं+षोडशी का श्रीं बीज=शिवचक्र चतुष्टय त्रिकोण में बिन्दु **अक्षमाला**—(अ—क्ष पर्यन्त) रूप में अन्तर्भुक्त हैं।

(ख) य+र+ल+व+श + ष+ स+ह = (८)—अष्टकोण रूप हैं।

(ग) क–च–ट–त–प वर्ग (२०) =दशारद्वय में।

(घ) ५ वर्ण – अनुस्वार— विसर्ग से=बिन्दु में।

(ङ) १४ स्वर =चतुर्दशार में।

(च) प्रथमकूट के ककार+सादिकूट के अन्तिम लकार=कला-रूप सभी मातृकाएँ।

मंत्र—चक्र की एकता का ध्यान-अविद्यानिवृत्ति शुक्ल धर्म की वृद्धि।

खण्ड	खण्ड	खण्ड	प्रथम खण्ड के ऊपर	द्वि० खं० के ऊपर	तृ० खं० के ऊपर
प्रथम	द्वितीय	तृतीय			
मूलाधार+	मणिपूर+	विशुद्धाख्य+	अग्निस्थान	सूर्य स्थान	चन्द्रस्थान
स्वाधिष्ठान	अनाहत	आज्ञाचक्र	(रुद्रग्रंथि)	(विष्णुग्रंथि)	(ब्रह्मग्रंथि)।

(३) पञ्चदश नित्या, पञ्चदशाक्षरी विद्या, पञ्चदशतिथियों में भी तादात्म्य है।

तिथियों के खण्ड	तिथियों के नाम (वैदिक)
१. आग्नेयखण्ड	दर्शा, दृष्टा, दर्शता, विश्वरूपा, सुदर्शना।
२. सौरखण्ड	आप्यायमाना, आप्यायमाना, आप्यायी सूयता इरा।
३. चान्द्रखण्ड	आपूर्यमाणा आपूर्यमाणा पूरयन्ती, पूर्णा, पौर्णमासी॥

कला एवं चक्रों का समन्वय—

बैन्दव+ त्रिकोण	अष्टकोण	दशारद्वय+ चतुर्दशार	अष्टदल	षोडशदल	चतुष्कोण
चिद्रूप	शान्त्यतीता	शान्ति	विद्या	प्रतिष्ठा	निवृत्ति

श्रीचक्र का भावन—(१) सकल, (२) सकल निष्कल, (३) निष्कल (यो० ह०)। इस संदर्भ में भी समयाचार एवं कौलों में मतभेद है।

कुण्डलिनीयोग—समस्त सृष्टि की सृजनकर्त्री महाशक्ति सृजनोपरान्त प्राणी के मूलाधार चक्र में भुजंगाकारा होकर सो जाती है। इस निद्रायमाण शक्ति का नाम ही कुण्डलिनी है, जो अनादिकाल से सो रही है।

"भुजङ्गाकाररूपेण मूलकन्द समाश्रिता।
शक्तिः कुण्डलिनी नाम विसतन्तुनिभा शुभा॥"(वा० तं०) (१)

शाक्त परम्परानुसार साधक को साधना-क्रम में त्रैलोक्य मोहनादि चक्र के आधार में स्थित वह्निमण्डल में स्थित वाग्भव बीज के शिखरवर्ती कामकलान्तर्गत हार्धकला रूप "वह्नि कुण्डली" के उत्थान से उदित हृद्गत कामराजबीजपर्यन्त व्यापक नादमयता का भावन करना चाहिए तथा वाग्भवबीज का जप भी करना चाहिए। सर्वसौभाग्यदायक आदि चक्र त्रय का हृदयस्थसूर्यमण्डल में स्थित कामराजशिखरवर्तीकामकलान्तर्गत हार्धकला रूपा"**सूर्यकुण्डलिनी**" के उत्थान से उदित बिन्दुस्थान शक्तिबीज पर्यन्त व्यापक नादमयता का भावन एवं कामराज बीज का जप करना चाहिए। सर्वरोगहरादि चक्रत्रय के बिन्दुस्थान के इन्दुमण्डल के अन्तर्गत शक्ति बीज शिखरवर्ती कामकलान्तर्गत हार्धकला रूप सोमकुण्डलिनी के उत्थान से उदित ब्रह्मरंध्र के ऊपर स्थित शिवतत्वातीत समनापर्यन्त व्यापक नाद के साथ उन्मनी लय-भावन एवं शक्ति बीज जप करणीय है। प्रथम कूट में जो हृल्लेखा है तथा उसके अन्तर्गत जो कामकला है उसमें वर्तमान समरार्ध कला ही **'वह्निकुण्डलिनी'** है। वही कुण्डलिनी शक्ति द्वितीय कूट में **'सूर्यकुण्डलिनी'** एवं तृतीय कूट में **'सोमकुण्डलिनी'** की आख्यापाती है।

कुलकुण्डलिनी—मूलकन्द को कणाग्र से कमलकन्दवत् देखकर एवं अपने मुख से पूँछ को दबाकर ३½ वलयों में वलयित होकर तथा ब्रह्मरंध्र पथ को आवृत्त करके मूलाधार केन्द्र में जो शक्ति सो रही है, उसी महामाया, अजा, सृष्टिस्वरूपा, विसतन्तुनिभा, विद्युल्लता महाशक्ति का नाम कुण्डली है : "मूलकंदं फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत्।

मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरंध्रं समाश्रिता॥"—(वा० तं०)।

परम व्योम में चित्कला युक्त चन्द्रमण्डल के अधोमुखी सहस्रार की कर्णिका में स्थित अकुलकुण्डलिनी के साथ कुलकुण्डलिनी की एकता ही कु० योग का लक्ष्य है।

योगी का लक्ष्य, उक्त शक्ति का यौगिक क्रियाओं द्वारा प्रबोधन करके, उसका सहस्रारस्थ सदाशिव के साथ सामरस्य कराना है।

प्रबोधन-क्रम—साधक को पद्मासनस्थ होकर गुदेन्द्रिय का आकुञ्चन करते हुए वायु को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए। वायु के आघात से स्वाधिष्ठानस्थ अग्नि प्रज्वलित हो उठती है और अग्नि के प्रज्वलन से कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है। परिणामस्वरूप ग्रंथित्रय एवं षट्चक्रों का भेदन होता है। अन्ततः यह शक्ति मूलाधार से चलकर सहस्रार में शिव के साथ सामरस्य-लाभ करती है। यही कुण्डलिनी का 'परावस्था' है।

"रुद्रग्रंथि ततो भित्वा विष्णुग्रंथि भिनत्ति यः।
ब्रह्मग्रंथि च भित्वैव कमलानि भिनत्ति षट्॥
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते
सा चावस्था परा ज्ञेया सैव निवृत्तिकारणम्॥"[१]

१. वामकेश्वरतंत्र।

कुण्डलिनी-यात्रा के दो क्रम––कुण्डलिनी-यात्रा के दो क्रम हैं: (१) आरोहक्रम, (२) अवरोहक्रम।

आरोहक्रम––मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध चक्रों एवं तद्गत तन्मात्राओं पर विजय करने के बाद आज्ञाचक्र में इन्द्रियों के साथ मन का भी वेधन करके शक्ति सहस्रार में शिव के साथ तादात्म्य प्राप्त करती है। शक्ति की यात्रा का यह क्रम आरोहक्रम कहलाता है।

अवरोहक्रम––सहस्रार में शिव के साथ सामरस्य प्राप्त करने के उपरान्त आज्ञा, विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान के क्रम से शक्ति का मूलाधार में आकर पुनः सो जाना **अवरोहक्रम** कहलाता है।

समयमत में (समयक्रम में) मूलाधारस्था कुण्डलिनी का साधन न करके सहस्रारस्था कुण्डलिनी ('अकुलकुण्डलिनी')[1] का साधन किया जाता है। **समयी सहस्रार चक्र को ही मूलाधार मानते हैं। समयाचार सृष्टिक्रम का साधन है।** अतः इस मत में आराधनारंभ सहस्रार में ही होता है क्योंकि स्वा० के नीचे स्थित मूलाधार अन्धतामिस्र लोक होने से हेय है।

श्रीचक्रराज–सृष्टि के समष्टिरूप का यंत्रात्मक शरीर ही चक्रराज है। यह शिव-शक्ति की यंत्र-काया है। श्रीचक्र **नवावरण युक्त है।** शिव के चार त्रिकोण एवं शक्ति के पाँच त्रिकोणों के मिलने पर निर्मित नव त्रिकोणों से ४३ कोणों वाला एवं अष्टदल, षोडशदल, वृत्तत्रय एवं भूपुर के साथ "श्री चक्र" का निर्माण होता है। शैव एवं शाक्त चक्रों के पारस्परिक अविनाभाव संबंध का ज्ञाता ही 'चक्रविद' है। श्रीचक्र का परिचय निम्नांकित है :––

सं०	चक्र	शक्तियाँ
१.	त्रैलोक्यमोहन	नाद
२.	सर्वाशापरिपूरक	बिन्दु
३.	सर्वसंक्षोभण	कला
४.	सर्वसौभाग्यदायक	ज्येष्ठा
५.	सर्वार्थसाधक	रौद्री
६.	सर्वरक्षाकर	वामा
७.	सर्वरोगहर	विषघ्नी
८.	सर्वसिद्धिकर	दूती
९.	सर्वानन्दमय	सर्वानन्दा

श्रीचक्र एवं षट्चक्र का समन्वय	श्री चक्र का प्रस्तार त्रय
१. त्रिकोण-आधार में २. अष्टकोण-स्वाधिष्ठान में ३. दशार––मणिपुर में ४. द्वितीय ––अनाहत में दशार ५. चतुर्दशार––विशुद्धाख्य में ६. शिवचक्र आज्ञा चक्र में चतुष्टय चतुरस्र- सहस्र बिन्दुस्थान दल कमल	(१) मेरु प्रस्तार =महात्रिपुरसुन्दरी का १६ नित्याओं के साथ तादात्म्य (२) कैलास प्रस्तार =मातृका वर्णों के साथ तादात्म्य (३) भू-प्रस्तार के साथ तादात्म्य

श्रीचक्र के अर्द्ध चक्रद्वय––
(क) शिव चक्र–– १. बिन्दु २. अष्टदल ३. षोडशदल ४. चतुरस्र (ख) शक्ति चक्र– १. त्रिकोण २. अष्टकोण ३. दशार ४. द्वितीय दशार ५. चतुर्दशार

श्री चक्र के नवावरण
१. बिन्दु त्रिकोण २. अष्टकोण ३. अन्तर्दशार ४. बहिर्दशार ५. चतुर्दल पद्म ६. अष्टदल ७. षोडश दल ८. वृत्त त्रय ९. चतुर्द्वार युक्त भूपुर

समयमत एवं कौल मत में
चक्रों की उन्मुखता का क्रम (१) समय मत–– शक्ति के पाँचों त्रिकोण ऊर्ध्वमुख होते हैं तथा शिव के चार त्रिकोण अधोमुख बनाए जाते हैं। (२) कौल मत––शक्ति के ५ त्रिकोण अधोमुख एवं शिव के ४ त्रिकोण ऊर्ध्वमुख बनाये जाते हैं।

श्री चक्र के पूजन का क्रम
(१) समय पूजन सृष्टि क्रम का पूजन। २. कौल पूजन संहार क्रम का पूजन। प्रथम बिन्दु से बाह्य की ओर तथा द्वितीय बाह्य से बिन्दु की ओर।

१. "अकुलकुण्डलिन्या संगम्य"

चक्रों की शक्तियाँ—

चक्र प्रथम	चक्र द्वितीय	चक्र तृतीय	चक्र चतुर्थ	पंचम चक्र	षष्ठ चक्र	चक्र ६ योगिनियाँ
१. परा देवता	१. कामेश्वरी २. वज्रेश्वरी ३. भगमालिनी	१. वशिनी २. कामेश्वरी ३. मोहिनी ४. विमला ५. अरुणा ६. जयिनि ७. सर्वेश्वरी ८. कौलिनी	१. सर्वज्ञा २. सर्वशक्तिप्रदा ३. सर्वैश्वर्यप्रदा ४. सर्वज्ञानमयी ५. सर्वव्याधि-नाशिनी ६. सुधाधारा ७. सर्वपापहारा ८. सर्वानन्दमयी ९. सर्वरक्षा १०. सर्वोपरि फलप्रदा	१. सर्वसिद्धिप्रदा २. सर्वसम्पत्प्रदा ३. सर्वप्रियंकरी ४. सर्वमंगलकारिणी ५. सर्वकामप्रदा ६. सर्वदुःखविमोचिनी ७. सर्वमृत्यु प्रशमिनी ८. सर्वविघ्न-निवारिणी ९. सर्वाङ्गसुन्दरी १०. सौभाग्यदायिनी	१. अलम्बुधा २. कुहू ३. विश्वोदरी ४. हस्तिजिह्वा ५. वरुणा ६. यशोवती ७. पयस्विनी ८. गांधारी ९. पूषा १०. शंखिनी ११. सरस्वती १२. इड़ा १३. पिंगला १४. सुषुम्णा इन नाड़ियों के अधिष्ठात्री देवियों की पूजा	१. सर्वसंक्षोभिणी २. सर्व विद्राविणी ३. सर्वाकर्षिणी ४. सर्वाह्लादिनी ५. सर्व सम्मोहिनी ६. सर्वस्तंभिनी ७. सर्वजृम्भिनी ८. सर्ववशंकरी ९. सर्वरञ्जिनी १०. सर्वोन्मादिनी ११. सर्वार्थसाधिनी १२. सर्व संपत्तिपूरणी १३. सर्वमंत्रमयी १४. सर्वद्वन्दक्षयंकरी (छठें चक्र की योगिनियाँ)

चक्र सप्तम	चक्र अष्टम (१६ दल पद्म) शक्तियाँ	
१. अनङ्ग कुसुमा २. अनङ्ग मेखला ३. अनङ्गमदना ४. अनंगमदनातुरा ५. अनङ्गरेखा ६. अनङ्गवेगिनी ७. अनङ्ग मदनांकुशा ८. अनंगमालिनी	१. मन २. बुद्धि ३. अहंकार ४. शब्द ५. स्पर्श ६. रूप ७. रस ८. गंध ९. चित्त १०. धैर्य ११. स्मृति १२ वाङ्मय आदि	१. कामाकर्षिणी २. बुद्धयाकर्षिणी ३. अहंकाराकर्षिणी ४. शब्दाकर्षिणी ५. स्पर्शाकर्षिणी ६. रूपाकर्षिणी ७. रसाकर्षिणी ८. गंधाकर्ङ्क्षिणी ९. चित्ताकर्षिणी १०. धैर्याकर्षिणी ११. स्मृत्याकर्षिणी १२. नामाकर्षिणी १३. बीजाकर्षिणी १४. आत्माकर्षिणी १५. अमृताकर्षिणी १६. शरीराकर्षिणी

भू-पु-र

चक्र नवम : चतुष्कोण

३ रेखा	१० मुद्रा शक्तियाँ	१० सिद्धियाँ	१० दिग्पाल
	१. सर्व संक्षोभिणी २. सर्वविद्राविणी ३. सर्वाकर्षिणी ४. सर्ववशंकरी ५. सर्वोन्मादिनी ६. सर्वमहांकुशा ७. खेचरी ८. सर्वबीजा ९. सर्वयोनि १०. त्रिखण्डा	१. अणिमा २. लघिमा ३. महिमा ४. ईशित्व ५. वशित्व ६. प्राकाम्य ७. भुक्ति ८. इच्छा ९. प्राप्ति १०. सर्वकाम	१. इन्द्र २. अग्नि ३. यम ४. निर्ऋति ५. वरुण ६. वायु ७. सोम ८. ईशान ९. अनन्त १०. ब्रह्म

चक्राराधन में अनुसंधेय ऐक्यचतुष्टय

(१) १६ नित्याओं की मंत्रगत षोडशवर्णात्मकता।
(२) १६ वर्णों का ५१ वर्णों के साथ ऐक्य।
(३) ५१ वर्णों की सूर्य-चन्द्र-अग्निकलात्मकता।
(४) सूर्य-चन्द्र-अग्नि रूप से त्रिखंडत्व।

अष्टमातृकाएँ

१. ब्राह्मी	५. वाराही
२. माहेश्वरी	६. माहेन्द्री
३. कौमारी	७. चामुण्डा
४. वैष्णवी	८. महा लक्ष्मी

श्रीचक्रराज एवं उसकी पूजा

(१) श्रीचक्र की उत्पत्ति—

"यदा सा परमाशक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ॥"[१]

त्रिपुराभियान पर ब्रह्म जब स्वेच्छया विश्व सर्जनरूपा अपनी स्फुरत्ता को आविर्भूत करता है तब षट्त्रिंशदात्मक जगत के सृष्टि काल में सर्व-प्रथम विश्वमय श्री चक्र का आविर्भाव होता है।

(२) श्रीचक्र का अवयव संस्थान—

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः ।
शिवशक्त्यात्मकं ज्ञेयं श्री चक्रं शिवयोर्वपुः ॥

"शिव" (नवयोनि चक्र के मध्य चतुर्योन्यात्मक अर्धचक्र) एवं "शक्ति" (पञ्चयोन्यात्मक अर्धचक्र) के सयोग से शिव शक्ति वपु श्री चक्र का आविर्भाव होता है। उपर्युक्त अर्धचक्र द्वय का संयोग—शिव शक्ति सामरस्य = श्री चक्र।

(३) श्री चक्र का स्वरूप—

'श्रीचक्र' या 'श्रीयंत्र' ललिता या त्रिपुरसुन्दरी (श्री विद्या की देवता) का यंत्र है। इसके भीतर अनेक चक्र हैं जो कि 'सर्वानन्दमय' नामक 'बिन्दु' से विकसित हुए हैं। इसके मध्य में परा-शिव-शक्ति समासीन है। 'श्रीचक्र' कादिमत एवं हादिमत दोनों में पूज्य है। श्री चक्र का लक्ष्य ऐकात्म्य प्राप्ति है :—

ज्ञातास्यात्माभवेज् ज्ञानम् अर्घ्यं ज्ञेयं हविः ।
स्थितं श्री चक्र पूजानाम् तेषां एकीकरणं ईरितम् ॥[२]

ज्ञाता + ज्ञान + ज्ञेय में ऐकात्म्यानुसंधान ही श्रीचक्र का लक्ष्य है। श्रीचक्र शिव-शक्ति का यंत्रात्मक शरीर है। यह नौ त्रिकोणों से निर्मित है। प्रत्येक त्रिकोण एक दूसरे के अन्दर स्थित है जो कि वृत्त एवं दलों से आवृत्त है। ऊर्ध्ववर्ती चार त्रिकोण शिव का एवं अधोवर्ती पाँच त्रिकोण शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। चक्र का मध्य 'बिन्दु' कहलाता है, जो कि शिव की शक्ति के साथ या **कामेश्वर का कामेश्वरी के साथ एकता का प्रतीक है**। 'बिन्दु' से बाह्य की ओर एकाग्रता या विकास "सृष्टिक्रम" है तथा वृत्त से बिन्दु की ओर एकाग्रता (ध्यान) "लय क्रम" है। देवी का मंत्र निम्न है :—

"ह्रीं श्रीं महात्रिपुरा सुन्दरी नमः ॥"[३]

साधनावस्था में साधक अपने को 'श्रीयंत्र' के रूप में कल्पना करता है।

(४) श्रीचक्रभूतलिपिविन्यास—(क) "योगिनीहृदय" के मत में—५१ वर्णों का श्री चक्र में विन्यास :

(१) अष्टकोण में १६ स्वर, (२) **प्रथमदशार में**—मकारादि क्षकारान्त १० वर्ण, (३) **द्वितीयदशार में**—ककारादि १० वर्ण, (४) **चतुर्दशार में**—रादिमान्त १४ वर्ण।—"योगिनी हृदय"।

(ख) **'कामकलाविलास'** के मत में—(१) अष्टकोणः श, ष, स, पवर्ग (१) प्रथमदशार—तवर्ग + टवर्ग, (३) द्वितीय दशार—चवर्ग + कवर्ग (४) चतुर्दशार—१४ वर्ण।

(५) श्रीचक्र की पञ्चशक्ति, चतुर्वह्न्यात्मकता—

श्री चक्र ५ शक्ति + ४ वह्नि के संयोग से उत्पन्न होता है।

(६) श्रीचक्र की वाक्चतुष्टयात्मकता : "योगिनी हृदय" के मत में :—

(१) बन्दव चक्र = परावाक्, (२) मध्य-त्र्यश्र—पश्यन्ती मध्यमा तथा अष्टारादि चतुर्दशारान्त वैखरी वर्णों की स्थिति है।

(७) श्री चक्र का क्रमद्वय—

(१) **सृष्टिक्रम**—नवयोन्यादि पृथिव्यन्त, (२) **संहारक्रम**—पृथिव्यादि नवयोन्यन्त।

इसका समस्टि रूप ही "त्रिपुरा चक्र" कहा जाता है।

(८) श्रीचक्र (श्री विद्या के सन्तान-क्रम) :—

(१) कामराज सन्तान क्रम = "कादिमत"—कामेश्वरी प्राधान्य।
(२) लोपामुद्रा सन्तान क्रम = "हादिमत"—कामेश्वर प्राधान्य।

(९) श्रीचक्र की नवनित्यात्मकता एवं षोडशनित्यामयता—

(क) (१) समष्टि सृष्टि, (२) सृष्टि सृष्टि, (३) स्थिति सृष्टि, (४) संहार सृष्टि, (५) अनाख्य = "सृष्टि पञ्चक"—**पूर्व दिशा में**, (ख) **स्थिति पञ्चक**—दक्षिण में, (ग) "**संहार पञ्चक**"—पश्चिम में, (घ) अनाख्य—उत्तर में।

श्री चक्र नवनित्यात्मक एवं षोडशनित्यामय है।

(१०) श्री चक्र के चार रूप—

(१) सृष्टि चक्र, (२) स्थिति चक्र, (३) संहार चक्र, (४) अनारब्ध।

(१) चतुरस्र + पद्मद्वय = सृष्टिचक्र = अनलाधिष्ठातृक चक्र।
(२) चतुर्दशार + दशारद्वय = स्थिति चक्र = सूर्याधिष्ठातृक चक्र।
(३) अष्टार + मध्य + त्र्यश्र = संहार चक्र = सोमाधिष्ठातृक चक्र।

(११) श्री चक्र की धामत्रयात्मकता—(आन्तरपीठ चतुष्टय)—

(१) **कामरूपपीठ**—अग्निचक्रात्मकत्व, (२) **जालंधर पीठ**—सूर्य-चक्रात्मक, (३) **पूर्णागिरिपीठ**—सोमचक्रात्मकत्व, (४) **ओड्यारण पीठ**—ब्रह्म चक्रात्मकत्व।

श्री चक्र एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से 'ज्ञाता' 'ज्ञान-साधन' एवं 'ज्ञेय' में ऐकात्म्य स्थापित कराया जाता है। यह शिवशक्ति का यंत्रात्मक शरीर है।

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी जो कि बिन्दु-त्रिकोण-चक्रेश्वरी हैं—९ चक्रों के देवताओं के साथ तादात्म्य प्राप्त कर के भिन्न-भिन्न चक्रों की अधीश्वरी कहलाती हैं। इनके नाम समय-पूजा-क्रम में निम्नांकित हैं—

(१) योगिनी हृदय (११९-१०)। (२) तंत्रराज तंत्र। (३) कामकलाविलास।

(१) महात्रिपुरसुन्दरी, (२) त्रिपुराम्बा, (३) त्रिपुरसिद्धा, (४) त्रिपुरमालिनी, (५) त्रिपुराश्री, (६) त्रिपुरवासिनी, (७) त्रिपुरसुन्दरी, (८) त्रिपुरेशी, (९) त्रिपुरा।

श्री चक्र सृष्टि, स्थिति, संहार रूप में यदि विभाजित किया जाय तो उसका रूप निम्न होगा—

सृष्टि चक्र	स्थिति चक्र	संहार चक्र
चतुरस्र+ पद्मद्वय (अग्नि-अधिष्ठातृ)	चतुर्दशार+ दशारद्वय (सूर्य-अधिष्ठातृ)	अष्टार+ मध्य=त्र्यश्र (सोम-अधिष्ठातृ)

श्री चक्र की वाक् चतुष्टय के साथ एकता भी सिद्ध है जो निम्न है—

वैन्दवचक्र	मध्य+त्र्यश्र	अष्टारादि चतुर्दशान्त चक्र चतुष्टय	शेष चक्र
परावाक्	पश्यंती वाक्	मध्यमा वाक्	वैखरीवाक्

समयमत की पूजा 'सृष्टिक्रम' की कौलों की पूजा 'संहारक्रम' की पूजा कही जाती है जो कि क्रमशः बिन्दु से बाह्य की ओर एवं बाह्य से प्रारंभ होकर बिन्दु की ओर अग्रसर होती है।

श्री चक्र का नाम 'वियच्चक्र' भी है क्योंकि इसकी पूजा वियत् में होती है।

श्री सुन्दरी के पूजन का फल भोग एवं मोक्ष दोनों है—

"श्री सुन्दरी साधन तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव"

श्री सुन्दरी का उपासना योग्य तीन रूप होता है—

(१) **स्थूल**, (२) **सूक्ष्म**, (३) **पर**। सामान्यतया साधक (१) **सरूपा** एवं (२) **अरूपा** (चरमा) रूप में ही उनकी उपासना करते हैं। **समयाचारी** चरमा रूप की ही पूजा करते हैं जो कि अंतर्याग द्वारा साधित होती है।

कापालिक-तन्त्र-विमर्शः

• विद्यावाचस्पतिः पण्डित-श्री-रघुनाथ-शर्मा •

कर-कलित-कपालः कण्ठग-व्याल-मालः
शशि-शकल-विभूषाभूषिता-शेष-मालः ।
वचन-जित-रसालः पुष्पसौरभ्यलुभ्यन्
मुदित-मधुपमालः पातु मांलोकपालः ॥

इह खलु जगति सर्वेषां प्राणिनां सुखार्थं प्रवृत्तिर्दृश्यते। सुखञ्च द्विविधम्—वैषयिकम्, आध्यात्मिकञ्चेति। तत्र वैषयिकं सुखं दुःखानुविद्धत्वात् परिणामे दुःखरूपत्वाच्च दुःखमेव। तथाहि—कामानां पूर्तिः सुखं तेषामपूर्तिश्च दुःखम्। तत्र प्रतिदिनं शतं कामाः समुत्पद्यन्ते तेषां एकस्य द्वयोर्वा प्राप्तिर्भवति, अन्ये तु उत्पद्य विनश्यन्ति। तत्र एकं सुखं द्वे वा सुखे नवनवत्या अष्टानवत्या वा दुःखैरनुविद्धत्वात् दुःखमेव। परिणामदुःखञ्च सुखम् अशन-पान-स्त्री-समागमादि-जन्यं रोगशोक-हेतुत्वात्। यच्चाध्यात्मिकं सुखम् आत्मस्वरूपभूतं तत् सन्तोषादेव लभ्यते काम-सुखादिविपरीतम्। अतएवोक्तम् पातञ्जले—संतोषादनुत्तम-सुख-लाभ इति। अन्यत्र च—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥ इति।

एतयोश्च सुखयोः प्राप्त्यर्थं भिन्ने द्वे वर्त्मनी—प्रवृत्तिमार्गो निवृत्तिमार्गश्चेति। तत्र प्रवृत्तिमार्गो वैषयिकसुखस्य ऐहिकस्य आमुष्मिकस्य च हेतुः। तदुक्तम्—गतागतं कामकामा लभन्ते इति। निवृत्तिमार्गस्तु आत्मभूतस्य सुखस्य प्राप्तिहेतुः। तदुक्तम्—त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं तत्त्ववतुः परमं पदम् इति। इमे च द्वे अपि वर्त्मनी पूर्वोत्तरकाण्डाभ्यां कर्मकाण्ड-ज्ञानकाण्डरूपाभ्यां वेदेषु दर्शिते। वेदे च द्विजातयोऽव्रात्याः अधिकारिणः। अतो व्रात्यानां द्विजातीनाम् अपवर्गाय आगमः भगवता शङ्करेण विष्णुना च करुणया उपदिष्टः। ताभ्यां च आगतत्वात् आगम इति संज्ञा तस्य शास्त्रस्य। यस्तु आगमः महेश्वरेण शक्तिं प्रति उपदिष्टः तस्य शक्त्या अन्येभ्य उपदेशः कृतः स खलु शाक्त आगमः। तत्र शैवागम-शाक्तागमौ वामदक्षिणमार्गाभ्यां भिद्येते। तत्र वाममार्गे इन्द्रियसंयमो नास्ति। दक्षिणमार्गे तु बाह्याभ्यन्तरशुद्धिरिन्द्रियसंयमश्च अपेक्षितौ। वैष्णवागमे तु दक्षिणमार्ग एव दृश्यते। एषाञ्च आगमानां दुर्ज्ञेयत्वे समुपस्थिते एषामेव ततनात् (विस्तारकरणात्) तन्त्रं प्रवृत्तम्। शूद्राणां तु कृते शावरतन्त्रमिति। तत्र कापालिकतन्त्रं महाकालसंहितामधिकृत्य किञ्चिद् विविच्य प्रदर्श्यते—

महाकालसंहितायां अपि कामकलाखण्डे निर्दिष्टा विषया अत्र संक्षेपेण प्रदर्श्यन्ते। अस्मिन् कामकलाखण्डे कामकलाकालिकायाः मन्त्रो ध्यानं रहस्यं कवचाः देव्यै महाकालेन उपदिष्टानि। कामकला-कालिकायाश्च उपासकाः पूर्वम् एते अभूवन्—इन्द्रः, वरुणः, कुबेरः, ब्रह्मा, महाकालः स्वयं, बाणः, रावणः, यमः, चन्द्रः, श्रीविष्णुः अन्ये च महर्षिगणाः। अस्याः कालिकाया उपासनाफलञ्च विद्या, मोक्षः, राज्यञ्चेति। अन्यच्च धनं, यशः, कान्ता, अष्टौ सिद्धयः, वशीकरणं, स्तम्भनम्, आकर्षणं, द्रावणं, ग्रहगतिस्तम्भनं, वह्निवातयोः स्तम्भनं, नदीधारास्तम्भनं, शत्रुसैन्यस्तम्भनं, वाक्स्तम्भनम् आदि।

कालिकाश्च नव भवन्ति—१-दक्षिणकाली २-भद्रकाली ३-श्मशानकाली ४-कालकाली ५-गुह्यकाली ६-कामकलाकाली ७-धनकाली ८-सिद्धिकाली ९-चण्डकाली इति। तत्र गुह्यकाली कामकलाकाली इति द्वे अपि अभिन्ने। उक्तञ्च अस्यामेव संहितायाम्—'या गुह्यकाली सैवेयं कालीं कामकलाभिधा' इति। मन्त्रध्यानप्रयोगाणां भेदाच्च अनयोर्भेद उपलभ्यते। ध्यानमन्त्रयोर्भेदाच्च गुह्यकाली सप्तविधा भवति। कामकलाकालिकाया मन्त्रे अष्टादश वर्णाः सन्ति। अस्य मन्त्रस्य त्रैलोक्याकर्षणं नाम। मन्त्रोद्धारस्तु २४२ पटले आरम्भे एव दर्शितः पञ्चभिः पद्यैः। अस्य मन्त्रस्य आदौ भूतबीजम् अन्ते च स्वाहाशब्दो वर्तते। अस्य मन्त्रस्य सर्वार्थसिद्धौ विनियोगः। श्लोकानां सप्तविंशत्या कामकलाकालिकाया देव्या ध्यानमंत्र वर्णितम्। हृत्पद्मे प्रथमम् इमां कालिकां ध्यात्वा पश्चात् पीठे पूजा कार्या। पीठे च यन्त्रं लेख्यम्। तत्प्रकारश्च तत्रैव दर्शितः। २४३ पटले नानाविधानि यन्त्राणि वर्णितानि। मध्ये अन्तः बहिश्च त्रिकोणं यन्त्रं प्रशस्तं भवति। बहिस्त्रिकोणे च षड् देव्यः पूज्याः। पूजाविधिश्च तत्रैवोक्तः। प्रथमे आवरणे बहिस्त्रिकोणे कोणगा देवतास्तिस्रः १-संहारिणी २-भीषणा ३-मोहिनी। कोणमध्यदेवताः तिस्रः—१-कुरुकुल्ला २-कपालिनी ३-विप्रचित्ता। द्वितीयावरणे मध्यत्रिकोणे कोणगा देवताः तिस्रः १-उग्रा २-उग्रप्रभा ३-दीप्ता। कोणमध्यदेवताः तिस्रः १-नीला २-घना ३-बलाका इति। तृतीयावरणे अन्तस्त्रिकोणे वामभागे तिस्रो देव्यः १-ब्राह्मी २-नारायणी ३-माहेश्वरी। दक्षिणभागे तिस्रो देव्यः १-चामुण्डा २-कौमारी ३-अपराजिता। पश्चिमे अधोभागे तिस्रो देव्यः १-वाराही २-नारसिंही ३-इन्द्राणी इति एताः सर्वाः श्यामवर्णाः, खड्गकराः, मुण्डमालाविभूषिताः, कपालधारिण्यः। चतुर्थे आवरणे अष्टसु दलेषु अष्टौ भैरवाः अधिष्ठा...ः—असिताङ्गः, रुरुः, चण्डः, उन्मत्तः, क्रोधः, कापाली, भीषणः, सम्मोहनः। एते सर्वे भैरवाः कर्त्रीखर्परहस्ताः द्विभुजाः इति। पञ्चमे आवरणे अष्टौ क्षेत्रपालाः एतेषां पूजा द्वयोर्द्वयोर्दलयोर्मध्ये विधेया। तत्र एकपादः, विरूपाक्षः, भीमः, सङ्कर्षणः, चण्डघण्टः, मेघनादः, वेगमाली, प्रकम्पनः इति अष्टौ क्षेत्रपालाः। षष्ठे आवरणे अष्टौ योगिन्यः, एतासाञ्च पूजा कमलदलानाम् अग्रभागेषु भवति। योगिनीनां नामानि—उल्कामुखी, कोटराक्षी, विद्युज्जिह्वा, करालिनी, वज्रोदरी, तापिनी, ज्वाला, जालन्धरी। सप्तमे आवरणे दश लोकपालाः पूज्याः दशसु दिक्षु। अत्र तेषां नाम नोल्लिखितम्। पुराणादितो विज्ञेयम्। पुराणेषु च एते लोकपाला वर्णिताः क्रमशः इन्द्रः, वह्निः, यमः, निर्ऋतिः, वरुणः, वायुः, धनदः, ईशानः, ऊर्ध्वं ब्रह्मा, अधः अनन्त इति। आवरणपूजाया अनन्तरं योगिनीचक्रं पूजनीयम्। देवी च कामकला कालिका पूज्या। पश्चाद् बलिदानं कर्त्तव्यम्। स च बलिः निर्ऋतिदिशि स्थापनीयः। अस्मिन् पटले पुरश्चरणविधेः विविधाः प्रयोगा वर्णिताः। तेषां प्रयोगाणां च फलं वाग्मिता, धनैश्वर्यलाभः, शत्रुसैन्यादीनां स्तम्भनम्, आकर्षणशक्तिः, जराराहित्यं, वशीकरणम्, मारणम्, उच्चाटनादिकम्। एते च प्रयोगाः केचन दिने केचन रात्रौ विधेयत्वेन वर्णिताः। दिने प्रयोगविधिद्विजातीनां, रात्रौ च ब्रात्यानां शूद्राणाञ्च।

२४४ पटले अत्यन्तं गोपनीयाः प्रयोगा उक्ताः। येषां सकृदुच्चारणेन सकलाः सिद्धयो लभ्यन्ते। एतत्पटलवर्णितप्रयोगेभ्यः प्राक् पुरश्चरणम् आवश्यकम्। अस्मिन् पटले शिवाप्रयोगस्य विस्तृतं विवरणमुपलभ्यते। कृष्णपक्षचतुर्दश्याम् अस्य प्रयोगस्य अनुष्ठानं वरम्। रात्रौ चतुर्विधम् अन्नं कल्पयितव्यम्। पायसम्, अपूपाः, यावकः, मोदकसहिता शष्कुली मत्स्यस्य मांसस्य च व्यञ्जनं कल्पनीयम्। स्वर्णमये, राजते, ताम्रमये मृन्मये, मधूकपत्रनिर्मिते वा पात्रे परिवेषणं कार्यम्। चतुर्विधञ्च अन्नं पृथक्-पृथक् पात्रेषु स्थापनीयम्। विविधानां पशूनां पक्षिणाञ्च मांसानि देयत्वेन उल्लिखितानि। निशीथे च श्मशाने निर्जनस्थाने वा गत्वा निर्भयेन चेतसा उत्तराभिमुखीभूय श्मशानवस्त्रखण्डे उपविश्य कामकलादेवीं कालिकां गन्ध-पुष्पधूपदीपनैवेद्यादिभिः पूजनीया। तस्या अनुज्ञामवाप्य च शिवायै बलिर्देयः। अत्र च मन्त्रविशेषस्य वारत्रयम् उच्चारणेन शिवागणः आमन्त्रणीयः। यदि शिवागणः आगच्छति तदा शुभं फलं साधकस्य अवश्यमेव भविष्यति। समागतः शिवागणः साधकेन दूरे स्थित्वा नमस्कार्यः। कालीदेवीबुद्ध्या च पाद्यादिद्वारा पूजनीयः। पश्चाच्च तस्मै अन्नादिरूपो बलिः उपहार्यः। अस्मिन्नवसरे शिवागणः कम् अन्नविशेषं प्रथमं गृह्णाति इति अवधानेन लक्षणीयम्। अनेन साधकस्य इदं ज्ञातं भवति यद् मम कीदृशी सिद्धिर्भविष्यतीति। यदि शिवागणो नागच्छति तदा विज्ञेयम् अस्मिन् बहूनि प्रतिबन्धकानि सन्तीति। यदि शिवागणो दत्तं बलिं न खादति तदा साधकस्य मृत्युर्भविष्यतीति विज्ञायते। शिवाभ्यो बलिदानान्तरं भूतभैरवडाकिनीगणेभ्योऽपि साधकेन बलिर्दातव्यः। यदि शिवागणः दत्तं बलिमत्ति तदा अतुलैश्वर्यलाभो मम भविष्यतीति साधकेन विज्ञेयम्। तदनन्तरं कतिपयैः पद्यैः नानाविधानां सिद्धिनाम् उल्लेखोऽत्र कृतः। पश्चात् पद्याष्टकेन शिवास्तोत्रमुक्तम्। बलिदानान्तरम् अस्य पाठः कर्त्तव्यः बलिशेषश्च उच्छिष्टो भूमिगर्ते निधाय मृदा पूरणीयः, येन बलिम् अन्ये पशवो न भक्षयेयुः।

२४५ पटलस्य आरम्भे देवी महाकालं पृच्छति—अम्बिका कस्मात् कारणात् कामकला नाम्ना आख्याता भवति। कामकला प्रयोगं किं सापि जिज्ञासते? महाकाल आह—प्रयोगः त्रिविधो भवति। राजपूर्वः, मध्यपूर्वः, लघुपूर्वः। अस्य प्रयोगत्रयस्य निन्दा तिरस्कारो वा कथञ्चिदपि न कर्त्तव्यः। तत्र च षोडशवार्षिकसुन्दरी पूजनं विहितम्, तस्याश्च देवीमाबाह्य प्रार्थना विहिता—हे देवि! त्वं कलातीताऽसि। नादबिन्दुशक्तिरूपिणी असि। चिन्मयी तथा पराकुण्डलिनीरूपा शिवशक्तिस्वरूपा असि। हे कामकले कालि त्वं जगतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी असि। त्वं परमानन्दाय परमामृतरसास्वादाय लुब्धाऽसि। सदाशिवरूप-महत्तत्त्व-सामरस्य- स्वरूपाऽसि। त्वं कामकलाकालीपूजनाय मामनुजानीहि। एवमनुज्ञामवाप्य कल्पितमण्डलस्थितां वराङ्गनां देवीबुद्ध्या पूजयेत्। एकोनविंशे मण्डले देवी पूजयितव्या भवति। अस्यां पूजायां षडङ्गन्यासः पीठन्यासः, मुद्राप्रदर्शनं, शङ्खस्थापनम् इत्यादिकं कर्त्तव्यम् एवं कामकलाकाल्याः पूजाक्रमो विस्तृतः अत्र पटले उल्लिखितः। यदि सात्त्विकी पूजा साधकेन कर्त्तव्या तदा तत्र बलिर्न देयः। दुग्धपिण्डेन शालिचूर्णेन वा पशुं प्रकल्प्य बलिर्देयः। फल विशेषो वा पशुप्रतिनिधिः कार्यः। तदनन्तरं जपः कर्त्तव्यः। जपश्च काञ्चित् सुन्दरीमाकृष्य कर्त्तव्यः। एष च विधिर्द्विजातीनां प्रतिषिद्धः। जपसमये च चित्तचाञ्चल्यं न कर्त्तव्यम्। तदनन्तरं पुष्पाञ्जलिः, प्रद-

क्षिणा, स्तोत्रपाठः कवचपाठः, प्राणायामः, षडङ्गन्यासः इत्यादिकं स्वस्य देवतारूपेण चिन्तनञ्च कृत्वा सा सुन्दरी त्याज्या भवति या जपार्थं पूर्वमाकृष्टा ।

२४६ पटलस्यारम्भे महाकालो देव्यै साधारण्यप्रयोगान् वर्णयति । यैः, प्रयोगैः राज्यं विद्या च समवाप्यते । एतान् प्रयोगान् राजा एव कर्तुं शक्नोति न ब्राह्मणः । अत्र प्रयोगद्वयं लघुपूर्वो मध्यपूर्वश्च । तत्र मध्यपूर्वः चतुर्विंशत्या वर्णैर्युक्तः । लघुपूर्वस्तु द्वादशभिर्वर्णैः । प्रयोगात्पूर्वमस्य मन्त्रद्वयस्य पुरश्चरणं पर्वते, नदीतीरे, शून्यागारे, शिवमन्दिरे वा । अस्मात् प्रयोगद्वयात् प्राग् अनेके विधयः अवश्यं कार्यत्वेन विहिताः, अन्यथा प्रयोगः फलदो न भवति । प्रयोगकर्तुः सायं, प्रातः, मध्याह्ने च स्नानं विहितम् । रात्रौ हविष्य-भोजनं च । अनुष्ठेयो मन्त्रः अक्षसूत्रञ्च गुरवेऽपि न दर्शयितव्यम् । दुर्जनसङ्गः कस्यचिद् निन्दा च न कर्तव्या । साधकस्य वस्त्रासनं, कुशासनं, व्याघ्रचर्म वा आसनं विहितं नरमुण्डादिकञ्च सन्निधापनीयम् । माला च फलानां बीजैः, स्फटिकगुलिकाभिः, रुद्राक्षैः, नरास्थिभिर्वा कार्या । जप संख्या च एकलक्षपरिमिता । जपस्य दशांशो हवनम् एवं तर्पणम् अभिषेकश्च तत्तद्दशांशो विहितः । एवं शतकृत्वो मन्त्रजपं कृत्वा रोचना, तिलककरणेन राजाऽपि वशमायाति । शत्रूणाम् उच्चाटेन सर्वज्ञताप्राप्तिः शत्रुमारणादिकं चात्र अस्य फलम् उल्लिखितम् । तदनन्तरम् आत्मरक्षाविधानं चात्र वर्णितम् । अयञ्च विधिः रक्षामन्त्रेण समानः । इदञ्च यन्त्रम् इन्द्रो, वायुर्मन्धाता, जामदग्न्यः, नहुषः, शिविः, रामः, पृथुः, कार्तवीर्यः, कुत्सः, रघुः, नलः, भरतः, शशबिन्दुः, ययातिः, वसुकः, अर्जुनः, पुरुः, पुरूरवाः, भीमः, जरासन्धः, बृहद्रथादयश्च धृतवन्त इति अत्र उल्लिखितम् । अस्मात् प्रयोगात् अन्योऽपि प्रयोगः अत्र उपलभ्यते । अस्य प्रयोगस्य फलं सर्वज्ञताप्राप्तिः वाग्मिता लाभश्च । द्वादश वर्षाणि यावत्इमं प्रयोगंसंपाद्य अष्टौ सिद्धीः, विद्याधरत्वं खेचरत्वं च प्राप्नोति साधकः । एतदनन्तरम् आकर्षणप्रयोगाणां वर्णनमत्र लभ्यते ।

तत्र खेचरीप्रयोगः—अस्य सिद्ध्या साधकः अदृश्यो भूत्वा दीर्घे आकाशार्धे विहरति । किञ्च अयं साधको मेरुमन्दर-कैलास-हेमकूटादिषु पर्वतेषु इन्द्राग्नियम-वरुण-यक्ष-राक्षसादीनां नगरीषु च भ्रमति । शरीरं चास्य वज्रवद् दृढं भवति । देवा अपि न तस्य अपकर्तुमीशते ।

खड्गसिद्धिप्रयोगः—मकरसंक्रान्तिदिने कम्बोजदेशात् लोहमादाय कर्कसंक्रान्तिपर्यन्तं पूजयेत् । लोहपरिमाणञ्च षोडशतोलकपरिमितं भवेत् । अनन्तरमस्य लोहस्य अयस्कारद्वारा खड्गो निर्मापयितव्यः । आश्विनकृष्णाष्टमीमारभ्य मकरसंक्रान्तिपर्यन्तं खड्गो विधेयः । अनन्तरम् आश्विनकृष्णचतुर्दश्यां श्रीकाल्याः पुरतः स खड्गः संस्थाप्य पूजनीयः । प्रथमं स खड्गः श्रीकालीकायै समर्पयितव्यः, पश्चात् तदनुज्ञया स खड्गो व्यवहारे प्रयोज्यः । अनेन शत्रवः पराजिता भवन्ति । तच्चासिधारिणं दृष्ट्वा शत्रवो निस्तन्ति । शुम्भनिशुम्भाभ्यां सह युद्धे ईदृशस्यैव खड्गस्य प्रयोगः श्रीकाल्या कृतः ।

अञ्जनप्रयोगः—अनेन प्रयोगेण कज्जलं निर्माय अक्ष्णोरभ्यञ्जनेन तं कोऽपि न पश्यति । स तु परमाणूनपि पश्यति । भूतले निखातं धनञ्चापि पश्यति ।

गुटिकासिद्धिः—अस्मिन् पटले गुटिकासिद्धिरपि वर्णिता । इयं गुटिका मण्डूकवमनसम्भूता भवति । अस्या धारणेन खेचरताप्राप्तिः पञ्चभूतानां जयः, अजरत्वम्, अमरत्वं, शापानुग्रहसामर्थ्यञ्च जायते । अस्याः गुटिकायाः स्पर्शेन धात्वन्तरमपि सुवर्णं भवति ।

ताल-वेतालसिद्धिः—युद्धहतस्य कस्यचित् पुरुषस्य शवः संग्राह्यः । तमारुह्य सहस्रकृत्वो मन्त्रजपः कार्यः । मन्त्रश्च अत्रैव उक्तः । पश्चात् नरपशुबलिर्देयः । अनेन विधानेन तालवेतालः साधकस्य सेवको भवति । स च साधकं भूर्भुवःस्वरात्मके लोकत्रये साधकेच्छया नयति ।

२४७ पटले देवीं महाकालं होमार्थं वह्निस्थापनविषये पृच्छति । महाकालस्तु समाधत्ते—साधकेच्छानुसारं मण्डलं त्रिकोणं, षट्कोणं, नवकोणं वा विधेयम् । इच्छाभेदेन च इन्धनानां हवनीयद्रव्याणाञ्च भेदो भवति । हवनानन्तरं जपोऽवश्यं कर्तव्यः ।

होमविधिः—प्रथमं नानाविधैर्पुष्पैः होमो विहितः । पश्चात् हवनीयपुष्पभेदेन फलभेदो वर्णितः । अनन्तरं फलहोमः, अन्नहोमः, दुग्धादिहोमः, मण्यादिहोमः, धातुहोमः, पाषाणादिहोमाश्च उल्लिखिताः । बहुविधानां पशूनां पक्षिणाञ्च मांसैर्होमा उल्लिखिताः । तेषां फलानि च भिन्नानि वर्णितानि । शान्तिपुष्टिकर्मसु चतुरस्रं कुण्डं कर्तव्यम् । वशीकरणे च त्रिकोणं, स्तम्भने वर्तुलं, मुक्तये दीर्घं कुण्डं कर्तव्यम् । एतदनन्तरं योगविधिर्वर्णितः । योगो जपादपि श्रेष्ठः । शरीरमध्ये नाडीनां द्वासप्ततिः सहस्राणि सन्ति । द्वात्रिंशद्विधानि कीकसानि दशविधा वायवः येषु मुख्याः पञ्च । शरीरस्य मध्यदेशे सूर्यः, चन्द्रः, आकाशः, भूमिर्जलं तथाग्निश्च एतानि स्थितानि । शरीरस्य मध्यं नाडीसमूहानां उद्गमस्थलम् । अयञ्च शरीरस्य मध्यदेशः त्रिकोणाकारः । तत्र नव अङ्गुलयः । ऊर्ध्वदेशे च कन्दस्थानं वर्तते । अत्रैव कन्दस्थाने प्राणस्य सञ्चारो भवति । एतदूर्ध्वं कुण्डलीस्थानम् । अत्रैव योगविधिः कर्तव्यः । नाडीषु इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा प्रधानभूता । सुषुम्णा मोक्षमार्ग इति प्रसिद्धिः । तदनन्तरं पयस्विनी-सरस्वती—प्रभृतीनां चतुर्दश नाडिकानामत्र वर्णनमुपलभ्यते। तत्स्थानानाम् उल्लेखोऽपि वर्तते । कन्दस्थानस्य निम्नभागे प्राणस्य स्थानं वर्तते ।

नाडीशोधनम्—कुण्डल्या अधः प्राणवायुद्वारा अग्नेराघ्मानं भवति । एतत्फलं नादब्रह्मणोऽभिव्यक्तिः । नादं पिङ्गलामार्गेण हृदये तथा हस्तिजिह्वाद्वारेण ब्रह्मरन्ध्रे आनीय देव्या निराकारज्योतिर्मयी शुक्ला सर्वदा सच्चिदानन्द स्वरूपा मूर्तिर्ध्येया । अस्याः पूजा बीजेन कर्तव्या । इदं बीजं षट् चक्रं भित्त्वा सदाशिवेन सह सामरस्यं प्राप्तम् । ईदृशं ध्यानं कृत्वा तत कुण्डलिनीं स्थाने आनेतव्यम् । ध्यानं तेषां कृते उपयुक्तं ये योगविधौ असमर्थाः । अष्टदले हृदयकमले साकृतिर्देवता ध्यातव्या । ध्याने कालाधिक्यात् फलानामपि आधिक्यं भवति । योगविधिः उत्तमो ध्यानविधिः मध्यमः । पूजाविधिः अधमः । सत्ययुगे त्रेता युगे च योगविधिः उत्तमः, द्वापरे ध्यानम्, कलियुगे न्यासः पूजा च कर्तव्या ।

२४८ पटले षोढान्यासा उल्लिखिताः । सत्ययुगस्य त्रयो दैत्याः वर्णिताः । ये तपः कृत्वा प्रजापतेर्वरं प्राप्तवन्तः । तैरुक्तम्—अस्माभिः निर्मितं पुरत्रयं यः एकेनैव शरेण विदारयिष्यति तद्धस्तादेव अस्माकं मृत्युर्भवतु। एभिः दैत्यैर्विजिता देवाः शिवसमीपं गताः । शिवेन च एको रथो निर्मितः

यस्य चत्वारो वेदा अश्वाः, पृथिवी रथोऽस्थभूता, सूर्याचन्द्रौ कुबेरः गन्धमादनः पर्वतः चक्रं, विन्ध्यो नाभिः, मेरुर्ध्वजदण्डः, मन्दरो विष्णुश्च धनुः, जगदम्बिका च तेभ्यः कवचं ददौ । षोढान्यासप्रयोगञ्च शिक्षितवती । अस्य न्यासस्य त्रिपुरारिर्महेश्वरः ऋषिः जगती छन्दः बीजं कन्दर्पः, क्रोधः कीलकं मायाबीजं शक्तिः । षोढा न्यासाश्च एते—१–नृसिंहन्यासः २–भैरवन्यासः ३–कामकलान्यासः ४–डाकिनीन्यासः ५–शक्तिन्यासः ६–देवी न्यासः ।

२४९ पटले त्रैलोक्यमोहनं नाम कवचं वर्णितम् ।

२५० पटलेदेवी स्तोत्रम् उल्लिखितं वर्तते । अस्य स्तोत्रस्य भुजङ्गप्रयातं छन्दः । रावणेन च इदं कृतम् । अस्य पटलस्य उत्तरभागे आशुश्रवणविधिर्वर्णितः । अयञ्च सर्वेभ्योऽपि प्रयोगविधिभ्य उत्तमः । शक्तिसामरस्यकारी च । यथा अयं गुरुदेवतामन्त्राणाम् एकत्वं प्रतिपादयति तथैव तीर्थदैवतशक्तीनामपि एकत्वं प्रतिपादयति । अयं विधिः क्षत्रियवैश्यशूद्राणां कृते वर्तते । ब्राह्मणानां कृते तु तीर्थे एव अयमधिकारः प्रशस्तः अष्टमी चतुर्दशी संक्रान्तिः भौमः व्यतिपातनामको योगः, ग्रहणकालः एतेषु अथवा स्वेच्छातः यस्मिन् कस्मिन् वा दिने यथाशक्ति पूजासंभारमादाय नित्यकर्म विधाय च भुक्त्वा अभुक्त्वा वा महानिशायाम् अयं प्रयोगः कर्तव्यः । अस्मिन् प्रयोगे द्वादश विधा आसवाः विहिताः । आसवप्रयोगश्च क्षत्रियवैश्यशूद्राणां प्रशस्तः । ब्राह्मणानान्तु मधुक्षीरं नारिकेलोदकञ्च ग्राह्यम् । शक्तिश्च परिकीया तदभावे स्वकीया ग्राह्या । दीक्षार्थं शक्तिः अवश्यम् अपेक्षिता भवति । कुलमार्गे तस्यां श्रद्धा अवश्यं विधेया । द्विजानां कृते सर्वजातीयाः शक्तयो ग्राह्याः । क्षत्रियेण ब्राह्मणेतराः तिस्रः शक्तयः, वैश्येन ब्राह्मणक्षत्रियभिन्ने द्वे शक्ती, शूद्रेण तु केवला शूद्रा एव शक्तिर्ग्राह्या । एतादृशो विधिः ।

पात्रनिर्णयः—पूजाविधिसम्भारसंग्रहार्थं नानाविधानि पात्राणि उल्लिखितानि । पूजासामग्रीमादाय श्मशाने, शून्यागारे, चतुष्पथे वा गन्तव्यम् । अस्य पूजाक्रमस्य दर्शनं पशूनां निषिद्धम् ।

पूजा—आसनं, भूतापसारणं, दिग्बन्धनम्, अङ्गन्यासादिकं, पीठन्यासः मण्डलरचना, शक्तेरानयनं शक्त्या सह विविधक्रियाविधिः, तद्योनौ मन्त्रन्यासः, जपः, अनङ्गकुलादेव्याः पूजनं, कामकलाकाल्याः पूजनञ्च विहितम् । गुह्यकालिकायाः ये भक्ताः ते अस्मिन् समये गुह्यकालीमपि पूजयन्ति । कुलद्रव्याणां शापमोचनं पूर्वं वैदिकमन्त्रैः पश्चात् आगमोक्तमन्त्रैरत्र विहितम् । द्रव्येषु च आनन्दभैरवस्य आनन्द भैरव्याश्च ध्यानं, पूजा, तथा अनयोर्ह्वयोः सामरस्यं च जातम् इति भावना कर्तव्या । गुह्यबीजेन द्वयोः पूजनं विधाय वामावर्ते त्रिकोणं विलिख्य कोणदक्षिणादूर्ध्वं यावत् एवं दक्षिणादुत्तरं यावद् अकारादिक्षकारान्तगुह्यबीजानि त्रिरुल्लिख्य पश्चात् शाकिनीबीजं दशकृत्वो जपेत् । धेनुमुद्रया अमृतीकरणं कुर्यात् । वारुणमन्त्रान् अष्टकृत्वो जपेत् । एतदनन्तरम् अमृतन्यासं कुर्यात् । अनेन न्यासेन पञ्चविंशतितत्त्वानां शुद्धिर्भवति ।

२५१ पटले अमृतन्यासो दर्शितः । अस्य न्यासस्य कात्यायन ऋषिः, विराट् छन्दः, कामकलाकाली देवता, कामबीजं कीलकं, योगिनी शक्तिः बधूबीजं बीजम्, आनन्दानुभवे अथवा सर्वसिद्धौ विनियोगः । पञ्चविंशतिपात्राणां स्थापनं, पञ्चविंशतितत्त्वानाम् उल्लेखः, शरीरे पञ्चविंशतितत्त्वानां स्थानस्य न्यासस्य च मन्त्रः तथा विविधाः प्रयोगा अत्र वर्णिताः ।

२५२ पटले त्रिविधपापहारिणी देव्याः सहस्रनामस्तोत्रमस्ति तथा अस्य स्तोत्रस्य संक्षिप्तं गद्यमपि अस्ति ।

२५३ पटले कामकलाकाल्याः एकाक्षरमारभ्य सहस्राक्षरं यावत् मन्त्राः उद्धृताः ।

२५४ पटले मन्त्राणां सौम्यत्वम् उग्रत्वम् इति द्वौ भेदौ दर्शितौ । ते द्विविधा अपि मन्त्राः चित्स्वरूपात् महाकालाद् उद्भूताः । सौम्यमूर्तीनां समूहे त्रिपुरसुन्दरी परमोऽवधिः, सौम्यमूर्तीनां संख्या एककोटिः। उग्रमूर्तीनां संख्या अष्टौ कोटयः । कामकला काली उग्रमूर्तिनां समूहे परमोऽवधिः ।

तन्त्रे षट् आम्नायाः सन्ति । भक्त्यै कार्यसिद्ध्यैच देवा अप्सरसः किंनराः राक्षसादयश्च एतान् आम्नायान् आश्रयन्ते । एते षट् आम्नायाः शिववक्त्राद् विनिर्गताः यामल डामरप्रभृतयः एषामाम्नायानां मध्ये स्थिताः । कलिप्रभावाद् मनुष्याः हीनवीर्याः, अलसाः, दरिद्राश्च भविष्यन्ति । एतेऽ मन्त्राणाम् उपासकाः न भविष्यन्ति । आसां देवीनां ध्यानं मन्त्रश्च विलुप्तं भविष्यति । भिन्नेभ्य आम्नायेभ्यो गृहीतानां सौम्यमूर्तिसमूहानां उग्रमूर्तिसमूहानां च एकत्र अवस्थितिः आलोकान्धकारवत् नहि संभविनी किन्तु आयुताक्षरनाम्नि महामन्त्रे षडाम्नायस्थिताः सर्वविधाः सौम्या उग्राश्च मूर्तयः तिष्ठन्ति इतीदमत्र पटले उक्तम् ।

२५५ पटले अयुताक्षरमन्त्रस्य उद्धारः कृतः ।

इदञ्चात्रावधेयम्—सर्वे आम्नायाः सर्वे सम्प्रदायाः अस्मिन् करालेकालौ विलुप्ताः । अनुभवशीला गुरवो नोपलभ्यन्ते । मन्त्राः विधयश्च ग्रन्थेषु निगूहिताः । स्वयं मन्त्रोद्धारे च पदे पदे स्खलनभयम् । बीजाक्षराणां कोशाः परिभाषाश्च विलुप्ताः । अतः अत्रोक्तविधीनां अनुष्ठाने पूर्वं यत्नो न विधेयः किन्तु पूर्वं ललितासहस्रनामस्तोत्रं प्रतिमासं पूर्णिमायां प्रतिदिनं वा पठितव्यम् । भास्करराययकृता च तद्व्याख्या पठनीया । ततः चित्तशुद्धौ सत्यां पुनः पुनः महाकालसंहिता अभ्यसनीया शब्दतः अर्थतश्च । तदा तन्मन्त्राणां तद्विधीनां च प्रकाशो भविष्यति मातुः कृपया गुरुर्वा लप्स्यते इति ।

जननीचरणारविन्दयोर्भ्रमरीभूतसुरासुरेन्द्रयोः ।
विमलद्रभवत्पुमर्थयोर्भ्रम मे मानसदोषशोषयोः ॥

रात्रितत्त्व : वैदिक विवेचन

• पं० बलदेव उपाध्याय •

रात्रि देवी के महत्त्व के विषय में वैदिक मन्त्रों के आधार पर कुछ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। 'दुर्गासप्तशती' के भक्तों को 'रात्रिसूक्त' से परिचित होना स्वाभाविक है। रात्रिसूक्त दो प्रकार का निर्दिष्ट है। एक है तान्त्रिक रात्रिसूक्त जो सप्तशती के प्रथम अध्याय के ७०वें श्लोक से ८७श्लोक तक है। दूसरा है वैदिक रात्रिसूक्त जो ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२७ सूक्त है जिसमें आठ मन्त्र उपलब्ध होते हैं। इस सूक्त के अनन्तर ही रात्रिसूक्त का परिशिष्ट भी है जिसमें २५ ऋचाएँ प्राप्त होती हैं। इस लेख में रात्रितत्त्व का वैदिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

उणादिकार के मत में √रा दाने धातु से रात्रि शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है—प्रदान करना। किसे प्रदान करना? और क्या प्रदान करना? निरुक्त के नैघण्टुक काण्ड के मतानुसार जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) नक्तंचर और (२) दिवाचर। इनमें नक्तंचर जीवों को (जो रात्रि में विचरण किया करते हैं उनको) यह रात्रि प्रकृष्टरूप से हर्षयुक्त करती है तथा दिवाचरों को (मनुष्य आदि दिन में संचरण करने वाले जीवों को) इतिकर्तव्यता कर्म से निवृत्त करती है। आशय यह है रात्रि आते ही दिवाचर प्राणी अपने कर्तव्यों से निवृत्त होकर विश्राम करते हैं। फलतः रात्रि नक्तंचर जीव को आनन्द प्रदान करती है और दिवाचर प्राणियों को विश्राम तथा आराम देती है। इसीलिए रात्रि का यह नामकरण है।

रात्रिः कस्मात्? प्रख्यानि भूतानि नक्तं चारीणि, उपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति—निरुक्तः नैघण्टुककाण्ड।

रात्रि के अन्य विभिन्न अभिधानों से भी इस तथ्य की बात प्रमाणित होती है। क्षपा तथा शर्वरी रात्रि के ही विभिन्न नाम हैं। इनके अर्थ का विश्लेषण करती हुई निघण्टुटीका रात्रि के स्वरूप को पर्याप्त प्रकाशित करती है—

(१) **क्षपा**—इस शब्द में दो खण्ड हैं (क्ष+पा)। दिनों में अपने कर्मों द्वारा क्षीण अर्थात् श्रान्त प्राणियों को (क्ष) निद्रा-दान कर पालन करती है (पा) वही होती है—क्षपा।

(२) **शर्वरी** नाम का भी हेतु इसी प्रकार है। रात्रि में सुप्त प्राणी पुनः नवीभूत होकर उल्लसित तथा प्रसन्न हो जाते हैं—नवीन होकर अपने कर्मों में प्रातः काल व्यापृत हो जाते हैं। इसी लिए प्राणीगण निद्रा के लिए जिसकी शरण लिया करते हैं वही होती है—शर्वरी।

वेद में तथा वेद सम्बद्ध पुराणादि में रात्रि दो प्रकार की मानी जाती है—**जीवरात्रि** और **ईश्वररात्रि**। रात्रिदेवी के दो रूप हैं। रात्रि शब्द की जो व्याख्या ऊपर दी गई है उससे स्पष्ट है कि रात्रि के आगमन मात्र से जीवों के जितने कार्य हैं उन सबका जिस काल में विराम, विश्राम या अवसान हो जाता है वह तो होती है **जीवरात्रि**।

जिस काल में ईश्वर का भी सर्जन तथा पालन कर्म विरत हो जाते हैं वही होती है ईश्वररात्रि। तथ्य यह है महाप्रलयदशा में सब पदार्थों का तो सुतरां अभाव हो जाता है, उस समय केवल 'अव्यक्त' अवशिष्ट रहता है। यही 'अव्यक्त'—ब्रह्म-मायात्मक वस्तु ही विद्यमान रहता है। फलतः ईश्वर के भी कार्य-कलाप के विरत हो जाने के कारण महाप्रलयदशा **ईश्वर रात्रि** के नाम से अभिहित की जाती है। ईश्वर रात्रि के स्वरूप का प्रतिपादक 'देवी पुराण' का यह पद्य महत्त्वपूर्ण है —

ब्रह्ममायात्मिका रात्रिः परमेशलयात्मिका।
तदधिष्ठातृदेवी तु **भुवनेशी** प्रकीर्तिता॥

महाप्रलयवाली रात्रि ब्रह्ममायात्मिका रात्रि होती है। वह रात्रि परमेश्वर को भी लय करने वाली है। उसकी जो अधिष्ठातृ देवी होती है उसी को **भुवनेशी** या **भुवनेश्वरी** नाम से पुराण अभिहित करते हैं।

दिन के अवसान होने पर होने वाली रात्रि अन्धकारमय अवश्य है, परन्तु उसकी अधिष्ठातृ देवी का जो वर्णन वैदिक मन्त्रों में आता है उससे स्पष्ट है कि वह प्रकाशमयी है, सन्तत द्योतन शीला है। वह स्वयं चिन्मयी है। भुवनेश्वरी देवी की अनुकम्पा से ही जीवों के सब अन्धकार दूर हो जाते हैं और वह परमतत्त्व को प्राप्त करने में सक्षम होता है। रात्रिसूक्त में जगत् की सृष्टि के तत्त्व का बड़े ही संक्षेप में वर्णन किया गया है।

जो वस्तुतः असत् है, वह कभी सत् नहीं हो सकता; जो वास्तव में नहीं है, उसका कभी जन्म नहीं हो सकता। इसके विपरीत जो 'सत्' है वस्तुतः विद्यमान है, उसका ध्वंस या नाश नहीं हो सकता। सृष्टि तथा लय के विषय वेद का यह परम आराध्य तत्त्व है। वैदिक शास्त्र इसी मूल तत्त्व की व्याख्या करते हैं। इस प्रसंग में 'लय' या नाश तथा आविर्भाव

(१) स्वैः स्वैः कर्मभिः अहनि क्षीणान् प्राणिनः इयं स्वापेन पातीति क्षपा।
(२) अस्यां हि सुप्ताः पुनर्नवा इव प्राणिनः प्रातः उत्तिष्ठन्ति। शरणमस्यां स्वापार्थं व्रियते इति शर्वरी—निघण्टु टीका

अथवा उत्पत्ति शब्द के अर्थों को ठीक से समझने की आवश्यकता है। अव्यक्त वस्तु को व्यक्त होने को या अभिव्यक्ति को, वर्तमान अवस्था में आगमन से 'उत्पत्ति' कहते हैं। √ली धातु से 'लय' शब्द बना है जिसका अर्थ होता है नाश। 'लय' का अर्थ ही 'अदर्शन'—एकान्तिक नाश नहीं। व्यक्त को अव्यक्तभाव प्राप्त होने पर अर्थात् कार्य को कारण में लीन होने की ही संज्ञा 'लय' है। वेद के प्रख्यात सूक्त 'नासदीय सूक्त' के अनुसार प्रलय दशा में 'नैशंतमः' का साम्राज्य रहता है। रात्रि का अन्धकार जिस प्रकार सब पदार्थों को आवृत कर रखता है, उसी प्रकार विश्वजगत् भी तम के द्वारा (आत्मतत्त्व के आवरक) 'माया' नामक पदार्थ के द्वारा आवृत रहता है। प्रख्यात मन्त्र है—

तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रेऽ
प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ॥

मनुस्मृति में भी इसी वैदिक तत्त्व का संकेत है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिवसर्वतः ॥

—मनुस्मृति १

इस तम रूपी अविद्या या माया के अपसारण तथा तिरस्करण के लिये 'तप' की नितान्त आवश्यकता होती है। 'तप' को किसी भौतिक अर्थ में ग्रहण करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। 'तप' का अर्थ है समीक्षण या पर्यालोचन। लयापन्न जीवों के कर्मों का परमेश्वर 'पर्यालोचन' करता है कि उनके कर्मों में कौन सा कर्म उत्पन्न होने के लिए—अपनी अभिव्यक्ति पाने के लिए—अभिमुख है। स्रष्टव्य पदार्थ कौन कर्म करके प्रकृति में लीन हुआ है, इसका विचार ही 'तप' है। परमेश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वविद् ठहरा। उसका 'तप' ज्ञानमय ही है। मुण्डक उपनिषद् में यही तत्त्व परिस्फुरित होता है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।

अथर्व संहिता दो ही वस्तुओं को जगत् की सृष्टि करने में कारण मानती है—(१) एक तो है स्रष्टव्य पदार्थों के कर्मों का ज्ञानरूप परमेश्वर का तप। (२) और दूसरी वस्तु प्राणियों के सुख दुःख फलोन्मुख पुण्यापमय कर्म।

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महार्णवे।
—अथर्वसंहिता ११।१०।२

रात्रिसूक्त में पूर्वोक्त वैदिक सृष्टि तत्त्व का विवेचन संक्षेप में किया गया है। प्रथम मन्त्र पर ही विचार करें।

प्रथम मन्त्र है—

ॐ रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः।
विश्वा अधिश्रियोऽधित ॥

महत्तत्त्वादिरूप व्यापक इन्द्रियों से सब देशों में, समस्त वस्तुओं में प्रकाशित होने वाली रात्रिरूपा द्योतनशीला देवी अपने द्वारा उत्पन्न किये गये जगत् के जीवों के शुभाशुभ कर्मों को विशेष रूप से देखती है और उनके अनुरूप फल की व्यवस्था करती हुई समस्त विभूतियों को धारण करती है।

इस मन्त्र का संक्षेप में निष्कर्ष है कि यह विश्व जगत् लीन होकर 'रात्रि' में अवस्थान करता है। वही रात्रि देवी विद्योतमान तत्त्व विपत्तियों को दूर करने वाली भगवती 'दुर्गा' है। प्रलय काल में वह अपने वक्षःस्थल पर समस्त लयापन्न जीवों को धारण करती है। वही जीवों के शुभाशुभ कर्मों का ईक्षण किया करती है (व्यख्यत्) कि जीवों के कौन से कर्म अभिव्यक्ति करने में समर्थ हैं। उसका यह 'ईक्षण' ब्रह्म का 'ज्ञानमयं तपः' है। फलतः नाना नक्षत्रों से द्युतिमान् रात्रिदेवी चिन्मयी दुर्गा ही है जो प्राणियों के कल्याण-साधन के लिए इस सृष्टि का उदय करती है और इसमें विघ्न डालने वाले दैत्यों और राक्षसों का स्वयं या अपनी नाना विभूतियों के द्वारा संहार कर देती है।

रात्रिसूक्त (मन्त्र तृतीय) की समीक्षा से प्रतीत होता है कि रात्रिदेवी का उषा के साथ बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्त्र का अर्थ है कि आगमनशीला रात्रिदेवी —चिच्छक्ति भुवनेश्वरी—प्रकाशरूपा अपनी भगिनी उषा देवी द्वारा तम (अन्धकार या अविद्या) का नाश करती है। ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में रात्रि और उषा के परस्पर रूप का बड़ा ही सुन्दर विवरण दिया गया है। उषा और रात्रि 'समान बन्धू' कही गई हैं, 'बन्धु' अर्थात् बन्धन स्थान। इन दोनों का 'बन्धन स्थान' समान है। सूर्य के अस्तमय के साथ रात्रि संश्लिष्ट है (बद्ध है) और सूर्य के उदय के प्रति उषा संश्लिष्ट है। फलतः ये दोनों भगिनी हैं। ये दोनों अमृत हैं—आमरणधर्मा हैं। नित्य हैं। इनका मरण कभी नहीं होता। ये इतरेतर संश्लिष्ट हैं अर्थात् ये आपस में एक दूसरे के साथ संयुक्त हैं। दिन के बाद रात्रि का आगमन होता है और रात्रि के बाद उषा का। इससे दोनों परस्पर संश्लिष्ट हैं। दोनों समानरूपेण प्रकाशशीला हैं—उषा अपने प्रकाश द्वारा प्रकाशशीला होती है। रात्रि अपने तमोवीर्य के द्वारा अर्थात् अन्धकार शक्ति के द्वारा प्रद्योतमाना होती है। इस प्रकार दोनों का 'समानबन्धू' होना उचित ही प्रतीत होता है। ये दोनों ही परमेश की माया नाम्नी शक्ति के द्वारा आविर्भूत हुई हैं। इसीलिए वेद ने इनको भगिनी शब्द से संबोधित किया है। चिच्छक्तिरूपा रात्रिदेवी भुवनेश्वरी नाम से प्रख्यात हैं। यही प्रकाशरूपा उषा के द्वारा अविद्या की आवरण शक्ति को निराकृत करती है। जब प्रारब्धकर्म का क्षय होने से विक्षेप शक्ति का भी नाश हो जाता है, तभी अज्ञान रूप तम अपगत होता है—उसकी निवृत्ति होती है। रात्रिसूक्त के इस मन्त्र का यही आध्यात्मिक तात्पर्य है—

निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती।
अपेदु हासते तमः ॥

(निष्कर्ष—परा चिच्छक्तिरूपा रात्रिदेवी अपनी भगिनी ब्रह्मविद्यामयी उषा देवी को प्रकट करती है, जिससे अविद्यामय अन्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है।)

इसीलिए सूक्त के अन्त में भक्त रात्रिदेवी से प्रार्थना करता है—तुम दूध देने वाली गाय के समान हो, तुम्हारे समीप आकार स्तुति आदि से तुम्हें अपने अनुकूल करता हूँ। परमव्योमस्वरूपपरमात्मा की पुत्री, तुम्हारी कृपा से मैं काम आदि शत्रुओं को जीत चुका हूँ। तुम स्तोत्र की भाँति मेरे इस हविष्य को भी ग्रहण करो।

इस वैदिक विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रात्रिदेवी चिन्मयी प्रकाशमयी देवी है। वे भगवती दुर्गा से अभिन्न हैं। इसीलिए तान्त्रिक रात्रिसूक्त के समान ही इस वैदिक रात्रिसूक्त का भी देवी-उपासना में अपना महत्त्वशाली स्थान है। ●

छिन्नमस्तातत्त्व

• आचार्य आनन्द झा •

पौराणिक सनातन परम्परा में जिस प्रकार भगवान् विष्णु के मुख्य दस अवतार माने गए हैं, आगम की भी सनातन परम्परा में महाशक्ति के दस अवतार माने गए हैं। उन्हीं दस अवतारों को शाक्त तान्त्रिक संसार में दस महाविद्याओं के रूप में देखा एवं पुकारा गया है। इन दस महाविद्याओं के तन्त्रवर्णित स्वरूपों की ओर गम्भीरता पूर्वक ध्यान देने पर यह स्पष्ट होता हुआ सा आभास मिलता है कि प्रकृत महाविद्याओं को दस रूपों में विभक्त समझने के पहले हम (१) सौम्य, (२) उग्र और (३) सौम्योग्र—इन तीन प्रभेदों में विभक्त मानें। तदनुसार (१) त्रिपुरसुन्दरी, जिन्हें षोडशी, त्रिपुरा, श्रीविद्या आदि नामों से भी तान्त्रिक-साधकों के द्वारा पुकारा गया है। महान् अद्वैत वेदान्ती-आचार्य शङ्कर तक जिनके समयमार्गी उपासक बतलाए गए हैं, प्रथम स्थान को ग्रहण करती सी दिखाई देती है। द्वितीय स्थान है (२) भुवनेश्वरी का और तृतीय स्थान है (३) मातङ्गी का तथा चतुर्थ स्थान (४) कमला का, जिन्हें कमलात्मिका, श्री, महालक्ष्मी आदि नामों से भी कहा जाता है। इन चार महाविद्याओं के ध्यानवाक्य और तदनुसारी ध्यातव्य स्वरूपों पर ध्यान देने पर यह मानना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन चार महाविद्याओं को हम सौम्य विद्याओं के रूप में ग्रहण करें।

मेरी दृष्टि में (२) उग्र महाविद्याओं के अन्दर आती है—(१) काली, (२) छिन्नमस्ता, (३) धूमावती और (४) बगलामुखी। सौम्योग्र महाविद्याएँ हैं—(१) तारा और (२) भैरवी। द्वितीय महाविद्या तारा में उग्रता के साथ सौम्यता का आभास इसलिए भी मिलता है कि इनके प्रभेदों के अन्दर एक प्रभेद उग्रतारा भी आती हैं और एक नील सरस्वती भी। इन दोनों के अन्दर प्रथम में उग्रत्व विशेषण तभी सार्थक हो पाएगा जब कि तारा के किसी प्रभेद को अनुग्र अर्थात् सौम्य भी माना जाय। साथ ही उनके एक प्रभेद का नील सरस्वती यह नामकरण भी तब तक संगत नहीं हो सकता जब तक उन्हें सौम्य भी न मान लिया जाय। क्योंकि सरस्वती शुक्ल न होकर नील ही क्यों न हो जाएँ, विद्या के अधिष्ठात्री होने के कारण उनमें सौम्यता माननी ही होगी तभी किसी सप्रतिभ कवि ने कभी किसी अप्रतिभ कवि से इस प्रकार मार्गदर्शन कराते हुए यह कहा था कि "अनवद्य भाव से धारा-प्रवाह रूप में गद्य काव्य और पद्य काव्य की रचना में आपको इतनी शिथिलता क्यों? क्या आपने त्रिभुवनसारा महाविद्या तारा की आराधना नहीं की?"*

कहा जाता है कि वे रघुकुलगुरु वशिष्ठ भी महाविद्यातारा के ही साधक थे, जिन्होंने कभी यह कह कर समाज का पथ प्रदर्शन किया था कि "आगे यदि चारों वेद हैं तो पीठ पर बाण सहित धनुष भी लटक रहा है। कोई भी देखना चाहे तो ब्राह्म और क्षात्र दोनों बलों को यहाँ एकाश्रित देख सकता है। यहाँ शाप और शर दोनों के बलों को कोई भी देखने का इच्छुक देख सकता है।"

भैरवी महाविद्या यों तो अपने नाम से ही यह सूचित करती हैं कि मैं भयानक हूँ और "बिनुभय होहिं न प्रीति।" फिर भी इन्हें सौम्य भी इसलिए मानना आवश्यक है कि देवों की सम्मिलित शक्तिरूप में अवतीर्ण होनेवाली महिषमर्दिनी भगवती दुर्गा भी इस भैरवी महाविद्या में ही अन्तर्भुक्त मानी जाती हैं। दुर्गा को सौम्योग्र मानने पर ही उनके प्रति यह कथन संगत हो पाता है कि "तुम तुष्ट होने पर उपासक व्यक्ति एवं समाज के सारे रोगों को हर डालती हो और रुष्ट होने पर विपथगामी व्यक्ति और उनके समाज के सारे अभीष्टों को नष्ट कर डालती हो। तेरे उपासकों के पास कोई भी विपत्ति फटक तक नहीं पाती और तुम्हें आश्रयण करनेवाले अन्य सभी के आश्रय अर्थात् आश्रयणीय बन जाते हैं।‡"

इस पूर्व पीठिका के अनन्तर अब मैं अपने पाठकों को उक्त उग्र महाविद्याओं के अन्तर्गत विस्मयप्रद छिन्नमस्ता महाविद्या की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। महाविद्या छिन्नमस्ता का ध्यान इस प्रकार तन्त्रशास्त्र में कर्तव्य वर्णित हुआ है कि वे देदीप्यमान सूर्यमण्डल के बीच इस प्रकार अवस्थित हैं—उस सर्वजयी कामदेव के पीठ को अपना आसन बनाकर व्यत्यास युक्त नृत्यमय चरणभंगी में वे खड़ी हैं, जो कि ऊर्ध्वमुखी एवं अपने बाहुपाश में अपने अतिप्रिय पति कामदेव को आबद्ध कर उसके साथ यौन-सम्बन्ध के सम्पादन में तल्लीनता प्राप्त करनेवाली अपनी प्रियतमा रति को दृढ़भाव से बाहुपाश में आबद्ध कर तल्लीनतापूर्वक उसके साथ

*अनवद्ये यद्गद्ये पद्ये शैथिल्यमावहसि।
तत्किं त्रिभुवनसारा तारा नाराधिता भवता॥

‡रोगानशेषानपहंसि तुष्टा रुष्टा तुकामान् सकलानभीष्टान्।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति॥
(दुर्गा सप्तशती)

योन सम्बन्ध सम्पादन में संलग्न हैं।*

देवी छिन्नमस्ता का रूप जवापुष्प या उदीयमान भगवान भास्कर के समान अत्यन्त अरुण हैं अर्थात् अत्यन्त लाल हैं। इस महाविद्या के हाथ दो ही हैं, जिनके अन्दर अपने दाएँ हाथ में वे उस कुब्जखड्ग को धारण किए हुई हैं जिससे उन्होंने अपने गले को काट डाला है। इससे उनके दक्षिण हाथ में विराजमान वह खड्ग शोणित से लिप्त होने के कारण लाल दिखाई दे रहा है। वे अपने द्वारा ही काटे गए उस सिर को, जिसका मुँह खुला है, बाल बिखरे हैं, तीन आँखें जहाँ शोभायमान हैं, अपने बाएँ हाथ पर रक्खे हुई हैं। महादेवी छिन्नमस्ता के कटे गले से शोणित की तीन धाराएँ वेग पूर्वक ऊपर की ओर निकल रही हैं, जिनके अन्दर बीच की रुधिर धारा, अगल-बगल निकलने वाली दो रुधिरधाराओं से अपेक्षाकृत अधिक मोटी और अधिक ऊपर तक गतिशील है, जो कि महादेवी के बाएँ हाथ पर खिले कमल के समान सुशोभित खुले मुँह में गिर रही है और देवी बड़े चाव से उस पुरुष शोणित धारा का पान करती हुई अत्यन्त प्रमुदित दिखाई दे रही हैं, अगल-बगल ऊर्ध्वमुख भाव से निर्गत उक्त दो शोणित धाराओं का पान उनकी वे दो सखी योगिनियाँ बड़ी प्रसन्नता के साथ कर रही हैं। इन दोनों पार्श्वस्थित योगिनियों के अन्दर मध्यस्थित महादेवी के दक्षिण भाग में अवस्थित योगिनी का नाम "वर्णिनी" है तो वाम भाग में अवस्थित द्वितीय योगिनी का नाम है "परा डाकिनी"। दोनों योगिनियाँ भी उसी पाद मुद्रा में अवस्थित हैं जिस व्यत्यासयुक्त नृत्यरत पादमुद्रा में अवस्थित हैं मध्य-स्थित पूर्व वर्णित महादेवी छिन्नमस्ता। दोनों योगिनियों के हाथों में हैं कुब्जखड्ग और खप्पर।

तान्त्रिक साधक-परम्परा में इस महाविद्या के उपासक अति अल्प पाए जाते हैं। कोश ग्रन्थों में तन्त्र शब्द के जो ४१ अर्थ पाए जाते हैं, उनके अन्दर आगम आदि अन्य नामों से पुकारे जानेवाले तथा धर्म और दर्शन दोनों से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र-विशेष को भी तन्त्र शब्द का एक अर्थ कहा गया है। उस शास्त्र विशेष को ही प्रमाण मानकर चलने वाले लोग कहे जाते हैं "तान्त्रिक", जिनकी परम्परा कहलाती है "तान्त्रिक परम्परा", जिसके अन्दर विरल रूप से ही सही इस छिन्नमस्ता महाविद्या के उपासक पाए अवश्य जाते हैं।

विज्ञजनों के बीच यह सुप्रसिद्ध है कि प्रकृत तन्त्र शास्त्र एवं उसके अन्दर वर्णित होने वाले विषय रहस्य से भरे हैं। अतः वह उसकी रहस्यमयता की धारणा कभी तत्प्रतिपाद्य किसी विषय के रहस्य की ओर उत्सुक बना डाले, जिज्ञासु बना डाले, यह अस्वाभाविक नहीं। इसलिए प्रकृत छिन्नमस्ता तत्त्व भी स्वयं रहस्य की ओर किसी विवेचक हृदय को आकृष्ट करें—आमन्त्रित करें तो आश्चर्य क्या ?

यह बात नहीं है कि भक्ति जड़ उपासक भी श्रद्धा-विश्वासपूर्वक रहस्य ज्ञान के बिना भी उपासना को अपनाकर अभीष्ट फल को पा लेते हैं क्योंकि क्रिया की सामान्य सफलता के लिए साधक और इतिकर्तव्यता अर्थात् क्रिया सम्पादन की उचित प्रणाली, ये दोनों ही अपेक्षित होते हैं। इसे किसी भी क्रिया की सफलता के स्थल पर भलीभाँति देखा जा सकता है। फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि ऐसा सफल-साधक धर्म के क्षेत्र तक ही सीमित रह जाता है, दर्शन के क्षेत्र में वह पदार्पण नहीं करता। दर्शन है रहस्य का ज्ञान, तदतिरिक्त और कुछ नहीं। जहाँ विहित क्रिया में दर्शन की सामानाधिकरण्य अर्थात् एकाश्रित होना प्राप्त होता है, वहाँ 'सोने में सुगन्धि' या 'मणि-काञ्चन-संयोग' की तुलना प्राप्त होती है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। तभी आचार्य शङ्कर एवं उनकी परम्परा में आने वाले अन्य दार्शनिक-साधक की साधना यथा आज भी स्वामीकरपात्री आदि की साधना अच्छी साधना मानी जाती है।

हाँ, तो छिन्नमस्ता तत्त्व के रहस्य की बात चल रही थी। उसके सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर जो कुछ बातें मेरे मन में आई हैं, उन्हें यहाँ अब विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जा रहा है।

मेरी दृष्टि में महादेवी छिन्नमस्ता की उपासना अनादिकाल से आगम की साधक परम्परा में वीररस की अधिष्ठात्रीदेवता के रूप में होती आ रही थी, जिस रहस्य को सम्भवतः लोग आज भूल से गये हैं। यों तो शृंगार आदि प्रत्येक रस स्वसिद्धों को भोग और मोक्ष दोनों दिलाता है, फिर भी वीर रस की यह अपनी विशेषता केवल अपने लिए ही सुरक्षित है कि वह व्यक्तिगत समुन्नति का ही साधक नहीं, किन्तु वह सुस्पष्ट रूप से समग्र राष्ट्र का भी समुन्नति साधक के रूप में दिखाई दे रहा है। राष्ट्र की रक्षा और राष्ट्र की समुन्नति—दोनों, वीर राष्ट्रीय जनों पर निर्भर करते हैं—इसे भला कौन विवेकी नहीं स्वीकार करेगा ? और ऐसा स्वीकार कर लेने पर क्या यह स्वतः सिद्ध नहीं हो उठता है कि समग्र राष्ट्र की सर्वतोमुखी समुन्नति वीर रस ही करता है और कोई नहीं।

व्यक्ति या समाजात्मक राष्ट्र, वीर इसीलिए तो कहलाता है कि उसमें वीर रस का अस्तित्व अपेक्षित मात्रा में होता है। रस शास्त्र से थोड़ा भी परिचय रखने वाले यह भलीभाँति जानते हैं कि वीर रस का स्थायीभाव है उत्साह। सैनिकों या आरक्षियों में यदि उमड़ता हुआ उत्साह न हो तो राष्ट्र की विजय या राष्ट्र की रक्षा कभी नहीं हो सकती। अतः राष्ट्र में, अर्थात् राष्ट्रगत समाज में पूर्णरूप से उत्साह का सञ्चार नितान्त आवश्यक है। यहाँ सञ्चार शब्द से मेरा अवक्षित अर्थ है उमड़ पड़ना मात्र। मेरी दृष्टि में उस उमड़े हुए उत्साह की रस्यमानता दो प्रकार की होती है। एक स्वगत उत्साह की स्वगत रूप में रस्यमानता और दूसरी परगत उत्साह की साधारण रूप में रस्यमानता। कोई भी व्यक्ति या समाजात्मक राष्ट्र, प्रथम रस्यमानता को अर्थात् स्वगत उत्साह के आस्वाद को लेकर ही वीर बनता है, चाहे वह बहिर्वीर हो या अन्तर्वीर हो। दूसरी रस्य-

---

* मास्वन्मण्डलमध्यगांनिजशिरश्छिन्नं विकीर्णालकं
स्फारास्यं प्रपिबद्गलात्स्वरुधिरं वामे करे बिभ्रतीम्।
यामाशक्तरतिस्मरोपरिगतां सख्यौ निजे डाकिनी-
वर्णिन्यौ परिदृश्यमोदकलितां श्रीछिन्नमस्तां भजे॥
(मन्त्रमहोदधि)

जयजयात्यन्त सौन्दर्यपुञ्जकामिनीसद्रतिप्रांशुबाहुद्वयावद्धसद्विग्रहं बाहुनेन च स्वेन तामाविबद्धच व्यवायाकुलं काममेवाश्रयीकृत्य विन्यस्त पादद्वयाम्भोजिनि !
—छिन्नमस्तादण्डकम्।

निर्मार्ग तन्त्र विशेषांक

मानता का वर्णन साहित्यशास्त्र में किया गया पाया ही जाता है। अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ नहीं कहना है। मेरी दृष्टि में बहिर्वीर वह है जो अपनी जानकारी में अपनी वीरता का प्रभाव अपने से भिन्न पर ही डालना चाहता है और अन्तर्वीर वह जो कि अपनी वीरता के प्रभाव को औरों पर न डालना चाहते हुए अपने पर ही उसका प्रभाव डालना चाहता है। परन्तु उत्साहात्मक स्थायीभाव के जागरण और तदर्थ अपेक्षित साधनों की अपेक्षा दोनों प्रकार के वीरों को समान रूप से हुआ करती है। महादेवी छिन्नमस्ता वीर रस की अधिष्ठात्री देवता कैसे सिद्ध होती हैं ? इस जिज्ञासा के शान्त्यर्थ निम्नलिखित बातें देखने योग्य हैं। यथा—

(१) प्रकृत छिन्नमस्ता महाविद्या वीरों के लिए यह आदर्श उपस्थित करती दीख पड़ती हैं—परस्पर प्रेम पाश में आबद्ध रति और काम पर खड़ी होकर उन्हें रौंदती हुई, वीरों को चाहिए कि वे अपनी वीरता एवं उसके द्वारा समग्र राष्ट्र की रक्षा के लिए रति और काम पर पहले विजय प्राप्त कर लें, नहीं तो अन्तर्वीर हो या बहिर्वीर, वह अपने लक्ष्य की सिद्धि नहीं प्राप्त कर पाएगा। हाँ, यहाँ एक प्रासङ्गिक बात को बतला देना असङ्गत नहीं होगा कि कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय की सुरक्षा में विद्यमान दरभंगा-राज-सङ्ग्रहालय में जो एक छिन्नमस्ता महाविद्या का अति दुर्लभ सुन्दर कलापूर्ण चित्र देखने को मिला है, उसमें महादेवी छिन्नमस्ता के आसन रूप में विद्यमान काम और रति को विपरीत सम्भोगासक्त रूप में दिखलाया गया है। दार्शनिक दृष्टि से कहें या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, वह अधिक संगत जँचता है। क्योंकि प्राणियों की वास्तविक मानसिक परिस्थिति यही होती है कि पहले कामनात्मक 'काम' होता है। फिर आकर्षणात्मक 'रति' उदित होती है।

(२) महादेवी छिन्नमस्ता दोनों को रौंदती हुई नृत्यमुद्रा में उन पर अवस्थित होकर दोनों प्रकार के वीरों को मानो यह उपदेश देती हैं कि आकर्षक विषयों को देखते हुए भी अपने को उनसे पूर्णरूप में निर्लिप्त रखना चाहिए।

(३) देवी छिन्नमस्ता का शारीरिक वर्ण जो लाल दिखाई देता है, वह इस ओर संकेत दे रहा है कि उत्साहात्मक स्थायीभाव एवं तदात्मक वीर रस अत्यन्त गम्भीर होने के कारण यद्यपि सत्व गुण से ओत-प्रोत होता है सही, परन्तु वीरता तब तक उभड़ नहीं सकती जब तक स्वतः चलनशील रजोगुण उपस्तम्भक नहीं होता। राग रजोगुणात्मक होता है, यह सांख्य योग और वेदान्त, तीनों दर्शनों से सिद्ध है।

(४) प्रकृत महाविद्या ने अपनी नग्नता से वीरों को असत्य से सदा दूर रहते हुए पूर्ण रूप से सत्य को अपनाने की ओर संकेत किया है, क्योंकि सत्य नग्न हुआ करता है।

(५) देवी छिन्नमस्ता अपने हाथों अपना सिर काटकर अपने दूसरे हाथ में स्थापित मुखमण्डल द्वारा पूर्ववत् सुस्थित अपने गले से निर्गत मुख्य रुधिरधारा का पान दिखलाकर वीरों को मानो यह शिक्षा दे रही है कि वे भी इसी प्रकार निर्भीक हों कि किसी भी परिस्थिति में उन्हें किंकर्तव्यविमूढ़ता स्पर्श तक न कर पाए। वे जीते जी अपने को मुक्त और मरने पर भी अपने को जीवित ही समझें।

(६) पार्श्ववर्ती दो योगिनियों के द्वारा दो शोणितधारा का पान दिखलाकर छिन्नमस्ता महाविद्या मानो यह बतला रही हैं कि राष्ट्र की रक्षा का भार पूर्ण रूप से वीरों पर ही है। यह इसलिए कि राष्ट्र में अर्थात् समाज में दो तरह के ही लोग होते हैं। (१) प्रवृत्तिशील और (२) निवृत्तिशील। तदनुसार उन्हें भलीभाँति प्रवृत्ति और निवृत्ति के रूप में लिया जा सकता है, प्रवृत्ति और निवृत्ति को ही प्रधानता बतलाने के लिए। ये दोनों ही दो योगिनियों के रूप में दिखलाई गई हैं जो महादेवी के गले से निर्गत दो रुधिरधाराओं को ही पीकर जो रही हैं। इससे यह वस्तुस्थिति अवश्य स्पष्ट हो उठती है कि सारा का सारा समाज अर्थात् राष्ट्र वीरों की वीरता के भरोसे ही सुख की नींद लेता है। अतः वीरों का—फलतः राष्ट्रीय सैनिक शक्ति का—उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। इसलिए वीरों एवं सैनिकों तथा आरक्षियों को चाहिए कि वे कभी अपने इस महान् उत्तरदायित्व को न भूलें। परन्तु वह तभी सम्भव हो पाएगा, जब कि वे कभी असावधान न हों, कर्तव्यच्युत न हों।

(७) उन्होंने अपने वक्षस्थल पर कमल-पुष्प दिखलाकर यह बतलाया है कि वीरों को कठोर, दुष्टों के दलनार्थ ही होना चाहिए। अन्यथा उनका हृदय कोमल ही हो; नहीं तो वे दुःखियों के दुःख के विरुद्ध, अपनी वीरता का उपयोग नहीं करेंगे।

अस्तु, अभी समयाभाव के कारण इतना ही रखा जाय। विश्वास है कि यह छोटा-सा लेख तन्त्र-शास्त्र की रहस्यमयता की ओर इङ्गित करने में सफल अवश्य होगा।

धर्मप्राण स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के ७३वें जन्म दिवस पर

हार्दिक शुभकामनाओं सहित

सर्राफ पेपर मिल्स लिमिटेड

अलवर (राजस्थान)

रजिस्टर्ड कार्यालय–34, पूसा रोड, नई दिल्ली–110005. फोन–564359–562833

संस्कृतवाङ्मये वाक्तत्त्वम्

• पं० रामप्रसाद त्रिपाठी •

समस्तस्य लोकव्यवहारस्य साधकं वाक्तत्त्वमेवास्ति इत्यत्र नाऽस्ति कश्चन विवादः। संस्कृतवाङ्मये निहितं तदीयं स्वरूपं कीदृशमस्ति ? इति वर्णयितुमुपक्रम्यते।

तत्र सर्वप्रथमं श्रुतिषु वर्णितं किंचित्स्वरूपमुपस्थाप्यते।

उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् ,
उतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे ,
जायेव पत्य उशती सुवासाः[1] ॥

अयं भावः—

वाच एव विवर्तभूताः पृथ्वी-समुद्र-पर्वतादयो वाक्तत्त्वे स्थिताः सन्ति। तान् पश्यन्नपि मनुष्यो न पश्यति, किन्तु इयं पृथ्वी, अयं पर्वतः, अयं समुद्रः इत्यादिषु भ्रमात्मकेषु ज्ञानेषु स निबद्धो भवति। इदं जगत् वाक्तत्त्वमेवेति न जानाति। न च समुद्रादिकेषु रूपेषु वाक्तत्त्वं पश्यति। अत एव एतत्सर्वं अपश्यन्निव भवति। तथैषा श्रुतिरुद्घोषयति—उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्, इति। समस्तानि वस्तुजातानि शब्दस्यैव विवर्तभूतानि। न हि कोऽपि जनः तं शब्दत्वेन पश्यति। अनेन प्रकारेणार्थं ज्ञात्वा ऽपि वाचं शृण्वन्नपि च न शृणोति। तत्र कारणं यत् व्यवहारोपयोगिध्वन्यात्मकवर्णरूपेषु वाक्तत्त्वमेवास्ति इति न जानाति। अतएव एतत् श्रवणमश्रुतमिव भवति। यथा पृथ्वीपर्वतादिरूपेषु विवर्तमानं वाक्तत्त्वं पश्यन्नपि वाक्तत्त्वमजात्वा न पश्यति, तथैवाभिव्यञ्जकध्वन्यात्मकवर्णरूपेषु शृण्वन्नपि वाक्तत्त्वमजात्वा फलतो न शृणोति।

यस्य शब्दशास्त्रपरिज्ञानात् सत्संस्कार उत्पद्यते, तस्य कृते वर्णादिच्छन्नं भ्रमं निवार्य वाग्देवी स्वीयं वास्तविकं शरीरं दर्शयति। अस्यार्थस्योपमा श्रुतौ 'जायेव पत्ये उशती सुवासा' इत्यनेन विहिता। यथा काऽपि रमणी मनोहराणि वस्त्राणि धृत्वा प्रणयोत्कर्षे लज्जया विरहिता पतिमालिङ्गति, कामेन पीडिता सती रमणेच्छया स्वशरीरं पतिसंदर्शनाय विवृतं करोति, तथैव वाग्देव्यपि शब्दशास्त्रतीर्थे स्नात्वा अपशब्दानपहृत्य संपूर्णं शब्दानां वस्त्रं परिधाय योगाभ्यासेन मतां लज्जया विरहिता शब्द-शास्त्रनिष्णातं पुरुषमालिङ्गति। ततश्च वर्णादीनां वस्त्राणि स्रंसयित्वा वाग्देवी स्वकीयं शब्दस्फोटरूपं शरीरं प्रकाशयति। एषा श्रुतिः आगमेषु विविधं व्याख्याता लभ्यते।

वाचः ब्रह्मत्व निरूपणम्—

वाङ्मयस्य शब्दब्रह्मत्व प्रतिपादनपरायणा अनेकाः श्रुतयः सन्ति, यासु वाच ब्रह्मत्वमास्थितम्। तद्यथा—"वाग्घि ब्रह्म[2]" "वाग्वै ब्रह्म[3]" 'वाग्ब्रह्म[4]' 'सा या सा वाक्[5], ब्रह्मैवैतत्" "ब्रह्मैव वाचः[6] परमं व्योम ॥ "वाग्वै ब्रह्म[7] सुब्रह्मचेति" वाग्योनिः[8]" इत्यादि श्रुतिषु सरस्वत्यपरपर्यायाया वाचो ब्रह्मत्वं प्रतिप्रादितम्।

वाग्देव्याः बहुरूपत्वम्—

"ओंकार एव सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मऽभिर्व्यज्यमाना। बह्वी नानारूपा च भवति"[9] इति श्रुत्या वाचो नानारूपत्वं सङ्केतितम्। तत्र "विश्वमिदं वाचम्"[10] 'एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गो रूपम्"[11]इत्यादिषु श्रुतिषु इदं विश्वं वाचि प्रतिष्ठितमिति सम्यङ् निरूपितम्।

एवञ्च वाचो बहूनि नामानि, तथा विविधोपमाप्रतिपादिकाः श्रुतयश्च विलसन्ति, याभ्यः वाग्देव्याः बहुरूपत्वं सिद्धयति। ताश्चेमाः श्रुतयः—

(क) वाग्वै समुद्रो मनः[12] समुद्रस्य चक्षुः।
(ख) वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः[13] क्षीयते।
(ग) वागेवाग्निः[14]।
(घ) वाग् सर्व भेषजम्[15]।
(ङ) वाग्वै मनसो ह्यणीयसी[16]।
(च) वाचं धेनुमुपासीत, तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः[17]।

(१) ऋङ्मन्त्र उद्धृतः म० भा० नवाह्निकात्।
(२) ऐतरेय ब्राह्मणे ।२।१५ ॥
(३) बृहदारण्यके० ४।१।२ ॥
(४) गोपथब्राह्मणे २।१० ॥
(५) जैमिनीयोपनिषदि २।१३।२ ॥
(६) तैत्तिरीय० ३।९।५।५ ॥
(७) ऐ० ॥६।३ ॥
(८) ऐ० २।३८ ॥
(९) ऐ०—२।३८ ॥
(१०) ऋग्वेदः—१।१६४।२० ॥
(११) ऐ० उ०—३।६।७ ॥
(१२) अथर्व०—१९।७।७५ ॥
(१३) ताण्ड म० ब्रा०—।६।४।७॥
(१४) ऐतरेय—५।१६॥
(१५) शत०। ३।२।२।१३॥
(१६) शत०—७।२।४।२८॥
(१७) शत०—१।४।४।७॥

(छ) वाक् तु सरस्वती,[१८] वाग्वै सरस्वती ।

(ज) वाग्वै सुपर्णी माया ।

(झ) वाग्वै मतिः ।[१९]
वाचा हीदं[२१] सर्वं मनुते ।

(ञ) वाग्वै विराट्[२२] ॥

(ट) वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म[२३] ॥

"वाग्वै विश्व[२४] कर्मणि" इत्याद्याः श्रुतयः प्रमाणं सन्ति । किम्बहुना वाग्धि प्राणिसमूहस्य राज्ञी, वाचा हि प्राणिजातं सनाथं भवति । उक्तञ्च अथो वाग्वै सर्वराज्ञी । वाग्धि सर्वतो[२५] राज्ञी । इति ।

वाग्देव्याः कार्याणि—

प्राणिजातस्य शरीरे यावन्तः क्रियाकलापाः सन्ति तेषां समेषां वागेव कारणम् । उक्तञ्चैतत्—यथा छान्दोग्योपनिषदि नारद-सनत्कुमारसंवादे—"न साधु नासाधु नाहृदयज्ञो वाग्वैतत्सर्वं विजायते वाचमुपास्वेति । स यो वाचं ब्रह्मेत्युपासते यावद्वा यो मं तत्रास्य यथा कामचारो भवति ।[२६] एवञ्च बृहदारण्यके—'यद्विद्योतते यद् विधूनुते तत्स्तनयति यन्नेहति तदवर्षति वागेवास्थ[२७] वाक्[२८]" इत्युक्तम् ।

किञ्च इन्द्रियैः यत्किमपि अनुभूयते तत्सर्वं वाचा सम्पृक्तमेवास्ति । इन्द्रियाणां सर्वे व्यापाराः वाग्विरहिताः न भवितुमर्हन्ति । एतन्नि-दर्शनं श्रुतौ सूक्ष्मतयोपलभ्यते । तथा हि—

"सोऽयं पुरुषो यः प्राणिति वापानिति वा । न तत् प्राणेन नापा-नेनाहेति प्राणिषं वापानिषं वेति । वाचैव तदाह । तत्प्राणापानौ वाचमतो वाङ्मयौ भवतः । अथ यच्चक्षुषा पश्यति न तच्चक्षुषाहेत्यप्राक्षमिति वाचेव तदाह । तच्चक्षुर्वाचमप्येति वाङ्मयं भवति । अथ यच्छ्रोत्रेण शृणोति न तच्छ्रोत्रेणाहेत्यश्रौषम् इति । वाचेव तदाह । तच्छ्रोत्रं वाचमप्येति वाङ्मयं भवति । अथ यन्मनसा सङ्कल्प्यते न तन्मनसाहेति समर्थो कल्प्तमिति । वाचेव तदाह । तन्मनो वाचमप्येति वाङ्मयं भवति । अथ यदङ्गैः सुशीमं दुःशीमं वा स्पृशति न तदङ्गैराहेति सुशीमं वा दुःशीमं वास्प्राक्षमिति वाचैं तदाह । तत्सर्वं आत्मा वाचमप्येति वाङ्मयं बिभर्ति । तदेतदृचाभ्युदितम्" नेन्द्राहते पवते धाम किञ्चन[२९] इति ।

"वाग्वा इन्द्रो न हूयते वाचः यवते धाम किञ्चन[३०]" इत्यपि श्रुतिः । उक्तायां श्रुतौ "वाचमपीतः", "वाङ्मयौ वाक्प्रधानौ" भवत इत्यर्थः । सुशीमं—सुप्रापम्, दुःशीमं=दुष्प्रापम्, इत्यभिप्रायः ।

वागेव शब्दाह्वयं ज्योतिः—

काव्यादर्शे शब्दाह्वयं ज्योतिरेव तिमिराक्रान्तं जगत् प्रकाशयति' इत्युक्तम् । तथा हि—

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्त्तते ।
इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते[३१] ॥

एषा उक्तिः श्रुतिमेवावलम्ब्य काव्यादर्शे व्याख्याता वर्तते । श्रुति-रपि वाग्रूपस्य शब्दाख्यस्य ब्रह्मणः परमप्रकाशकत्वेनोद्घृता । तथाहि—"त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः योऽयं जातवेदाः यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशः, तदेतत् सर्वमुपनिबद्धम् । यावत् स्थास्नु चरिष्णु च" इति श्रुतिः । अस्यां श्रुतौ शब्दाख्या वाक् परमप्रकाशकत्वेन समादृता ।

"वागर्थौ सम्पृक्तौ, वाङ्मनसयोरभेदश्च"—

"वागर्थाविव सम्पृक्ताविति" कालिदासोक्तिः[३३] श्रुतिमेवानुसरति । तथा हि—वागेवार्थश्च नामानि च । मन एव यजूंषि[३४] वागेवार्थ-मश्नुते वाग्ब्रवीति, वागेवार्थं सन्ति हि संतनोति[३५] ।

सूक्ष्मार्थेनाविभक्ततत्त्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम् ।
उत्पश्ये विदुरन्यामिव च एनां नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम् ॥

इत्याद्याः श्रुतयः सूक्ष्मादर्थतत्त्वादविभक्तां वाचं प्रतिपादयन्ति । एवञ्च-"वागिति मनः[३६]" 'वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्[३७]'। इत्युभाभ्यां श्रुतिभ्यां वाङ्मनसयोरभेदोऽपि सिद्ध्यति ।

वाचः विश्वस्योत्पत्तिः—

मरणशीलानां प्राणिनाम्, अमृतानां, विश्वस्य, भुवनानाञ्च समेषां प्रादुर्भावस्थानं वागेवास्ति । तथैषा श्रुतिः—

"वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्"[३७] इति । एवञ्च—प्रजापतिर्वा इदमेकमासीत्, तस्य वागेव स्वमासीत् वागद्वितीयः स ऐक्षत[३८]" इत्यादिश्रुतिभिः सृष्टेः प्रारम्भो वाच एवा-भवत्" इति निश्चीयते किञ्च "प्रजापतिर्वा इदमेकमासीत् । तस्य वागेव

(१८) शत०—१४।८।९।१॥
(१९) ऐतरेय—३।१।
(२०) कौषीतकिः ०।५।३॥
(२१) शत० ॥३।६।२।२॥
(२२) शत० ८।१।२।७।
(२३) शत० ३।५।१।३४
(२४) बृहदारण्यके ४।१॥
(२५) याजुर्वेदे १३।५८॥
(२६) कौषीतकी ब्रा० २७।४॥
(२७) छान्दोग्यो० ७।१०२॥
(२८) बृहदारण्यकोप० १।१॥
(२९) ऋग्वेदः—१९।६९।६॥
(३०) कौ० ब्रा०—११।४।
(३१) काव्यादर्शे—१।३।४।
(३२) उद्धृता० वा० प० टी० वृ०—१।१२॥
(३३) रघुवंश महाकाव्य मंगलाचरणम्
(३४) शत० ४।६।७।५
(३५) उद्धृता वा० प० टी० वृ०—१।११९॥
(३६) उद्धृता का० प० टी० वृ० १।१।
(३७) उद्धृता वा० प० टी० वृ० १।१२०॥
(३८) काठक सं० १२।५।२७॥

स्वमासीत्। तां मिथुनं समभवत। सा गर्भमधत्त, सा स्मादाक्रान्तामत, सेमाः प्रजाः असृजत" इति।[३९] "वाचा हीदं सर्वं कृतम्"[४०] ॥ इति। आम्नः श्रुतिभ्यो वाचः सृष्टेरुद्गमः सुतरां सिद्धयति ॥

वाग्भेदाः—

वैदिकमन्त्रेष्वपि परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी चेति भेदैः चतस्रो वाचः संकेतिताः। तथाहि—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति"[४१] ॥ इति ॥

ऋङ् मन्त्रे सम्यगुक्तम्।

एवञ्च—चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति भाष्ये निपाताश्चेत्यत्र चेत्यस्यार्थः—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी चेति श्रीनागेशेनोक्तम्। तथैव व्याकरणतन्त्रागमेषु सर्वत्रैव चतुर्णां वाग् भेदानां महता समारोहेण वर्णनं कृतमस्ति। क्रमेण तावद विमृश्यते—

(क) परा वाक्—

तत्र परा वाक् आत्मज्योतिरेव, तस्यां साक्षात्कृतायां मोक्षलक्ष्म्या अवाप्तिरेव। उक्तञ्च—

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी।
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते[४२] ॥

एषा च सर्वगताऽपि प्राणिनां मूलाधारे संस्कृतपवनचलनेनाभिव्यज्यते। ज्ञातमर्थं विवक्षोः पुंस इच्छया जातेन प्रयत्नेन योग एव मूलाधारस्थ-पवनसंस्कारः। तदभिव्यक्तं शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठतया—"निष्पन्दं परावाक्" इत्युच्यते। उक्तञ्च हरिणा—

अनादि—निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[४३]

अतः स्वरूपज्योतिः स्वप्रकाशा, वेद्यवेदकभेदातिक्रमात् सूक्ष्मा दुर्लक्ष्या चेति। इयं "वाक्" अनपायिनी कालभेदास्पर्शादिति। सेयं स्वरूपज्योतिः परावाक् संविद्रूपा स्वप्रकाशा अविद्याकल्पितैः मलैः रहिता चास्ति। नहि तस्यां परिशुद्धायां परायां मलमस्ति। एषा योगिनां निर्विकल्पकसमाधौ प्रत्यक्षी क्रियते।

(ख) पश्यन्ती—

तदेव नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुना अभिव्यक्तं मनोविषयः "पश्यन्ती" इत्युच्यते। चिन्तन-मनन-बोधाद्यवस्था एव पश्यन्तीति व्यवह्रियते। "मनः बुद्धिः" इत्युभावेव सक्रिये भूत्वा यदा अभिव्यक्तेः इच्छाया, विश्लेषणं कृत्वा शब्दरूपावस्थां द्रढीकुरुतः, तदा साऽवस्था मनोभावमापद्यते। यत्र वक्तुरिच्छायाः विश्लेषणं भवति। विश्लेषण-स्येदं कार्यं तैजसतत्त्वेनैव सम्पाद्यते। आयुर्वेदशास्त्रे तैजसं पाचन-प्रक्रियाया मूलं स्वीकुर्वन्ति परन्तु शब्दशास्त्रे शब्दविनिश्चय एव पाचनम्।

उक्तञ्च—

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते ॥
अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते ॥[४४]

यथा तेज इन्धनमाश्रयतां प्राप्तम्। तत्समावेशादिन्धनं स्वरूपं विहाय तेजोरूपं भवति, तथा वायुः स्वरूपेण हीनं मनोरूपतां प्रतिपद्यत इति। क्वचित् स्थलेऽयं मनोभावः, क्वचित् स्थले बुद्धेः शान्तिः क्रिया वाऽपि स्वीक्रियते। उक्तञ्च हरिणा—

"तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता[४५]" इति।

कार्यकारणविभागरहिता, वर्णक्रमरहिता, भेदरहिता, प्रकाशस्वरूपा, निराकारा, लोकव्यवहारातीता, योगिनां सविकल्पकसमाधिगम्या, बहुभेदैः स्थिता या वाक् सा एव "पश्यन्तीति पर्य्यवस्यति। उक्तञ्च—

"अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा[४६] ॥ इति

अपि च—पश्यन्ती तु "सा चलाचलप्रतिबद्धसमाधाना, सन्निविष्ट-ज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा चेत्य परिमितभेदा ॥[४७] प्रतिपादिता।

अत्र—'परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा' इति कथनेन प्रत्यवभासने बौद्धार्थ स्य ग्राह्यरूपता उक्ता। अस्यां बुद्धिस्वरूपायां पश्यन्त्यां शब्दार्थयोः पृथग्भावो नास्ति। अतः पश्यन्त्याः बुद्धिरूपता युक्ता एव। पश्यन्त्याः वाचः प्राणो जायते। पश्यन्तीप्रेरितश्च प्राणो मध्यमां वाचं परिपुष्णाति। परिपोषणेनैव मध्यमायाः श्रोत्रोपलभ्यस्वरूपनिष्पत्तिः। सा बुद्धिः (पश्यन्ती) प्राणं प्रेरयति, मध्यमारूपेण स्वरूपनिविष्टस्य शब्दस्य व्यवहारार्थं वैखरीरूपेण श्रोत्रे उपलभ्यमाना भवति। एतदेवाह—

"प्राणेनाप्यायिता सेयं व्यवहारनिबन्धनम्।"[४८] इति।

(ग) मध्यमा वाक्—

तदेव हृदयपर्यन्तभागच्छता तेन वायुना हृदयदेशेऽभिव्यक्तं तत्तदर्थ तत्तच्छब्दविशेषोल्लेखिन्या बुद्ध्याविषयी कृता हिरण्यगर्भ देवत्या परश्रवणग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा (मध्यमा) वागित्युच्यते। इयं हि वाग् अन्तःसंजल्परूपा, बुद्धिरेव यस्या उपादानकारणमस्ति। एवञ्च मध्यमा वा क्रमयुक्ता, प्राणवृत्तेरतीता, सूक्ष्मा, हृदयवस्था, चेति बुद्धेरनुभूयते।

यद्यपि मध्यमायां क्रमसंहारो वर्त्तते, परन्तु क्रमशक्तियुक्ता इयं वाक् इत्यपि वैशिष्ट्यं तस्यां दृश्यते। क्रमरहितपदानां प्रत्यक्षमपि

(३९) ताण्ड्य महाब्रा० २०।१४।२
(४०) शत० ८।१।२।९।
(४१) ऋग्वेदः, उ०—म० भा०—नवा०।
(४२) महाभारतम्
(४३) वा० प० १।१॥
(४४) वा० प० १।११३-११४॥
(४५) वा प० १।११७॥
(४६) महाभारतम्।
(४७) वा० प० टीका।
(४८) महाभारतम्

तत्र न भवति । एवंरूपा मध्यमा वाक् प्राणवृत्तिमतिक्रम्य प्रवर्त्तते । उक्तञ्च—

केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी ।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते[४९] ॥ इति

मध्यमा वाक् तु बुद्धिस्थत्वादन्तःसन्निवेशिनी, बुद्धिमात्रोपादानत्वात् च। तया च मध्यमाया वाचो बुद्धिमात्रोपादानत्वेन बुद्धिस्थत्वम्, बुद्धिस्थत्वाच्चान्तःसन्निवेशित्वम् । मध्यमा वाक् प्राणापानयोरन्तरे अवकाशे अर्थात् प्राणापानरहितायां बुद्धौ प्रतिष्ठते। प्राणापानयोर्मध्ये प्राणस्थेयं मध्यमा। अपि च प्राणस्य बुद्धिव्यतिरेकमपेक्ष्यापि मध्यमायाः प्राणाधिष्ठानताऽस्त्येवेति ।

(घ) वैखरी वाक्—

सैव चास्यपर्यन्तमागच्छता तेन वायुना कण्ठदेशं गत्वा मूर्धानमाहत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेष्वभिव्यक्ता परश्रोत्रेणापि ग्रहणयोग्या विराडधिदेवत्या वैखरी वागित्युच्यते। यस्याः प्रतिनियतं विशिष्टानुपूर्वीनियतं श्रूयमाणरूपं श्रोत्रग्राह्यत्वेनैव, न त्वनुमानादिना परैः प्रतिपत्तृभिः संविद्यते।

द्विविधा वैखरी—

पुनरपि वैखरी श्लिष्टा, व्यक्तवर्णसमुच्चारणा चेति भेदाभ्यां द्विविधा। तत्र श्लिष्टा अव्यक्ताक्षरा । व्यक्त-वर्ण-समुच्चारणा तु नाम्नैव प्रसिद्धरूपा । प्रकारान्तरेणापि द्विविधा-प्रसिद्धसाधुभावा, भ्रष्टा चेति । तत्र प्रसिद्धसाधुभावा व्याकरणेन संस्कृता । भ्रष्टसंस्कारा तु यो ऽयं शकटाक्षे परिवर्त्तते शब्दः। यो ऽयं दुन्दुभीशब्दः, यो वेणोः शब्दः, यश्च वीणायां शब्द इत्येवमपरिमाणभेदा[५०] ।

प्राणवृत्तिनिबन्धना वैखरी वाक्—

उरआदिषु स्थानेषु प्राग्वायौ वर्णरूपतयोद्भूते सति ततः प्राक् वर्णपरिग्रह शून्यैवासीदित्यवगम्यते । प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिः प्राणव्यापारः परितोषकारणं यस्याः सा तथाभूता वैखरी वाक् प्रवर्त्तत इति । उक्तञ्च हरिणा—

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राग्वृत्तिनिबन्धनी[५१] ॥

इयं वैखरी शब्दानां द्वारेण विश्वेषां व्यवहाराणां द्वारं भवति। विचाराणाम् आदानप्रदाने वैखरीं विहाय कर्तुं न पार्यते।

शब्दस्य परिणामविषये विचारः—

प्रातिशाख्ये वैखर्याः वाय्वादिपरिणामत्वम्—

तत्र ध्वनिरूपा वैखरी वाग् वायोः परिणाम इति केषाञ्चिन्मतम्। तथाहि शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये–"वायुः खात्"[५२] इति कात्यायनसूत्रादवगम्यते यत् शब्दस्य कारणभूतो वायुः, स च खात् आकाशादुत्पद्यते। वायोः निमित्तकारणत्वेनापि शब्दकारणत्वमुपपद्यते। अतः "शब्दस्तत्"[५३] इति द्वितीयं सूत्रम्। शब्दस्तदात्मको वाय्वात्मकः इति प्रातिशाख्यम्। परन्त्वत्र यदि वाय्वात्मकः शब्दः स्यात्तर्हि वायोः सर्वगतत्वात् सदाकालं सर्वत्रोपलब्धिः प्राप्नोतीति शङ्कां निरसनाय "सङ्करोपेति"[५४] इति तृतीयं सूत्रम्। संकरोपेति सम्यक् करणैरुपहितो हृदि वायुः वेणुशङ्खादिभिः शब्दीभवति।

अत्र वायुः शब्दीभवति इत्यनेन शब्दस्य वायोः परिणामत्वं स्पष्टमेव प्रतिपादितम्। यो वायुः सम्यक् करणैरुपहितो वेणुशंखादिभिः शब्दीभवति स एव संघातादीन् प्राप्य वाग् भवति। अर्थात् संघातः पुरुषप्रयत्नः स आदौ येषां स्थानादीनां ते सङ्घातादयः तान् प्राप्य वाग् भवति। वर्णो भवति इत्युक्तम् "संघातादीन वाक्"[५५] इति सूत्रे।

अ. योगदर्शनसम्मतिः—

योगसूत्राणि अधिकृत्य भाष्यं विदधानैः श्रीव्यासभगवत्पादैरपि "वागिन्द्रियं वर्णेष्वेवार्थवत्" "श्रोत्रं च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम्" इत्युक्तम्। व्याख्यातृभिश्च—ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियादावुदानवायोरभिघाताज्जायमान उदानवायोराकाशस्य परमाणूनां परिणामभेदः, स च वर्णरूपोऽप्यवाचकत्वाद् ध्वनिः"[५६] इत्युच्यते।

परमाणुपरिणामः शब्दः

परमाणुपरिणामः शब्द इत्यादृताः। अत्र वाचकः शब्दः द्विविधः—सामान्यरूपो विशेषरूपश्च। तत्र सर्वशब्दव्यक्तिष्वनुयायिशब्दत्वं सामान्यरूपम् । शांखजाङ्गतीव्रमन्दोदात्तस्वरितादिविशेषभेदादनेकत्वम्। तच्च शब्दस्य सामान्यविशेषात्मकत्वं पौद्गलिकत्वे (परमाणुपरिणामत्वे) एव सङ्गच्छते। तथाहि शब्दः पौद्गलिकः, इन्द्रियार्थत्वात्, रूपादिवत्" "शब्दः सामान्यविशेषात्मकः पौद्गलिकत्वात् रूपादिवत्[५७]।

जैनाभिमतानामणूनां शब्दभावापत्तिरिति । तत्राणूनां सर्वकार्योत्पादनशक्तिर्भवति । ते परमाणवः छायाऽऽतपतमआदिरूपैः परिणता भवन्ति । अणूनामेकत्वेऽपि तत्र शक्तिभेदः स्वीकरणीय एव । शक्तिभेदस्वीकारे सर्वशक्तियुक्तपरमाणुभिः पृथक् पृथक् वस्तु उत्पद्यते। अतः परमाणूनां छायाऽऽतपतमोरूपेषु परिणतिः नानुचिता[५८] ।

परन्तु यदा अर्थस्याभिव्यक्तये इच्छा प्रयत्नेन प्रेरिताः शब्दपरिणामत्वाच्छब्द इत्याख्याताः शब्दतन्मात्ररूपाः वा परमाणव इव संघीभवन्ति, अर्थात् प्रयोक्तृप्रयत्नेन संहियमाणाः शब्दत्वापत्तियुक्ताः परमाणवः इति, न सर्वदा परिणाम[५९] इति भावः।

ज्ञानस्य परिणामः शब्दः

शब्दः ज्ञानस्य परिणाम इति वैयाकरणाः। अत एव "आख्यातोपयोगे" इति सूत्रस्य खण्डनाय महाभाष्ये "अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्"

(४९) श्रुति भारतम् ।
(५०) वा० प० टी० अम्बा० ।१।१४२॥
(५१) महाभारतम्
(५२) शुक्लयजुः प्राति० अ० १। सू० ६
(५३) शु० य० प्रा० शा० १।७
(५४) शु० य० प्रा० शा० १।८
(५५) शु० य० प्रा० शा० १।९
(५६) ल० मं० शक्त्याश्रये टिप्पणी, पृ० १५६।
(५७) वै० सि० ल० मं० टि० शक्त्याश्रये, पृ० ॥
(५८) वा० प० का० १।११०

इत्युक्तम् । कथमुपाध्यायादधीते–इति+अपक्रामति तस्मात् तदध्ययनम् । यद्यपक्रामति किं नात्यन्तापाक्रमति ? सन्ततत्वात् । अथवा "ज्योतिर्वद् ज्ञानानि भवन्ति"[५९] ।

अत्र "सन्ततत्वात्" इत्यनेन ध्वनयता भाष्यकृता शब्दस्य ज्ञानपरिणामत्वं सूचितम् । अत एव कैयटेनाप्युक्तम्––ज्ञानस्य शब्दरूपतापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य[६१] इति ।

शब्द एव आन्तरो ज्ञाता वृत्तिविशिष्टमन्तःकरणम् । यस्तु सूक्ष्मशब्दः शक्तिरूपेण स्थितोऽस्ति स स्वरूपप्रकटनाय स्थूलशब्दत्वेन प्रतीयते ।

वस्तुतः वृत्तिविशिष्टमन्तःकरणं ज्ञानरूपमस्ति, तदेव शब्दरूपतां याति । अत एव शब्दः ज्ञानस्य परिणाम[६२]: इति सुतरां सिध्यति ।

तवेयं प्रक्रिया–अन्तःकरणं शब्दाभिव्यक्तीच्छायां मनोभावमापद्यते । ततश्च जाठराग्निना संयुज्य दाहं प्राप्नोति, तथा च प्राणवायौ अभिहते सत्येव मनोवृत्तिभ्यां सहैव प्राणा ऊर्ध्वं गच्छन्ति । ततः अन्तःकरणतत्त्वस्य मनस आश्रयतां गतो वायुः, यत्र प्राणवायुर्नास्ति, तत्र मनो नैव तिष्ठति यथा मृतशरीरे । अतः प्राणवायुर्मनस आश्रय इत्युच्यते, तत मनोधर्मेण दाहेन ज्ञानरूपशब्देन वा समाविष्टो जठराग्निना सहकारेण बहिःशब्दरूपो भवति ।

अपि च दाहवशादेव प्राणः वृत्तिविशिष्टःमनोरूपान्तःकरणेन संयुज्य 'क, 'ख' आदिवर्णरूपग्रन्थीनां विभागं कृत्वा अनेकैः श्रूयमाणध्वनिभिः वर्णानभिव्यज्य पुनः वर्णेष्वेवोपलीयते ।

वस्तुतः––वृत्तिसहितस्य मनोरूपान्तःकरणेन युक्तस्य वायोः शब्दरूपः परिणामः, सैव ज्ञानस्य शब्दरूपताऽस्ति । अयमेव क्रम उक्तः शब्दोत्पत्तौ पाणिनिशिक्षायाम्[६३]

शब्दस्यात्मरूपत्वमन्तर्यामित्वञ्चः––

भगवता पतञ्जलिना स्फोटाख्यस्य शब्दस्यात्मरूपत्वं स्पष्टं प्रतिपादितम् । तच्च––

"चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो स्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश ॥"[६४] इति ।

अस्य व्याख्यानभूतोद्धोते उक्तं नागेशेन––"महान् देवः, अन्तर्यामिरूपः शब्दो मर्त्यानाविवेश–स्वाभेदमाविष्कृतवान् इति कृत्वा अन्तर्यामिरूपात्मा शब्दाख्यः इति प्रतिपादितम् ।

तन्त्राणि सर्वाण्यत उद्भवन्ति ,
सर्वे वेदाः सकला आगमाश्च ।
एतां वाचं शिश्रियाणो मनस्वान्
वत्सो न धेनुममृतं धयीत ॥

इति वेदरीत्या वाचमभिष्टूय विश्राम्यामः ॥

(५९) वा० प० १।१११
(६०) म० भा० १।३।२९
(६१) म० भा० प्रदीपे १।३।२९
(६२) वा० प० १।१११
(६३) पाणिनि शिक्षा ६।९
(६४) महाभाष्ये उद्धृ० १।१।१।

Best compliments to

Swami Shri Karpatriji Maharaj

On the auspicious occasion of his 73rd birth day

Phone : 50440

Shri Vijay Kumar Oil Mills

Manufacturers of 'VIJAYA' and 'LION' Brand Pure Mustard Oil

1040, MUTHIGANJ, ALLAHABAD-211003

बिंदुतत्त्व

(सिद्धान्तशैवागम के अनुसार)

● डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ●

शैव एवम् शाक्त आगमों में बिंदु शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग मिलता है। द्वैतवादी सिद्धान्तशैवागमानुयायियों का मत "बिंदु" के विषय में उनका अपना है। वे मानते हैं कि विविध विषभिदुरावलीढ़ संसार एक कार्य है। कार्य इसलिए है कि वह सावयव है और जो सावयव होता है वह कार्य कहा जाता है। कार्य मात्र के लिए तीन की अपेक्षा होती ही है—कर्ता, करण तथा उपादान। व्यवहार में घटादि के निर्माणार्थ कुलाल, दण्ड तथा मृत्तिका की अपेक्षा स्पष्ट है। इसी प्रकार विश्वात्मक कार्य की उत्पत्ति में भी कर्तारूप में शिव की, करणरूप में शक्ति की तथा उपादानरूप में बिंदु की अपेक्षा सिद्धान्तशैवागमिक मानते हैं। इन तीनों को रत्नमय भी कहा जाता है। कारण यह है कि जिस प्रकार चिन्तामणिरत्न अभीष्ट प्रदान करता है, उसी प्रकार ये तीनों भी आराधकों को अभीष्टप्रदान करने में क्षम हैं। इस प्रकार इस मत में ये तीन (रत्नत्रय) जगत रूप कार्य के मूल हैं। इनमें से बिंदु के विभिन्न पर्याय प्रयुक्त होते हैं—शब्द-तत्त्व, कुण्डलिनी, अनाहतशब्द, परव्योम तथा विधा आदि।

इस मत के अनुसार स्वतंत्रशिवशब्दानुविद्ध निर्विकल्पकज्ञान अथवा चिद्रूपाशक्ति के द्वारा "बिंदु" को प्रक्षुब्ध करते हैं। क्षुब्ध बिन्दु से नाद और ज्योति प्रादुर्भूत होते हैं। पहला वाचकाध्वा तथा दूसरा वाच्याध्वा कहा जाता है। पहले में वर्ण (परा) पद, (सूक्ष्म) तथा मंत्र (स्थूल) नामक अवान्तर अध्वत्रय की स्थिति मानी गई है और दूसरे में अर्थात् वाच्याध्वा में कला, तत्त्व तथा भुवन नामक तीन अध्वाओं का अवस्थान माना गया है। इस प्रकार कुल मिलाकर छह अध्वा माने गए हैं। कला पाँच हैं—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विधा, शान्ति और शान्त्यतीत। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा शुद्धविद्या नाम से भी इन्हें ही निर्दिष्ट किया गया है। ये पाँचों परविश्वान्तर्गत माने गए हैं। माया से लेकर पुरुषपर्यन्त सात मिश्र तत्व कहे गए हैं। प्रकृति से धरित्रीपर्यन्त चौबीस तत्त्व अशुद्ध माने गए हैं। कुल मिलाकर २४ + ७ + ५ = छत्तीस तत्त्व हैं। दो सौ छप्पन भुवन हैं। चित्र इस प्रकार हुआ—

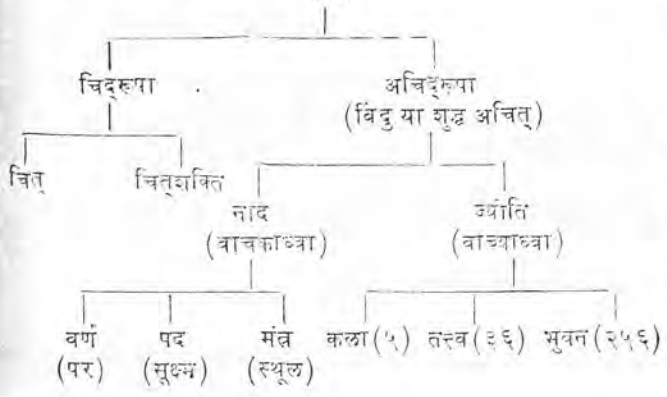

इन सदध्वों का अन्तर्गत है—तत्वाध्वा और उस तत्वाध्वा के अन्तर्गत एक और अध्वा है—सिताध्वा, इसी सिताध्वा के उपादान रूप में बिंदु का समर्थन किया गया है। कारण यह है कि सदाशिव से शुद्ध विद्यापर्यन्त तत्वौघ का साक्षात् उपादान "बिन्दु" है। कारण, यु कुम्भ की भाँति विकारी है और विकारी मात्र उपादान की अपेक्षा करते हैं। इस शुद्ध तत्व संधान का उपादान बिन्दु है, कर्ता शिव और करण-शक्ति। अध्वा चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध—परिणामी सभी हैं—फलतः विकारी सभी हैं—इसीलिए शुद्धाध्वा (सदाशिवादि शुद्धविद्यापर्यन्त) भी उपादान की अपेक्षा रखता है। यही उपादान "बिन्दु तत्व है। यह नित्य है। परिणामी का उपादान होने से घटोपादान–मृत्पिण्ड की भाँति इसे अनित्य नहीं माना जाना चाहिए। मृत्पिण्ड अशुद्ध अचित् माया की अतित्य निर्मित है, "बिन्दु" नित्य तत्व है। सविकल्पकज्ञान का सहारा लेकर अनन्त माया को क्षुब्ध करता है। क्षुब्ध माया ही पृथ्वी पर्यन्त शेष अशुद्धाध्वान्तर्गत तत्वों की सृष्टि करती है। इस मत के अनुसार माया भी नित्य है और बिन्दु भी। कहा भी है—

'माया तत्त्वं जगद् बीजमविनाश्यव्ययात्मकम्।'
माया अशुद्ध उचित् है, बिंदु शुद्ध अचित्।
'न माय नेश्वरो नाणुः न शक्तिः शुद्धवर्त्मनः।
उपादानमतो बिंदुः परिशेषेण लभ्यते॥'

परिशेषानुमान से भी बिन्दु की सिद्धि होती है। अर्थात् माया तो शुद्धाध्वा का उपादान हो नहीं सकती, कारण वह स्वयम् अशुद्ध और जगद्रात्मिका है। माया "सकल" अणुओं द्वारा उपभोग्य शरीरादि का उत्पादन करने के लिए अनन्तनाथ द्वारा प्रक्षुब्ध की जाती है, यह बात पहले कही जा चुकी है। इस क्षेपण के लिए सविकल्पक ज्ञान की अपेक्षा की जाती है। सविकल्पक ज्ञान स्वरूपोपलब्धि के लिए शब्दानुवेध की अपेक्षा करता है और यह शब्दानुवेध शब्द के बिना संभव नहीं। इसलिए माया का क्षोभ करने से पूर्व शब्द की संभूति आवश्यक है—शब्द की संभूति के लिए किसी उपादान की उपेक्षा है। वह उपादान न शिव हो सकता है और न शक्ति—क्योंकि उपादान वही हो सकता है जो परिणामी हो और परिणामी वे हैं नहीं, अतः परिशेषात् "बिन्दु" की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। परिणामी होते हुए भी वह नित्य है, अन्यथा उसकी संभावना नहीं की जा सकती। इस प्रकार स्पष्ट है कि शिव तथा शक्ति से भिन्न माया क्षोभ से पूर्व मायातीत कुछ है—कोई तत्व है जिससे शब्द प्रादुर्भूत होता है—वही तत्व बिन्दु है।

यह कहना कि अप्रसिद्ध बिन्दुसंज्ञक तत्व की कल्पना ही क्यों की जाय? ईश्वर, आत्मा अथवा उनकी शक्ति को ही शुद्धाध्वा का उपादान मान लिया जाय—कई कारणों से संगत न होगा। महेश्वर तो कारण हो नहीं सकता, क्योंकि मृदादि कार्यों का उपादान जड़ ही होना चाहिए। ईश्वर, आत्मा

शुभकामनाओं सहित

तार—राठी दूरभाष—२६०२, २४८९

मे० सुगनचन्द भूरामल एण्ड सन्स

काटन मर्चेन्ट्स एण्ड कमीशन ऐजेन्ट्स

अबोहर (पंजाब)

— सम्बन्धित शाखाएँ —

तार—राठी, दूरभाष—१२३ तार–राठी दू०–२४८९, २७०९

मे० सुगनचन्द भूरामल एण्ड संस
१०७, नई मण्डी
फतेहाबाद (हरियाणा)

मे० राठी ब्रदर्स
३, नई मण्डी
सिरसा (हरियाणा)

तार-राठी, दूर०–१३७१, १६०६ तार-राठी दूर०–३६८९, ३०३०

मे० भूरामल अनिल कुमार
३८, धान मण्डी
श्री गंगानगर (राजस्थान)

मे० कमल काटन ट्रेडर्स
बैंक स्ट्रीट
भटिण्डा (पंजाब)

पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज
के ७३ वें वर्धापन दिवस पर
कोटि-कोटि प्रणाम

•

सरदारीलाल राजकृष्ण

•

राजस्थान जनरल स्टोर

शूज, होजरी व जनरल मरचेण्ट्स

श्री गंगानगर (राजस्थान)

फोन नं० १४६९

On the 73rd Birthday of Swami Karpatriji Maharaj

With best compliments from—

DABUR

(Dr. S. K. Burman) Private Ltd.

142, Rash Behari Avenue,

CALCUTTA - 700029.

या उनकी शक्ति कोई भी जड़ नहीं है। और दूसरी बात यह भी है कि उपादान परिणाम या वृत्ति द्वारा कार्य मात्र का उत्पादन करते हैं—ईश्वरादि का न तो परिणाम ही और न वृत्ति ही संभव है। परिणाम और वृत्ति उसी में संभव है जो विकारी हों। ईश्वरादि विकारी नहीं हैं। विकारी होने से उनमें जड़ता और अनित्यता दोनों ही माननी पड़ेगी—जो संभव नहीं है।

बिन्दुतत्व को इसलिए भी मानना पड़ता है कि अणुओं में विषमता लक्षित होती है। अणुभावापन्न आत्माओं में ज्ञानवैचित्र्य भी दृष्टिगोचर होता है। यह वैचित्र्य न तो स्वतः संभव है और न ही इसके कारण आत्मा या शक्ति हो सकते हैं—क्योंकि उनमें कोई विकास नहीं होता। अविकारी होने पर भी उनमें यदि वैचित्र्य लक्षित होता है, तो उसे औपाधिक ही समझना चाहिए। कहा भी है—

"बहुधा यदुपस्थानं तदुपाधिवशाद् भवेत्"

बिंदु साधक तर्क एक और। चिद्णु (आत्मा) की शक्ति "नादात्मज्ञा परिणत" "अभिध्येय बीजभूत"—बिन्दु से संपृक्त होकर ही मायिक सविकल्पक अर्थों के अवलोकन में क्षम हो पाती है। शक्ति (प्रत्यात्मानियत) जिसकी नादरूप भिन्न वृत्तियों से उपहित होकर वैचित्र्य धारण करती रहती है—वही बिंदु हैं। "नादकारिका" तथा "श्रीमत्कालोत्तर" में भी इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अन्यान्य दार्शनिकों की भाँति यह क्यों न मान लिया जाय कि जिस प्रकार प्रत्यात्मनियत भोगवैचित्र्य के प्रति कर्मों को ही कारण माना जाता है उसी प्रकार यहाँ भी कर्म भेद से ही ज्ञानभेद मान लिया जाय। वस्तुतः चिदणुओं में जो ज्ञानतारतम्य दृष्टिगोचर होता है, वह अन्य निरपेक्ष कर्म साध्य नहीं है—वह वैचित्र्य केवल कर्मभेद से नहीं बन पाता। कर्म भी अपना क्या मूल रखता है यह भी सोचना होगा। कर्म भी कला, तत्व तथा भुवन-सापेक्ष होकर ही भोगगत प्रत्यात्मा नियत वैचित्र्य उत्पन्न कर सकता है अन्यथा फिर पृथ्वी आदि का भी क्या उपयोग है? तत्-तत् कलाओं, तत्-तत् तत्वों एवं तत् तत् भुवनों की वस्तुओं से भी भोग में वैचित्र्य आता है। भोग वैचित्र्य की भाँति ज्ञान वैचित्र्य में भी कर्म नाद-सापेक्ष होकर ही उपयोगी होता है, सीधा नहीं। अतः अन्य दार्शनिकों का ढंग यहाँ संगत नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः कर्मों में फलोत्पादन की क्षमता है—वैचित्र्य-उत्पादन की नहीं। वैचित्र्य तो सहकारी पदार्थों से आता है। सहकारी है—चन्दन आदि भोग्य वस्तु। यदि वैचित्र्य का आधान भी कर्म ही कर देता, तो चंदनादि की फिर आवश्यकता क्या थी? उनका तो विलोप ही हो जाता।

बिंदु सिद्धि की एक और प्रक्रिया है। जिस प्रकार पंचमहाभूतों में आदिभूत आकाशत्व सबको अवकाश देता है, शब्द के अभिव्यंजन में सहारा देता है तथा सूर्य आदि ज्योतिष्पिण्डों के भोग और अधिकार का कारण बनता है—इसी प्रकार शुद्धाध्वनिवासी शिवों (जिनमें सर्वज्ञत्व तथा सर्वकर्तृत्व का प्रादुर्भाव हो चुका है) तथा विद्येश्वरों को अवकाश देने तथा शब्दोत्पादन के लिए और इन सबके द्वारा भोग और अधिकार के कारण "बिंदु" की सत्ता माननी ही पड़ेगी। वह बिंदु अनश्वर है। इसीलिए आगमज्ञों ने उसे अपराकाश, आतिशामिक, परमव्योम आदि संज्ञाएँ दी हैं।

इस प्रकार ये सिद्धान्त शैवागमवादी मानते हैं कि शिव की दो शक्तियाँ हैं—समवायिनी तथा परिग्रह। समवायिनी है—स्वयम् शक्ति तथा परिग्रह है—बिंदु। इस पर से भी कतिपय चिंतक यह कहते हैं कि हक् शक्ति की भाँति परिग्रह शक्ति भी शिव में समवेत है, इसलिए वह माया की भाँति अतिरिक्त शक्ति नहीं है। वे लोग बिंदु को पराकुण्डलिनी भी कहते हैं। इस प्रकार शिव ज्ञानशक्ति से जानता हुआ और क्रिया शक्ति से सब कुछ करता है। पर इस धारा में यह सोचना निरर्थक है कारण, बिंदु है तत्व तथा भुवन आदि का उपादान। फलतः इस बिंदु को होना चाहिए—परिणामी। जो परिणामी होता है—वह जड़ होता है—जैसे शरीर। अतः बिंदु को भी जड़ या अचित् माना जाना चाहिए। यदि जड़ बिंदु का समवाय संबंध शिव से स्वीकार किया गया, तो शिव में भी जड़ता की प्रसक्ति संभव हो जाएगी। और ऐसा मानना आगम विरोध होगा। शिव की कर्तृता भी वास्तविक नहीं है, केवल ऐसा प्रतीत होता है कि वह क्रिया में शक्त है। जिस प्रकार अयस्कान्त शक्ति का प्रभाव लोहे में लक्षित होता है वैसे ही शिव शक्ति के सन्निधानमात्र से ज्ञान की भाँति क्रिया का भी आवेश हो जाता है। अतः क्रियाशक्ति का कारण होने से ज्ञान शक्ति ही क्रियाशक्ति भी है—"बिंदु" क्रिया शक्ति नहीं है—अतः शिव के साथ उसका समवाय संभव नहीं है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि "बिंदु" शिव की परिग्रह शक्ति है।

॥ श्री हरि ॥

अनन्त श्री विभूषित सनातन धर्म-सम्राट भारत-हृदय

परमपूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज के श्री चरणों में शत-शत प्रणाम

लच्छीराम जसरासरिया

एलनाबाद, सिरसा (हरियाणा)

पाशुपतदर्शन एवं नकुलीश पाशुपतदर्शन : एक तुलनात्मक अनुशीलन

• डॉ० नवजीवन रस्तोगी •

पाशुपतदर्शन

पाशुपतदर्शन का आज दार्शनिक से अधिक ऐतिहासिक महत्व रह गया है। डा० पांडेय ने यह बात सप्रमाण सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पाशुपत दर्शन और नकुलीश पाशुपत दर्शन दोनों भिन्न हैं, यद्यपि दोनों की पदार्थ मीमांसा में इस अर्थ में आपातिक साम्य है कि दोनों पाँच पदार्थ मानते हैं और उनके नाम भी एक हैं—(१) कारण, (२) कार्य, (३) योग, (४) विधि और (५) दुःखान्त।[1] यह विशेष देखने की बात है कि शंकर ने ब्र० सू० २·२·३७ के अन्तर्गत जिन माहेश्वरों की आलोचना की है, वे भी यही पाँच सिद्धान्त मानते हैं। इस आधार पर दासगुप्त का विचार है कि ये पाशुपत और लकुलीश पाशुपत एक ही हैं। यह धारणा थोड़ी चिन्त्य मालूम होती है, क्योंकि नकुलीश पाशुपत के मन्तव्य द्वैताद्वैतवाद के काफी निकट हैं, जबकि पाशुपत सम्प्रदाय द्वैतवाद के निकट है। एक तो श्रीकण्ठ अपने भाष्य में संबंधित पुष्पिका में इस अधिकरण का नाम नकुलीश-पाशुपताधिकरण न मानकर पाशुपताधिकरण मानते हैं और दूसरे शंकर व उनके टीकाकारों में उपलब्ध सामग्री से ईश्वर को निमित्त कारण मान कर उसे उपादान कारण, अर्थात् प्रकृति से भिन्न माना गया प्रतीत होता है। प्रकृति को उपादान मानने का कारण यह है कि वाचस्पति और आनन्दगिरि द्वितीय पदार्थ 'कार्य' के अन्तर्गत 'महदादि' (महत् से पृथ्वी पर्यन्त तत्व) को ग्रहण करते हैं। 'महदादि' को 'कार्य' मानने से इतना तो स्पष्ट है कि लकुलीश पाशुपत में कार्य की धारणा से यह नितान्त भिन्न हैं, क्योंकि वहाँ 'कार्य' के अन्तर्गत तीन गौण तत्व विद्या, कला और पशु—स्वीकार किए गए हैं और फिर इसमें कला के अन्तर्गत महदादि का ग्रहण होता है। दूसरे शब्दों में महदादि को नकुलीश दर्शन में कार्य किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। सर्वदर्शनसंग्रहकार ने नकुलीश पाशुपत की 'अन्य' दर्शन से तुलना करते हुए पाँच पदार्थों की मान्यता में मौलिक अन्तर का निर्देश किया है। यह 'अन्य' दर्शन पाशुपात के अलावा और कोई इसलिए नहीं हो सकता, क्योंकि नकुलीश के अतिरिक्त पाशुपत दर्शन ही ऐसा है जो वही पाँच तत्व स्वीकार करता है। ये भिन्नताएँ इस प्रकार हैं—

(१) पाशुपत दर्शन में दुःखान्त का अर्थ है दुःखनिवृत्ति, जब कि नकुलीश पाशुपत में ईश्वरभाव की प्राप्ति दुःखान्त है।

(२) पाशुपत दर्शन में कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् रहता है, अर्थात् अनित्य है (अर्थात् महदादि की उत्पत्ति होती है—दूसरे शब्दों में तत्त्व सांख्य के हैं, प्रक्रिया न्याय की); जबकि नकुलीश पाशुपत में नित्य पशु आदि (आदि का अर्थ है कला और विद्या?) कार्य हैं।

(३) पाशुपत में कारण सापेक्ष है अर्थात् निमित्त है और लोक के कर्मों पर आश्रित है और नकुलीश में निरपेक्ष अर्थात् ईश्वर कर्मों से निरपेक्ष रहकर इच्छा-सृष्टि कर सकता है।

(४) पाशुपत में योग का फल है कैवल्य अर्थात् जीव का केवलीभाव, जब कि नकुलीश में पारमैश्वर्य की प्राप्ति है।

(५) पाशुपत में विधि का फल है पुनरावृत्ति वाला स्वर्ग, जब कि यहाँ फल है बार-बार होने वाला ईश्वर का सामीप्य।[1]

'अन्यत्र' कहकर यहाँ पर जिन धारणाओं का उल्लेख किया गया है, वे भामती में उद्दिष्ट माहेश्वरों की विशेषताओं से लगभग मिलती हैं। यदि हम गौर से देखें तो मोक्ष, कार्य और कारण आदि की धारणाओं में न्याय और वैशेषिक की धारणाओं से पर्याप्त साम्य मिलता है और हम देख चुके हैं कि नैयायिक और वैशेषिक दोनों आस्था की दृष्टि से पाशुपत शैव ही सिद्ध होते हैं।[2]

इससे यह तो निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि कार्य और कारण, निमित्त और उपादान आदि के भेद के कारण पाशुपत मत द्वैतवादी है। इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि ब्रह्मसूत्र के दो भाष्यकारों—

१. पाशुपत सूत्र ६।

१. अन्यत्र दुःखानिवृत्तिरेव दुःखान्तः, इह तु पारमैश्वर्यप्राप्तिश्च। अन्यत्र अभूत्वा भावि कार्यम्, इह तु नित्यं पश्वादि। अन्यत्र सापेक्षं कारणम्, इह तु निरपेक्षो भगवानेव। अन्यत्र कैवल्यादिफलको योगः, इह तु पारमैश्वर्यदुःखान्तफलकः। अन्यत्र पुनरावृत्तिरूपस्वर्गादिफलको विधिः, इह पुनः पुनरावृत्तिरूपसामीप्यादिफलकः (सर्वदर्शनसंग्रह, पूना, पृ० ११०)।

२. दोनों—पाशुपत और लकुलीश पाशुपत—की भिन्नता भासर्वज्ञ की गणकारिका की रत्नटीका के इस कथन से भी प्रमाणित होती है—"तथा हि शास्त्रान्तरे दुःखनिवृत्तिरेव दुःखान्तः, इह तु परमैश्वर्यप्राप्तिश्च" (गणकारिका १४-१५) इत्यादि। रत्नटीका का यह मन्तव्य सर्वदर्शनसंग्रह के उपर्युक्त उद्धरण से तुलनीय है।

श्रीकण्ठ और श्रीकर का—जो द्वैतमत के घोर आलोचक हैं, कहना है कि ब्रह्मसूत्र में बादरायण जिस शैव मत की आलोचना कर रहे हैं, वह द्वैतवादी शैवमत है। अधिक सामग्री के अभाव में पाशुपत सम्प्रदाय के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की सीमा यहीं तक है।

नकुलीशपाशुपत

नकुलीश या लकुलीश पाशुपत दर्शन ज्ञात शैवदर्शनों में ऐसा है, जिनकी प्राचीनता के बारे में पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। माधव अपने सर्वदर्शनसंग्रह में स्वयं लकुलीशकृत पाशुपत सूत्र और उन पर राशीकर के भाष्य का उल्लेख करते हैं। दासगुप्त ने राशीकर और कौण्डिण्य को एक ही माना है। माधव द्वारा दिए गए उद्धरण प्रकाशित कौण्डिण्य भाष्य में प्राप्त होते हैं। डा० पांडेय ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा स्तम्भ-लेख और सोमनाथ के शिलालेख एवं पुराणादि से प्राप्त सामग्री के आधार पर लकुलीश का समय ईसा की दूसरी शताब्दी निश्चित किया है।[1] उनके अनुसार लकुलीश की दो शिष्य परम्पराएँ थीं, जो गार्ग्य और कौशिक से प्रारम्भ हुई थीं। इसमें से एक मथुरा जाकर बस गई थी और दूसरी सोमनाथ। इस सम्प्रदाय की परम्परा १४वीं शताब्दी तक तो निश्चय ही चली। भासर्वज्ञ की गणकारिका और उस पर अज्ञात लेखक की रत्नटीका इसके प्रमाण हैं। डॉ० पाण्डेय ने यमप्रकरण और विशुद्धमुनि के आत्मसमर्पण को भी इसी सम्प्रदाय का ग्रन्थ स्वीकार किया है। माधव ने कौण्डिण्य के पंचार्थभाष्य पर एक दीपिका नामक वृत्ति का (तत्प्रपञ्चस्तु पञ्चार्थ भाष्यदीपिकादौ द्रष्टव्यः, पृ० १२८) और किसी हरदत्ताचार्य (तदाह हरदत्ताचार्यः, पृ० १६२) का भी उल्लेख किया है। दासगुप्त और पाण्डेय* दोनों इनका जिक्र नहीं करते। माधव के काल तक यह परम्परा अप्रतिहत चलती आई है, इस बात का प्रमाण 'आचार्यों' और 'संप्रदायविदों' के उ[illegible]ों से मिल जाता है।

लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय एक प्रकार से वैदिक और शैव दोनों परम्पराओं की सन्धि रेखा पर अवस्थित है। यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक के दसवें अनुवाक, जिसे हम आज याज्ञिकी या नारायण-उपनिषत् के नाम से जानते हैं, पर भाष्य करते हुए सायण ने दोनों परम्पराओं के प्रभूत साम्य का निर्देश किया है। यह बात महत्वपूर्ण है कि जहाँ सायण वेदभाष्यों के यशस्वी भाष्यकार हैं, वहाँ उनका नाम सर्वदर्शनसंग्रह के सह-रचनाकार के रूप में माधव के साथ जोड़ा जाता है। यह भी बड़ी विचित्र बात है कि स्वयं लकुलीश भी इस उपनिषत् के कई मन्त्रों को उद्धृत करते हैं और कहीं-कहीं पर उसमें परिवर्तन भी करते हैं।[2] तुलनात्मक भारतीय दर्शन के भावी अध्येताओं के लिए इस क्षेत्र में गवेषणा की काफी गुंजाइश है।

नकुलीश पाशुपत दर्शन के सारे दार्शनिक सिद्धान्त उसकी पदार्थ-मीमांसा के माध्यम से पल्लवित हुए हैं। पदार्थ योजना के ५ पदार्थ वही हैं, जो पाशुपत दर्शन में—(१) कार्य, (२) कारण, (३) योग, (४) विधि और (५) दुःखान्त, किन्तु उनकी परिभाषाएँ दूसरी हैं और उस नाते तत्त्व-दर्शन में भी भेद है। इस पर हम पाशुपत दर्शन के अन्तर्गत विचार कर चुके हैं।

इन पाँच पदार्थों को पञ्चार्थ कहा गया है। इनमें पहले दो—कार्य और कारण, दूसरे शब्दों में पशु और पति, दार्शनिक पदार्थ हैं, जबकि अन्य तीन धार्मिक। ईश्वर कारण है। सत् और आद्य है। वह नित्य है, किन्तु मुक्ति में होने वाली नित्यता से उसकी नित्यता इस अर्थ में भिन्न है कि उसका न तो आदि है न अन्त, जबकि मुक्ति में आदि तो है, अन्त नहीं। वह पशु, कला और विद्या का उद्भव स्थानीय होने के कारण कार्य कहा गया है।[1] वह जगत का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। वह केवल कार्यों का उत्पादन ही नहीं करता, अपितु उस पर अनुग्रह भी करता है। अपनी दृक् और क्रिया शक्ति से पशुओं में व्याप्त रहता है। सच पूछिए तो उसी की इच्छा के प्रताप से पशुओं का सांसारिक व्यक्तित्व—शरीर से सम्बन्ध, प्रवृत्ति और निवृत्ति—जन्म लेता है। जगत के सम्बन्ध में उसकी प्रवृत्ति उसकी सहजक्रीड़ाशीलता या अनुग्रहशीलता का परिणाम है।

दूसरे तत्त्व को कार्य कहा गया है। यह एक प्रकार का त्रिक है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति प्रमाता (पशु), व्यक्ति प्रमाता का ज्ञान (पशुगुणो विद्या) और उस ज्ञान के साधन (कला) आते हैं। इन्हें कार्य उपचारतः कहा गया है। अर्थात् होने के कारण ये कार्य या 'उत्पाद्य' नहीं हैं, अपितु परमेश्वर की इच्छा से नियन्त्रित होने के कारण कार्य हैं। अर्थात् ईश्वर कलाओं (पञ्चभूतों) का पदार्थों और अहंकार, बुद्धि आदि से कार्य एवं कारण के रूप में संयोग कराता है। यह बात इससे और स्पष्ट हो जाएगी कि इनमें सांख्य के प्रकृति और विकृति के अलावा पुरुष, जो इन दोनों से भिन्न है, भी शामिल है। इस दृष्टि से सब कुछ उस ईश्वर की शक्ति में वर्तमान है। सृष्टि का अर्थ है इच्छास्थित पदार्थ का और बाह्य पदार्थों का एक अवयवी के रूप में स्थूलीकरण (वृत्तिलाभश्चोत्पत्तिरित्युच्यते)। कार्य और कारण में वृत्ति-संकरता नहीं है। इस प्रकार कारण-कार्य का सहभाव होने पर भी ऐकात्म्य नहीं है। दोनों में एक बात को लेकर साम्य है कि ईश्वर या पति जहाँ सर्वव्यापक है, पशु की व्याप्ति अपने अधीन २५ तत्त्वों पर है, जो सांख्य से लिए गए हैं और जिनमें से प्रत्येक ऊपर वाला तत्त्व अपने से नीचे आने वाले समस्त तत्त्वों में व्याप्त है। सिद्ध के अतिरिक्त सारी जीवात्माएं पशु हैं, पाश्य होने के कारण। पाश की धारणा यहाँ मल की शब्दावली में की गयी है। पाँच प्रकार के मलों में पशुत्व मुख्य मल है, जो सांसारिक बंधन का कारण है और जो मुक्तावस्था के सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व के अभाव का वाचक है।

पाशुपत सूत्रों में से प्रथम है—'अथातः पशुपतेः पाशुपतयोगविधि व्याख्यास्यामः', जो हमें तीसरे तत्त्व की महत्ता का संकेत देता है। आत्मा और ईश्वर के संयोग का नाम है योग (आत्मेश्वरसंयोगो योगः)। योग की यह धारणा हमें पशुपत मुक्ति की धारणा, जो सायुज्य मुक्ति की धारणा है, तक पहुँचा देती है। किन्तु यह सायुज्य रामानुज और आनन्दतीर्थ के 'दासत्व'

---

१. भास्करी, तीसरा भाग, भूमिका, पृ० २८–३१।

*. हरदत्ताचार्य के विषय में डा० पाण्डेय ने अपने विचार शैवदर्शनविन्दु, पृ० ३१ पर प्रकट किए हैं—सम्पादक।

२. पाण्डेय ने इस साम्य-वैषम्य का पर्याप्त अध्ययन किया है। देखिए भास्करी, तीसरा भाग, भूमिका, पृ० २८–२९, ६२–६७।

१. भास्करी, २रा भाग, पादटिप्पणी ४, पृ० १२०।

अर्थात् 'परतन्त्रत्व' से भिन्न है। यह योग दो प्रकार के हैं–क्रियालक्षण और क्रियोपरमलक्षण। जैसा कि नाम से स्पष्ट है कि प्रथम प्रकार क्रिया या साधना का आश्रय लेकर चलता है, दूसरे का सम्बन्ध केवल मानसिक ध्यान से है। जैसा कि हम अन्यत्र उल्लेख कर चुके हैं कि यहाँ योग में चित्तवृत्ति के निरोध से अभिप्राय न होकर चित्त के ईश्वर के साथ 'निरन्तर सायुज्य' से है।[1]

यह योग 'विधि' या 'योगविधि' से संभव है। विधि का तात्पर्य प्रायः उसी से है, जिसे सामान्यतः तन्त्रों में चर्या पक्ष कहा गया है। इसमें तापस जीवन, भक्तिपूर्ण क्रियाएँ, उपासना और इन्द्रियनिग्रह आदि शामिल हैं। इन्द्रियनिग्रह का अर्थ है उनका ईश्वर में विनियोजन।

पञ्चम पदार्थ है 'दुःखान्त', जो आपाततः निषेधात्मक होते हुए भी स्वरूपतः भावात्मक है। दुःखान्त को माधव ने पारमैश्वर्य प्राप्ति के रूप में निरूपित किया है। पारमैश्वर्य प्राप्ति तादात्म्यमूलक न होकर सहभावमूलक है। अर्थात् जीव मुक्त होकर ईश्वर नहीं बन जाता, परन्तु ईश्वर के गुण-ऐश्वर्य और ज्ञातृत्व को प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः दुःखान्त दो प्रकार का है—अनात्मक और सात्मक। प्रथम है दुःखों का उच्छेद रूप और द्वितीय है ज्ञान और क्रिया शक्ति रूप ऐश्वर्य की प्राप्ति।[2] वस्तुतः यह मोक्ष का दूसरा रूप है, जो पाशुपत को आकर्षित करता है। इसलिए मुक्त का अर्थ योग या न्याय का दुःखहीन नहीं है, अपितु सर्वज्ञ और स्वतन्त्र है। सर्वज्ञता और स्वातन्त्र्य का जीव के संदर्भ में अर्थ है कि दुःख और काल के अंकुश से परे चले जाना।

इस संबंध में विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि मुक्ति ज्ञान से नहीं, बल्कि अनुग्रह से संभव मानी गयी है।[3] योग का काम एक प्रकार से अनुग्रह की पात्रता को उत्पन्न करना है। पूर्ण आत्मसमर्पण मुक्ति का द्वार है। ईश्वर का स्वातन्त्र्य इसी अर्थ में है कि वह मुक्ति के लिए जीव के कर्मों पर निर्भर नहीं करता।[4] ईश्वर का स्वातन्त्र्य इस अर्थ में सीमित है कि वह मुक्तात्मा को फिर से बन्धन में नहीं डाल सकता। दूसरे, कार्य और कारण चूँकि पृथक् हैं और जगत् नित्य है, अतः अनुग्रह का अर्थ रह जाता है भिन्न-भिन्न अवयवों में एक उपयुक्त क्रम में उचित सामंजस्य या सम्बन्ध को संभव बनाना।

नकुलीश पाशुपत प्रमाणों की सांख्यसम्मत योजना को स्वीकार करता है, यद्यपि दोनों जगह की परिभाषाओं में अन्तर है। प्रत्यक्ष को लेकर यहाँ पर एक नयी शब्दावली का प्रयोग किया गया है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और आत्म-प्रत्यक्ष के रूप में। प्रथम में जहाँ इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष है, दूसरे में चित्त और अन्तःकरण का। चित्त यहाँ पर अन्तःकरण का पर्याय नहीं है, अपितु वह पशु की स्वयंप्रकाश चेतना का प्रतीक है।

यद्यपि भारतीय दर्शन के आधुनिक इतिहासों में शैव परम्परा के इस अंग की ओर नगण्य ध्यान दिया गया है और इसकी सामग्री भी आज विशेष उपलब्ध नहीं है, फिर भी हम देखेंगे कि शैवदर्शन के धारणागत विकास में इस सम्प्रदाय का बड़ा महत्त्व है और इसी कारण हमने यहाँ पर इस ओर ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात और स्पष्ट होती है कि तन्त्रों में अनुग्रह की धारणा सर्वत्र दिखाई देती है और यह धारणा ईश्वर के स्वातन्त्र्य में निहित है। आगे चलकर आगमिक दर्शनों में इस धारणा का और विकास हुआ है। स्वातन्त्र्य की धारणा का अर्थ है सृष्टि की प्रयोजनवादी धारणा का मूलोच्छेद। क्योंकि प्रयोजन-पारतन्त्र्य भी स्वातन्त्र्य के साथ समंजस नहीं बैठ पाता। इसलिए ईश्वर को क्रीडाशील और सृष्टि को उसकी क्रीडा के रूप में लिया गया है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में इस धारणा का चरम परिपाक मिलता है। स्वातन्त्र्य और उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार के रूप में अनुग्रह एक अर्थ में कर्म-सिद्धान्त की धारणा को निरर्थक बना देते हैं, क्योंकि यदि ईश्वर का सृष्टि के पीछे कोई प्रयोजन नहीं है, तो अपनी इच्छा और उसके फल के मध्य कर्म का व्यवधान वह क्यों सहे। कर्मनिरपेक्ष होने का यही अर्थ है। स्वातन्त्र्य की धारणा को यदि उसकी तार्किक परिणति पर लाया जाए तो स्वातन्त्र्य का अर्थ होना चाहिए द्वैत तक का निषेध। परन्तु यहीं पर लकुलीश पाशुपत का सिद्धान्त रुकता है। चूँकि यह ईश्वर से पृथक् अन्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करता है और कारण-कार्यभाव की अलंघनीयता प्रतिपादित करता है, अतः उसे 'यौगिक स्वातन्त्र्यवाद' (रैशनलिस्टिक् वालंटरिज़्म) कहा जा सकता है। इसका अर्थ इतना ही है कि कार्य कारण पर आश्रित है। अर्थात् पृथक् होने पर भी कार्य कारण पर निर्भर है। ईश्वर की सर्वव्यापकता का यही अर्थ है।

इसी प्रकार लकुलीश शैवमत शुद्ध प्रत्ययवाद भी नहीं है, क्योंकि मूल पदार्थ अचित् है और चित् से भिन्न है। किन्तु ईश्वर में वह शक्ति रूप से अधिष्ठित या वर्तमान है। पति के पतित्व का यही अर्थ है कि जगत् और जीवात्मा के भिन्न होने पर भी उनका पति में अधिष्ठित रहना, जैसे कि तारे आकाश में, बीज पृथ्वी में और उष्णता अग्नि में रहती है। डॉ० पाण्डेय की दृष्टि में इसे एक प्रकार के द्वैताद्वैतवाद से समीकृत किया जा सकता है[1], जब कि दासगुप्त की दृष्टि में यह एकेश्वरवाद (मोनोथिज़्म) है, अभेदवाद (मोनिज़्म) सर्वेश्वरवाद (पैन-थिज़्म) या ईश्वरस्थसर्ववाद (पैन-इनथिज़्म) नहीं।[2] दार्शनिक शब्दाडम्बर के प्रयोग को यदि छोड़ दिया जाए तो यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि नकुलीश पाशुपत के द्वैतवादी होने पर भी उसका सैद्धान्तिक स्थान उस द्वैत को लाँघ जाने की ओर है।

---

१. एवं महेश्वरे भावस्थितिस्तदसंभित्वम् इत्यर्थः।
—पाशुपतसूत्र ६.१ (टीका)।

२. तत्र दुःखान्तो द्विविधः—अनात्मकः सात्मकश्चेति। तत्रानात्मकः सर्वदुःखानामत्यन्तोच्छेदरूपः। सात्मकस्तु दृक्क्रियाशक्तिलक्षण-मैश्वर्यम् — स० द० सं० १६५–६६।

३. तस्मात्प्रसादात् स दुःखान्तः प्राप्यते, न तु ज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यत्याग-मात्रादित्यर्थः। पा० सू०, पृ० ६ (टीका)।

४. कर्मकामिनश्च महेश्वरम् अपेक्षन्ते, न तु भगवान् ईश्वरः कर्म पुरुषं वापेक्षते, अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः। वही, २.६।

१. भास्करी, भाग ३, भूमिका, पृ० ६९।

२. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ५, पृ० १४२ (अंग्रेजी संस्करण)।

यह बात ध्यातव्य है कि शैवदर्शन होने के बावजूद यह ब्राह्मण-परम्परा का दर्शन प्रतीत होता है, कम से कम अपने प्रारम्भ में ऐसा रहा होगा। क्योंकि पाशुपत साधु के लिए ब्राह्मण होने का विधान किया गया है, स्त्री और शूद्र में उपदेश तक की पात्रता नहीं मानी गयी है।[1] किन्तु इसके भावी विस्तार के क्रम में चर्यांश के अन्तर्गत ऐसी बातों का प्रवेश हो गया है जो प्रकृति में शैव या वेदबाह्य हैं। इन सीमाओं के बावजूद इस काश्मीर शिवाद्वैत और द्वैत शैवसिद्धान्त की अनेक धारणाओं का, जो वस्तुतः एक प्रकार से तान्त्रिक परम्परा के अंग हैं, पूर्वाभास अपने तान्त्रिक नहीं, बल्कि विशुद्ध दार्शनिक रूप में पाते हैं। इनमें पञ्चकृत्य, परमतत्त्व की क्रीडाशीलता, अनुग्रह-स्वातन्त्र्य और तत्त्वयोजना में तत्त्वों में अधोमूला क्रमिक व्याप्ति और पञ्चकों की धारणा का नाम लिया जा सकता है।

---

१. वही, पृ० १३४।

WITH COMPLIMENTS FROM

Swadeshi Polytex Limited
Factory : Ghaziabad U.P.

India's first continuous process Polyester Fibre Plant
In technical collaboration with
ZIMMER AG. WEST GERMANY

jai lene
THE FIBRE OF TODAY AND TOMORROW

पाञ्चरात्रशब्दार्थ

• राघवप्रसाद चौधरी •

[वैष्णवतन्त्र दो प्रकार के हैं। वैखानस तथा पाञ्चरात्र। विखनस मुनि के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण एक का नाम वैखानस-आगम है। पर, पाञ्चरात्र आगम के नाम के सम्बन्ध में विविध पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में अनेक प्रकार के मत निर्दिष्ट हैं। इस निबन्ध में उन्हीं मतों का विवेचन अभिप्रेत है। अन्ततः वैष्णवों के आचार, 'पञ्चकाल-प्रक्रिया' के आधार पर इस सम्प्रदाय का नाम 'पाञ्चरात्र' रखा गया हो सकता है, यह निष्कर्ष रूप में प्रतिपादित हुआ है।]

उपलब्ध विविध पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में अनेक तरह से पाञ्चरात्र शब्द का अर्थ वर्णित है। पर, इसके अतिरिक्त भी पाञ्चरात्र शब्द का प्रयोग कुछ ग्रन्थों में देखते हैं। उसके अनुसार भी इस शब्द के अर्थ पर प्रकाश पड़ता है। पाञ्चरात्र शब्द का प्रायः सर्व प्राचीन प्रयोग शतपथ ब्राह्मण में देखते हैं। यहाँ नारायण (पुरुष) को पाँच (दिन) रातों में सम्पन्न होने वाले यज्ञ का सम्पादक कहा गया है।[1] इस यज्ञ के सम्पादन से नारायण को विश्वरूपत्व की प्राप्ति का संकेत किया गया है। इस तरह उस पाञ्चरात्र की उत्कृष्टता के आधार पर इस शास्त्र का नाम भी पाञ्चरात्र शास्त्र रखने का प्रयास किया गया हो, ऐसा कह सकते हैं। प्रायः पाञ्चरात्रागम को अत्यन्त उत्कृष्ट बताने की भावना से ही संस्कृत वाङ्मय में अनेकत्र पाञ्चरात्र के विविध विशेषणों का प्रयोग देखने में आता है। आचार्य उत्पल ने पाञ्चरात्र-श्रुति, पाञ्चरात्र-उपनिषद् तथा पाञ्चरात्र संहिता इन तीन नामों से पाञ्चरात्र साहित्य का उल्लेख किया है[2]। आचार्य उत्पल का काल दशम शताब्दी स्वीकृत है। उस काल में पाञ्चरात्र-श्रुति आदि तीन तरह के पाञ्चरात्र साहित्य के अस्तित्व के प्रमाण में कोई बाधा नहीं आती। इस विषय की चर्चा के साथ श्रीप्रश्न संहिता की विदुषी सम्पादिका ने पाञ्चरात्रागम के इन तीन भेदों या प्रकारों के अस्तित्व में संदेह व्यक्त किया है।[3] तथापि कुछ पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों के अध्यायान्त पुष्पिकाओं के अवलोकन से आचार्य उत्पल का विभागक्रम युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। विश्वामित्र संहिता के कुछ अध्यायों की पुष्पिका में 'उपनिषत्' शब्द का स्पष्ट प्रयोग देखते हैं।[1] पाद्म तथा पौष्कर संहिताओं के अध्यायान्त पुष्पिकाओं में 'महोपनिषत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[2] इसी तरह वराह संहिता की पुष्पिका में भी 'महोपनिषत्' शब्द प्रयुक्त है।[3] जहाँ तक पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों के साथ "संहिता" शब्द के प्रयोग का सम्बन्ध है, वह तो अत्यन्त ही प्रसिद्ध तथा प्रचलित है। जैसे—नारदीय संहिता, श्रीप्रश्न संहिता आदि मुद्रित तथा अनेक अमुद्रित पाञ्चरात्रागम ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनकी पुष्पिकाओं में "संहिता" शब्द का सर्वत्र प्रयोग देखते हैं। जहाँ तक 'श्रुति' शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, उस पर विचार करने पर ईश्वर तथा पौष्कर संहिताओं में यह प्रयोग सरलता से देखा जा सकता है। "आगम-सिद्धान्त" का लक्षण निर्देश करते हुए इस शास्त्र को श्रुति स्वरूप कहा गया है।[4] पर, विषय विवेचन की दृष्टि से इन उपर्युक्त तीनों में कोई खास भिन्नता या वैशिष्ट्य नहीं देखते।

विष्णु तन्त्र के अनुसार "देहियों के लिये वियत्, वायु, वह्नि, आप तथा धरा ये पाँच रात्रि शब्द से अभिहित हैं। ये पाँचों अविद्या से उत्पन्न होते हैं। जो शास्त्र इन पाँचों के भोग से निवृत्ति दिलाती है, उसे पाञ्चरात्र शास्त्र कहते हैं।[5] पाञ्चरात्र का एक दूसरा अर्थ बताते हुए विष्णुतन्त्र

---

१. शतपथ ब्राह्मण १३. ६. १।

२. क. "पाञ्चरात्रश्रुतावपि—"यद्वत् सोपानेन प्रासाद मारुहेत् प्लवेन वा नदीं तरेत् तद्वत् शास्त्रेण हि शास्ता भगवान् अवगन्तव्यः"।'
ख. 'पाञ्चरात्रोपनिषदि च—"ज्ञाता च ज्ञेयं च वक्ता च वाच्यं च भोक्ता च भोज्यं च"—जयाख्यसंहिता, इंगलिश फारवार्ड, पृ० ७।'

३. श्रीप्रश्नसंहिता; इंगलिश इन्ट्रोडक्शन, पृ० १६; [के० सं० विद्यापीठ, तिरुपति सं० १९६९ ई०]।

१. "इति पाञ्चरात्रे महोपनिषदि विश्वामित्रसंहितायां प्रथमोऽध्यायः" [विश्वामित्र, सं० पृ० ८]।

२. (i) "इति श्रीपाञ्चरात्रे महोपनिषदि पौष्करसंहितायां शिष्य-परीक्षालक्षणोनाम—" [पौष्कर, सं० पृ० ३]।
(ii) "इति श्रीपाञ्चरात्रे महोपनिषदि पाद्म संहितायां ज्ञानपादे शास्त्रावतारकं नाम प्रथमोऽध्यायः" [पाद्म. सं० ज्ञा० पा० १]।

३. "इति श्रीपाञ्चरात्रे महोपनिषदि वराह संहितायां गृहार्चाप्रतिष्ठा-नाम पञ्चदशोऽध्यायः"। [वराह सं० के० सं० विद्यापीठ, तिरुपति, मातृका—५५२, पृ० ६; तेलुगुलिपि]।

४. (i) ईश्वर संहिता २१. ५६६।
(ii) पारमेश्वर संहिता १९. ५२८।

५. वियद्वायुश्च वह्निश्च आपश्चैव धरा तथा। रात्रयो देहिनां प्रोक्ता अविद्या संभवस्तथा॥ तद्भोगाद्विनिवृत्ति तु यास्येयुर्यतस्ततः। पाञ्चरात्रमिति प्रोक्तम् एतच्छास्त्रमथो तथा॥
[विष्णुतन्त्र, अ० १, श्लो० ७८–७९]।

में अव्यक्त, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त एवं गन्धादि तन्मात्राएँ देहियों के लिये रात्रि कहे गये हैं। इन सबों से युक्त देहियों के लिए भुक्ति-मुक्ति प्रदान करने वाला साधन विशेष भगवदाराधन विहित है। यह भगवदर्चनादि रूप साधन जिस शास्त्र में वर्णित है, उस शास्त्र को पाञ्चरात्र शास्त्र कहते हैं।[1] हयशीर्ष संहिता ने भी प्रायः विष्णुतन्त्र में वर्णित प्रथम अर्थ की तरह पाञ्चरात्र शब्द के अर्थ का निर्देश किया है।[2] श्रीप्रश्न संहिता ने अज्ञान को रात्रि कहा है। 'पञ्च' यह अज्ञान का नाशक है। अतः अज्ञान-नाशक होने के कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्र शास्त्र कहा गया है। यह नाम अन्वर्थ नाम है।[3] परमसंहिता ने महाभूत के पाँच गुणों को प्राणियों के लिये रात्रिस्वरूप बताया है। उस रात्रि की निवृत्ति साधक शास्त्र को पाञ्चरात्र शास्त्र कहा गया है। इस संहिता में भूतमात्र, गर्व तथा अव्यक्त पुरुष की रात्रि कही गई है।[4] भारद्वाज संहिता के अनुसार इस शास्त्र में पाँचरात्रों का समावेश है, अतः इस शास्त्र को पाँच रात्र शास्त्र कहते हैं।, ये पाँचरात्र इस प्रकार हैं—१. ब्रह्मरात्र, २. शिवरात्र, ३. इन्द्ररात्र, ४. नागरात्र तथा ५. ऋषिरात्र।[5] जहाँ तक रात्रों के अनुसार पाञ्चरात्र ग्रन्थों के विभाग का प्रश्न है, इस दृष्टि से देखने पर सनत्कुमार संहिता में रात्रों के अनुसार विभाग क्रम प्रदर्शित है। पर, उसमें भी उपरि निर्दिष्ट नागरात्र के बिना केवल अन्य चार रात्र ही उपलब्ध हैं। अर्थात् यहाँ पाँच रात्र उपलब्ध नहीं है।[6] ईश्वर संहिता के मतानुसार भगवान् के पञ्चायुध शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज के रूप में उद्भूत हुए और इन पाँचों को पृथक्-पृथक् एक-एक दिन-रात्र शास्त्रों का उपदेश किया गया। अतएव इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र शास्त्र हुआ।[7] मार्कण्डेय संहिता ने भी पाञ्चरात्र शब्द का कुछ इसी प्रकार का अर्थनिर्देश किया है। इसके अनुसार सार्धकोटि प्रमाण से युक्त शास्त्र को विष्णु ने पाँच रातों में प्रवचन किया था। अतः इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र हुआ।[1]

वाशिष्ठ संहिता के अनुसार सात्विकाचार संपन्न पाञ्चरात्राधिकारियों के अनुसार अनुष्ठित शास्त्र पाञ्चरात्र शास्त्र कहा गया है।[2] पाद्म संहिता का कहना है कि इतर पाँच महत् शास्त्र इस पाञ्चरात्र शास्त्र के समक्ष रात्रित्व को प्राप्त करते हैं। इसीलिए इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र शास्त्र हुआ है। ये पाँच इतर शास्त्र हैं—१. बौद्ध, २. पाशुपत, ३. कापाल, ४. शैव तथा ५. गाणपत्य। अर्थात् इन सभी पाँच शास्त्रों (संप्रदायों) की अपेक्षा पाञ्चरात्र शास्त्र उत्कृष्टतर शास्त्र है।[3] पुरुषोत्तम संहिता में भगवद्भक्ति को भक्तों की मुक्ति का साधन कहा गया है। उस भक्ति बोधक शास्त्र को पाञ्चरात्र शास्त्र कहते हैं।[4] अनिरुद्ध संहिता में वर्णित पाञ्चरात्र शब्दार्थ कुछ हद तक पाद्म संहिता के वर्णन के समान है। इसके अनुसार जिस प्रकार दिन में चन्द्र तथा तारागण समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सांख्य योगादि शास्त्र जिस शास्त्र के समक्ष सर्वथा प्रभावहीन हो जाते हैं, उसी शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र शास्त्र है। अथवा दिवाकर भगवान् भुवनभास्कर के प्रदीप्त होने पर जिस प्रकार अन्य नक्षत्र महत्वहीन तथा प्रभावहीन हो जाते हैं, उसी तरह पाञ्चरात्रशास्त्र के समक्ष अन्य सभी शास्त्र मलिन हो जाते हैं।[5] विश्वामित्र संहिता ने पाञ्चरात्रस्थ पञ्च शब्द से पाँच इन्द्रियाँ तथा उसके विषय एवं उसके गुण का अभिधान किया है। 'रा' धातु आदानार्थक स्वीकार किया गया है। इस प्रकार विषय, इन्द्रिय तथा भूतों के आदाता को 'पाञ्चरा' कहा गया है। इनके द्वारा मनुष्य का पालन या त्राण होता है, अतः इस शास्त्र को पाञ्चरात्र शास्त्र कहा गया है। मनुष्यों के द्वारा इस शास्त्र के सान्निध्य तथा अनुसरण से सांख्य योगादि पाँच शास्त्र रात्रभूत हो जाते हैं। अतः इस शास्त्र को पाञ्चरात्र शास्त्र कहते हैं। अथवा रात्रि (अज्ञान) जिस शास्त्र के समक्ष पञ्चत्व अर्थात् समाप्ति को प्राप्त करती है, उस शास्त्र को पाञ्चरात्र शास्त्र

---

१. अव्यक्तं च मनो बुद्धिरहंकारश्च चित्तकम्।
तन्मात्रावगन्धाद्याः रात्रयो देहिनः स्मृताः।
एभिः समन्वितैर्देहैः देहिनां भुक्तिमुक्तिदम्।
साधनं पूजनं त्वेतत् पाञ्चरात्रमिति स्मृतम्॥
[विष्णुतन्त्र, अ० १, श्लो० ८०–८१]।

२. आकाशवायुतेजांसि पानीयं वसुधा तथा।
एता वै रात्रयः ख्याताः हृचचैतन्यास्तमोत्कटाः।
हयशीर्ष सं० आदि काण्ड० पट० ४अ० २,[राजसाहीसं० १९५२]।

३. रात्रिरज्ञानमित्युक्तम् पञ्चेत्यज्ञाननाशकम्।
तच्छास्त्रं पाञ्चरात्रं स्यात् अन्वर्थस्यानुरोधतः॥
[श्रीप्रश्न सं० २; ४०]।

४. परम संहिता. १, ३९–४१।

५. प्रथमं ब्रह्मरात्रं तु द्वितीयं शिवरात्रकम्।
तृतीयं इन्द्ररात्रं तु चतुर्थं नागरात्रकम्॥
पञ्चमं ऋषिरात्रं तु पाञ्चरात्रमिति स्मृतम्।
एवं ज्ञातं ऋषिश्रेष्ठ पाञ्चरात्रं पुरा युगे॥
[भारद्वाज सं० १, १२–१३।]।

६. सनत्कुमार संहिता, अडयार सं० १९६९ ई०।

७. ईश्वर सं० २१.५१९-५३३।

१. सार्धकोटिप्रमाणेन कथितं तस्य विष्णुना।
रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पाञ्चरात्रमतः स्मृतम्॥
[मार्कण्डेय सं० १. २२–२३।]।

२. वाशिष्ठ संहिता. अ० १३।

३. पाद्म संहिता. ज्ञान. पाद. १. ७२–७३।

४. भगवद्भक्तिरेव स्यात् भक्तानां मुक्तिसाधनम्।
तद्भक्तिबोधकं शास्त्रं पाञ्चरात्रागमस्थितम्॥
[पुरुषोत्तम सं० अ० १, श्लो० ४ (भद्राचलम् स०)]।

५. सांख्ययोगादि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि।
तत्सन्निधौ समाख्यासौ तेन लोके प्रवर्तते॥
चन्द्रतारागणं यद्वत् शोभते नैव वासरे।
तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवास्य सन्निधौ॥
पञ्चत्वमथवा यद्वत् दीप्यमाने दिवाकरे।
ऋच्छन्ति रात्रयस्तद्वत् इतराणि तदन्तिके॥
तस्मात् पाञ्चरात्राख्यं ब्रह्मलोके महीयते।
[अनिरुद्ध संहिता १. ३५–३८]।

कहते हैं।[1] कपिञ्जल संहिता ने परमसंहिता में वर्णित प्रथम अर्थ की तरह ही पाञ्चरात्र-शब्द का अर्थ निर्देश किया है।[2]

आगमशास्त्र की शब्दनिर्वचन प्रक्रिया अपने में एक विलक्षण प्रक्रिया है। व्याकरण शास्त्र की शब्द निर्वचन प्रक्रिया में जो वैज्ञानिकता है, वह यहाँ नहीं देखी या खोजी जा सकती। यह प्रायःसम्पूर्ण आगम तथा तन्त्र वाङ्मय के लिये सामान्य कहा जा सकता है। ऊपर 'पाञ्चरात्र' शब्द के अर्थ निर्वचन के क्रम में हमने अनेक पाञ्चरात्रागम संहिताओं के मत का निर्देश देखा। प्रायः सभी निर्वचन तथा निरुक्ति वैज्ञानिक होने की अपेक्षा अर्थवाद-परक अधिक है। फिर भी पाञ्चरात्रागम की विविध संहिताओं में निर्दिष्ट पाञ्चरात्र शब्द के निर्वचन को ध्यान में रखते हुए सांख्यादि शास्त्रों का इस पाञ्चरात्रशास्त्र के समक्ष पञ्चत्व प्राप्ति के निर्देश को व्यावहारिक दृष्टि से तथ्यपूर्ण भी कहा जा सकता है। सांख्य-योग अथवा अद्वैतादि सभी दार्शनिक परम्पराएँ निश्चित ही पुरुषार्थ साधक हैं। पर, वे सभी अमूर्ताराधन-परक शास्त्र कहे जा सकते हैं। इन शास्त्रों में प्रवृत्ति असंभव नहीं तो निराधार होने के कारण कठिन अवश्य है। परन्तु, यह पाञ्चरात्रशास्त्र समूर्ताराधनपरक होने से सर्व सामान्य लोगों के लिए भी सुलभतया पुरुषार्थसाधक होने के कारण अन्य शास्त्रों या दर्शनादियों की अपेक्षा उत्कृष्ट समझा गया है। आधार मूलक होने के कारण इसमें लोगों की प्रवृत्ति अधिक हो यह स्वाभाविक ही है। फलतः सामान्यजनों के द्वारा उन सांख्यादि-शास्त्रों की उपेक्षा तथा पाञ्चरात्र सिद्धान्तमूलक साकार मूर्ति आराधन में प्रवृत्ति को ही सांख्यादि शास्त्रों की पञ्चत्व प्राप्ति की संज्ञा दी गई प्रतीत होती है।

वस्तुतः 'पाञ्चरात्र' शब्द में प्रयुक्त 'रात्र' भाग सामान्यकाल-वाचक प्रतीत होता है। अर्थात् 'पाञ्चरात्र' शब्द 'पञ्चकाल' शब्द के समान अर्थ का प्रतिपादक है, ऐसा कहना असंगत नहीं होगा। पाञ्चरात्र संहिता-ग्रन्थों में अनेक स्थल में **पञ्चकाल-परायण** शब्द पाञ्चरात्र सम्प्रदाय विशेषज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः इस 'पाञ्चरात्र' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि पाञ्चरात्र शब्द से वह सम्प्रदाय विशेष एवं उसका आचार-साहित्य अभिहित है जहाँ वैष्णवों के आचार-निर्वाह के लिए चौबीस घण्टे वाले (रात्र) अर्थात् दिन-रात को पाञ्चभागों में विभक्त किया गया है, और एक-एक काल के कर्तव्य का विधिवत् निरूपण हुआ है। इस पञ्चकाल कथन से पाञ्चरात्रिक वैष्णवों की पञ्च-काल प्रक्रिया में वर्णित आचार निर्वाहक पञ्चकाल विवक्षित है। इस पञ्चकाल के अन्तर्गत प्रातः से आरंभ कर रात्रि के उत्तर भाग पर्यन्त वैष्णवों के विविध आचार संपादन के लिए १. अभिगमन, २. उपादान, ३. इज्या, ४. स्वाध्याय तथा ५. योग काल का निर्देश अनेक पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में देखते हैं। यह पंचकाल-प्रक्रिया अपने में एक स्वतंत्र प्रमुख पाञ्चरात्रिक विषय है। यहाँ उसका विस्तृत विवेचन न तो आवश्यक है न अपेक्षित ही। अन्त में निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि पाञ्चरात्र शास्त्र से वह वैष्णव शास्त्र विशेष विवक्षित है, जिसमें रात्रि-दिन को पाँच भागों में विभक्त कर पाँच कालों के लिए पृथक्-पृथक् विशिष्ट आचारपरक क्रियाओं का प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ तत्तत् पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में निर्दिष्ट न होने के बाद भी अधिक वैज्ञानिक, व्यावहारिक तथा युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

---

१. पञ्चेन्द्रियाणि विषयाः पञ्चभूतानि तद्गुणाः ।
पञ्चशब्दाभिधेयानि विद्वांसोऽप्याचिचक्षिरे ॥
'रा' इत्ययमपि प्रोक्तो धातुरादानवाचकः ।
विषयेन्द्रियभूतानामादातारश्च पञ्चराः ॥
मनुष्याः पालनात्तेषाम् पाञ्चरात्रमिति स्मृतम् ।
सांख्य योगादयः पञ्च रात्रा (त्री) यन्तेऽस्य सन्निधौ ॥
तस्माद्वा पाञ्चरात्रार्थः प्रोच्यते सूरिसत्तमैः ।
अथवा रात्रयो यद्वत्, सन्निधौ पञ्चतायै वै ॥
नीयन्ते तद्वदन्यानि शास्त्राण्येतस्य सन्निधौ ।
इति वा पाञ्चरात्रार्थो विद्वद्भिः कथ्यते द्विज ॥
[विश्वामित्र संहिता, अ० २, श्लो० ३–८।]

२. पृथिव्यादीनि भूतानि गुणाः पञ्च महामते ।
रात्रयो जन्तवः प्रोक्ता सर्वशास्त्रेषु निश्चिताः ॥
तद्भोगाद्विनिवृत्तिस्तु पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ।
[कपिञ्जल सं० अ० १, श्लो० ३१–३२], भद्राचलम्,
सं० १९३१ ई० (तेलगु लिपि)।

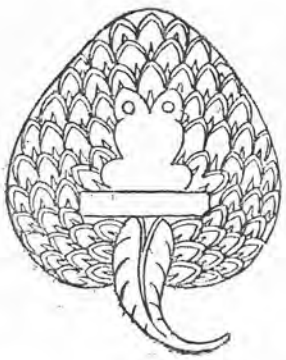

शैव महातन्त्र और प्रत्यभिज्ञा दर्शन

• पं० सीताराम चतुर्वेदी •

प्रत्यभिज्ञा (स्पन्द, षडर्थशास्त्र, षडर्थक्रम-विज्ञान, त्रिक) दर्शन में पशु, पाश तथा पशुपति तीन पदार्थ बताकर विद्या, क्रिया, योग तथा चर्या ये चार साधन बताए हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार अनेक रूप धारण कर सकनेवाले बहुरूपिए के समान भगवान् महेश्वर भी स्थावर, जंगम आदि अनेक रूपों में रहने की इच्छा करते हुए स्थावर और जंगम सृष्टि का निर्माण करते हैं और उन सब रूपों में व्याप्त भी रहते हैं। अतः यह सारे का सारा जगत् पूर्णतः महेश्वरात्मक ही है और ये महेश्वर स्वतः आनन्दस्वरूप, ज्ञाता और ज्ञान-स्वरूप हैं। इस दर्शन के अनुसार मुक्तिस्वरूपिणी परात्पर सिद्धि प्राप्त करने के लिये एक मात्र उपाय प्रत्यभिज्ञा अर्थात् यह अभेद ज्ञान होना परम आवश्यक है कि जीवात्मा स्वयं अपने को ईश्वर से भिन्न न समझे और अपने को पहचान कर यह अनुभव करता रहे—'शिवोऽहम्' या 'स एवेश्वरोऽहम्'। यह प्रत्यभिज्ञा या 'शिवोऽहम्' की प्रतीति हो चुकने पर न तो किसी से कुछ समझने की अपेक्षा रह जाती है न समझाने की। उसे परात्पर मुक्ति प्राप्त हो जाती है, वह स्वात्माराम हो जाता है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का त्रिक दर्शन इसलिए कहते हैं कि—

१. इसमें तीन प्रधान तन्त्र माने गए हैं—सिद्धा, नामक तथा मालिनी।

२. इसमें पर, अपर और परापर रूपी तीन त्रिक माने गए हैं। इनमें से पर के अन्तर्गत शिव, शक्ति और उनका संघट्ट; अपर त्रिक के अन्तर्गत शिव, शक्ति तथा नर; परापर त्रिक के अन्तर्गत परा, परापरा और अपरा नाम की तीन अधिष्ठात्री देवियाँ मानी गई हैं।

शैवतन्त्र तत्वज्ञों का कथन है कि पशु, पाश तथा पशुपति का ज्ञान प्राप्त करानेवाली शिक्षा को विद्या कहते हैं। अनेक प्रकार की सांगोपांग दीक्षा-विधि को क्रिया कहते हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि के अनुसार चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं, और शास्त्र-विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के त्याग को चर्या कहते हैं। सब प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न परम स्वतन्त्र, नित्य तथा सब पर अनुग्रह करनेवाले भगवान् महेश्वर ही पशुपति हैं, जो सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह ये पांच कर्म करते रहते हैं। जीवात्मा का ही नाम पशु है क्योंकि वह पाशों में बंधा रहता है। वह अणु नहीं वरन् व्यापक और नित्य है। ये पशु तीन प्रकार के होते हैं—विज्ञानकल, प्रलयाकल तथा सकल।

जो पशु अर्थात् जीवात्मा साक्षात् परमात्मा का स्वरूप पहचान कर जप, ध्यान तथा संन्यास द्वारा कर्मों का क्षय कर डालता है और कर्मों का क्षय हो जाने के कारण जिसे शरीर और इन्द्रिय आदि का कोई बन्धन नहीं रह जाता और उसमें केवल मल-रूपी पाश ही रह जाता है वह विनाशकाल कहलाता है।

जब प्रलय-काल में जीवात्मा के देह-इन्द्रिय आदि लीन हो जाते हैं और उसमें मायेय मल न रहने पर भी आणव और कर्मज नामक दो मल-रूपी पाश (बन्धन) बने रह जाते हैं तब वह प्रलयाकल कहलाता है।

जिस जीवात्मा में आणव, मायेय और कर्मज, तीनों मल (पाश) बने रहते हैं, वह कला आदि भोग-बन्धनों से युक्त होने के कारण सकल कहलाता है।

विज्ञानाकल पशु के भी दो भेद माने गए हैं—समाप्तकलुष और असमाप्त-कलुष। जीवात्मा जो भी कर्म करता चलता है उस प्रत्येक कर्म की तह मल पर मल बनकर जमती रहती है। इसी कारण उस मल का परिपाक नहीं हो पाता किन्तु जब कर्मों का त्याग हो जाता है तब तह न जम सक पाने के कारण मल का परिपाक हो जाता है और जीवात्मा के सारे कलुष समाप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में पहुँचने पर वह समाप्तकलुष कहलाने लगता है। ऐसे जीवात्मा को भगवान् आठ प्रकार के विद्येश्वर पद पर पहुँचा देते हैं—अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकंठ और शिखंडी।

अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथैव च शिवोत्तमः।
एकनेत्रस्तथैवैकरुद्रश्चापि त्रिमूर्तिकः।
श्रीकण्ठश्च शिखंडी च प्रोक्ता विद्येश्वरा इमे।

असमाप्तकलुष वे होते हैं जिनका कलुष अभी समाप्त नहीं हो पाया है। ऐसे जीवात्माओं को परमेश्वर मन्त्र के रूप में रख छोड़ता है। कर्म तथा शरीर से रहित किन्तु मलरूपी पाश में बँधे हुए जीवात्मा ही मंत्र हैं जिनकी संख्या सात करोड़ है। ये सब मन्त्ररूपी जीवात्मा अन्य जीवात्माओं पर कृपा करते रहते हैं।

प्रलयाकल भी दो प्रकार के होते हैं—पक्वपाशद्वय और अपक्वपाशद्वय।

जिनके कर्म तथा मलरूपी दोनों पाशों का परिपाक हो गया रहता है वे पक्वपाशद्वय मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और जो अपक्वपाशद्वय जीव होते हैं वे पर्यष्टक देह धारण करके अनेक प्रकार के कर्म करते हुए अनेक योनियों में घूमा करते हैं।

सकल जीवों के भी दो भेद होते हैं—पक्वकलुष और अपक्वकलुष।

जैसे-जैसे जीवात्मा के मल, कर्म तथा मायारूपी पाशों का परिपाक बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ये सब पाश शक्ति-हीन होते चले जाते हैं। उस समय ये पक्वकलुष जीवात्मा मन्त्रेश्वर कहलाते हैं। ये ११८ मन्त्रेश्वर ही उपर्युक्त सात करोड़ मन्त्र रूपी जीव-विषयों के अधिकारी होते हैं। जो अपक्वकलुष जीव होते हैं वे भवकूप में जा गिरते हैं।

ऊपर जो विवरण दिया गया है उसमें मुख्य बात यही है कि जब जीवात्मा अपने को यह पहचान जाता है कि मैं ही वह ईश्वर हूँ (स एवेश्वरोऽहम्) तभी वह मुक्त पुरुष हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो विद्येश्वर, मन्त्र और मन्त्रेश्वर बनने की बात कही गयी है उसका कोई भौतिक या वैज्ञानिक या आध्यात्मिक आधार नहीं है और फिर सात करोड़ और ११८ की संख्या क्या सदा एक सी बनी रहती है, घटती-बढ़ती नहीं। यह विवरण तनिक भी बुद्धिगम्य नहीं है।

तन्त्र किसे कहते हैं—

तन्त्र के सम्बन्ध में कहा गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च मन्त्रनिर्णय एव च।
देवतानाञ्च संस्थानं तीर्थानाञ्चैव वर्णनम्॥
तथैवाश्रमधर्मश्च विप्रसंस्थानमेव च।
संस्थानञ्चैव भूतानां यन्त्राणाञ्चैव निर्णयः॥
उत्पत्तिर्विबुधानाञ्च तरुणां कल्पसंज्ञितम्।
संस्थानं ज्योतिषाञ्चैव पुराणाख्यानमेव च॥
कोषस्य कथनञ्चैव व्रतानां परिभाषणम्।
शौचाशौचस्य चाख्यानं नरकाणाञ्च वर्णनम्॥
हरचक्रस्य चाख्यानं स्त्रीपुंसोश्चैव लक्षणम्।
राजधर्मो दानधर्मो युगधर्मस्तथैव च॥
कथ्यते व्यवहारश्च तथा चाध्यात्मवर्णनम्।
इत्यादि लक्षणैर्युक्तं तन्त्रमित्यभिधीयते॥

इस लक्षण के अनुसार तो संसार और मानव-प्रवृत्ति का कोई ऐसा पक्ष ही नहीं है जो तन्त्र के अन्तर्गत समाहित न हो जाता हो किन्तु यहाँ तन्त्र से तात्पर्य उस विशेष सिद्धान्त और क्रिया से है जिसके द्वारा परमार्थ की सिद्धि की जा सके। ऐसे तन्त्रों की और उनके दक्षिण तथा वाम आचारों की संख्या अपार है।

जहाँ तक शैव महातन्त्र की बात है, उसमें पाँच प्रकार के पाश बताए गए हैं—मलज, कर्मज, मायेय (माया से उत्पन्न), तिरोधान-शक्तिज और बिन्दुज।

आधुनिक शैव दर्शन वाले चार ही प्रकार के पाश मानते हैं—मल, रोध, कर्म तथा माया। रोध या तिरोधान शक्ति का एक ही अर्थ है। बिन्दु ही वास्तव में माया है और वही शिव तत्त्व है। यद्यपि शिवपद की प्राप्ति अर्थात् परम मोक्ष की तुलना में यह भी पाश ही है तथापि विद्येश्वर आदि पदों की प्राप्ति में कारण होने से बिन्दु शक्ति को अपरा मुक्ति ही कहा गया है। इसीलिए आधुनिक शैव दर्शन में उसे पाश नहीं कहा गया है। अतः यहाँ शेष चार—मल, कर्म, रोध और माया के ही स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

ज्ञान तथा क्रिया की जो आत्मा की स्वाभाविक शक्ति है उसे जो ढक ले उसी को मल या अज्ञान कहते हैं। यह मल आत्मस्वरूप का केवल आच्छादन ही नहीं करता वरन् जीवात्मा को बलपूर्वक दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त भी करता है।

प्रत्येक वस्तु के सामर्थ्य को शिवशक्ति कहते हैं जैसे अग्नि में दाहक शक्ति। यह शक्ति जिस प्रकार के पदार्थ में पहुँचती है वैसा ही भला-बुरा रूप धारण कर लेती है। अतः पाश में रहने वाली यह शक्ति जब आत्मा के स्वरूप को ढक लेती है तब वह रोध या तिरोधानशक्ति वाला जीव शरीर को ही आत्मा मानकर शरीर के ही पोषण में लगा रहता है, आत्मा के उद्धार का कोई उपाय नहीं करता। फल की इच्छा से जितने धर्म या अधर्म के कर्म किए जाते हैं उन कर्मों को ही कर्मपाश कहते हैं। प्रलय के समय जिस शक्ति में सब कुछ लीन हो जाता है और सृष्टि के समय जिसमें से सब कुछ उत्पन्न हो जाता है उसे ही माया पाश कहते हैं। इन सब पाशों में बँधा हुआ जीव जब तत्व ज्ञान प्राप्त करके इनका उच्छेद कर डालता है और यह अनुभव करने लगता है कि मैं ही शिव हूँ—'शिवोऽहम्,' तभी वह परम शिवतत्त्व अर्थात् परमानन्दमय पशुपतिपद प्राप्त कर लेता है।

यही प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रतिपाद्य है।

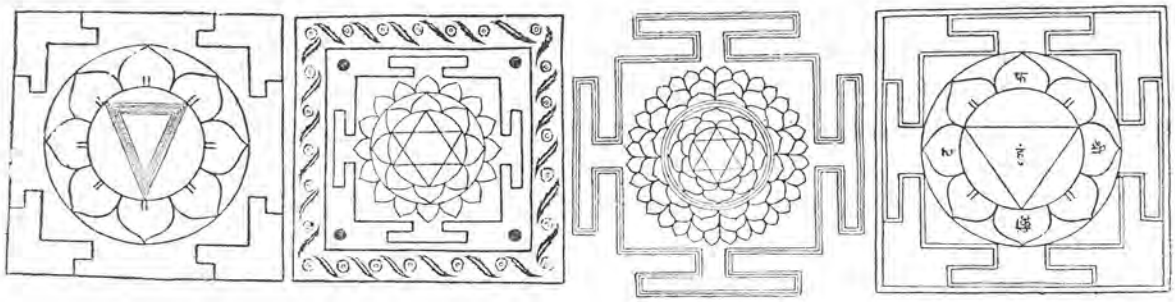

काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्वातन्त्र्य एवं नियतिवाद

• श्रीमती मीरा रस्तोगी •

काश्मीर शिवाद्वयवाद की पृष्ठभूमि में मानव बुद्धि की इन दो जटिलतम समस्याओं-स्वातन्त्र्य व नियतिवाद की चर्चा अति महत्व रखती है क्योंकि यहाँ की सर्वानुवृत्तिमूलक मीमांसा इन दो मान्यताओं के पारस्परिक सन्दर्भ में उपलब्ध ऐतिहासिक विरोध के मार्ग को त्याग कर समन्वयवादी दृष्टि प्रस्तुत करती है। पूर्णता व समग्रता का मुक्तघोष करने वाली मीमांसा के लिये यह आवश्यक भी है कि वह समस्त विरोधों को आत्मसात कर ले, द्वैत की अग्नि का पूर्णतया शमन कर दे। अतः ये दो विरोधी विचार-धाराओं के प्रेरक प्रत्यय यहाँ उतने भी विरोधी नहीं रह जाते जितने कि अन्यत्र प्रातीतिक रूप से भी दृष्ट होते हैं।

इन दोनों प्रत्ययों के मध्य समन्वय की उपकल्पना प्रारम्भ से ही पाश्चात्य व पौर्वात्य विचारकों के मध्य विवाद का विषय रही है और अन्ततः ये दोनों ही विचारक इनके समन्वय की स्थिति अतिभानसिक क्षेत्रों में ही प्राप्त करते हैं, जहाँ कि मात्र स्वातन्त्र्य का स्पन्दन है न कोई बन्धन है व न नियमन, पर इतने पर भी वह समस्त बन्धनों व नियमों का स्रोत है। इसी दृष्टि को ही मूल रूप में लेकर चलने वाली शिवाद्वयवादी धारा परतत्त्व के स्वातन्त्र्य को ही सम्पूर्ण नियमों का सर्जक व समस्त व्यवस्थाओं का व्यवस्थापक[1] सिद्ध करती है।

यों तो सामान्य दृष्टि से नियति को प्रायः भाग्य या दैव का प्रतिनिधि माना जाता है पर यहाँ इसका विशिष्ट अर्थों में ही प्रयोग होता है। यहाँ नियति शब्द का व्यापक अर्थ लेने पर यह किसी भी प्रकार के व्यवस्थापन अर्थ को द्योतित करती है व संकुचित अर्थ मात्र पूर्वापरता के नियमन का ही निर्धारण है। उस परिसीमनकारी नियति के प्रत्यय के विपरीत स्वातन्त्र्य का प्रत्यय समस्त संभाव्य संभावनाओं को गर्भस्थ कर अवस्थित रहता है।[2] फलतः यहाँ मान्य परतत्त्व परमस्वातन्त्र्य का अधिकारी भी है व समस्त नियमों का निर्देशक हो परम कारण भी है। यह परमता का कथन ही परतत्त्व की सर्वमयता का व कारणता का निर्देश उसकी सर्वसंचालिका शक्ति का द्योतन है फलतः परतत्त्व की स्वतन्त्र इच्छा ही सर्वनियतिबन्धों की उत्पादिका सिद्ध होती है।[3] इस दृष्टि से विचारने पर तो इन विवेच्य प्रत्ययों में प्रतीयमान विरोध की संभावना भी स्वातन्त्र्य की ही असीम संभावनाओं में सिमट आती है जिससे कि वह विरोध विरोध न रह कर स्वातन्त्र्य के ही प्रस्फुटन का एक प्रारूप हो जाता है।

परम स्वतन्त्र शिवाद्वयवादी परतत्त्व अपने स्वातन्त्र्य से उद्वेलित होकर आत्मरति हेतु उच्चता से निम्नता की ओर आने की क्रीडा करता है। पर यह क्रीडा जो कि असीम स्वातन्त्र्य का ही उच्छ्वास है, भी एक व्यवस्थित प्रारूप में ही घटित होती है अन्यथा जो जागतिक विकास की असीम संभावनाओं को रखने से वह परतत्त्व किस क्रम से निम्नता की ओर अग्रसर होगा यह समझना ही कठिन हो जाएगा। शिवाद्वयवादी ग्रन्थों में उल्लिखित एक निश्चित व्यवस्था का कथन भी यह सर्वत्र द्योतित करता है कि परमशिव का कल्लोल एक निश्चित स्वरूप में ही स्पन्दित होता है पर मात्र स्वातन्त्र्य की स्थिति यहाँ इसलिए है कि उस निश्चित स्वरूप की निश्चायिका स्वयं उसकी स्वतन्त्र इच्छा (विमर्श) ही है।[4] यद्यपि स्वातन्त्र्य को सर्वस्व समर्पित करनेवाला यह दार्शनिक सम्प्रदाय इस मान्यता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकारने को कभी तैयार नहीं होता। इसी कारण तांत्रिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध वाक्य कि वह किसी भी समय कर्तुं,अकर्तुं तथा अन्यथाकर्तुम् की सामर्थ्य रखता है, अतिदुर्घटघटनापटु है।[5] पुनः पुनः विचारक के मन में यह भ्रम उत्पन्न कर देते हैं कि सर्वस्वतन्त्र परतत्त्व के लिये एक व्यवस्था में बंध कर क्रीड़ा करना असंभव है पर तार्किक मन की यह विवशता है कि वह उन असीम संभावनाओं की अभिव्यक्ति को एक व्यवस्था में बाँधकर ही उनका सम्यक् अवगाहन करे।

फलतः यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि परमशिव अपनी स्वाभाविक स्वच्छन्दता से जिस तथ्य की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति करता है वह एक व्यवस्था ही है[6]। यद्यपि व्यवस्थापन ही परिसीमन है पर फिर भी यह सम्प्रदाय परिसीमनकृत्य का उत्तरदायित्व स्वातन्त्र्य के तिरोधान नामक पक्ष को व व्यवस्थापन के कर्तृत्व को शुद्ध स्तर पर विमर्शशक्ति को व अशुद्ध स्तर पर नियतिशक्ति को सौंपता है। इन दोनों प्रकार के परिसीमनों में मात्र सामान्य व विशेष का भेद है। जहाँ तिरोधानकृत परिसीमन सामान्य दृष्टि से संकोचन को उपस्थित करता है[7] वहाँ विशमर्श या नियतिशक्तिकृत संकोचन उसे विशिष्ट स्वरूप में परिसीमित करते हैं। इस सम्प्रदाय में यह विमर्श का प्रत्यय अति व्यापक सामर्थ्यों से विभूषित है फलतः विशिष्ट सन्दर्भों में विशिष्ट संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। अतः इस विमर्श का व्यवस्थापनकारी पक्ष ही संभवतः इस दार्शनिक धारा में बहुलता से प्रयुक्त नियति शक्ति सिद्ध होता है जो कि अपने स्फुट कर्तृत्व का प्रकाशन अशुद्धा सृष्टि में ही करता है अतः वहीं इसका कार्यक्षेत्र सर्वत्र कहा गया है। पर उससे ऊपर शुद्धासृष्टि के स्तर पर भी इस व्यवस्थापन की स्थिति को स्वीकारना उपपन्न ही है अन्यथा तो एक अखण्ड प्रकाश तत्त्व का इन विविध स्वरूपों—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर शुद्धविद्या में प्रच्छन्न भी किस आधार पर अभिधेय होगा। यहाँ या तो इस दर्शन धारा की शब्दावली में विमर्शशक्ति का ही कर्तृत्व स्वीकार करना होगा अथवा नियति शक्ति की ही दो स्थितियों को स्वीकारना होगा। क्योंकि नियतिशक्ति का व्यापार तो वहाँ अस्पष्टतः विद्यमान रहता ही है[8]। फलतः हमें कहना होगा कि

नियति शक्ति के व्यापार की ही दो विधाएँ हैं—(१) सामान्य व्यापार, (२) विशिष्ट व्यापार। सामान्य व्यापार का अभिप्राय जहाँ मात्र व्यवस्थापन में निहित है वहीं विशिष्ट व्यापार नियामकता व प्रतिबन्धकता का निर्देशक है। प्रथम का कार्यक्षेत्र वे ५ अनुभव तत्त्व हैं जिनको कि शिवाद्वयवादी धारा शुद्धाध्व की संज्ञा से अभिहित करती है व द्वितीय का कार्यक्षेत्र वे ३१ तत्त्व हैं जिन्हें अशुद्धाध्व कहा जाता है। शुद्धता व अशुद्धता का अभिप्राय अभेदात्मक व भेदात्मक चेतना के प्राधान्य व गौण को अभिव्यञ्जित करना है। अभेदात्मक दृष्टि की प्रधानता से शुद्धाध्व में निर्विकल्पात्मकता का साम्राज्य रहता है व भेदात्मक दृष्टि की प्रधानता से अशुद्धाध्व में सविकल्पता का प्ररोह रहता है। अतः नियतिशक्ति का व्यापार भी एक स्थल पर स्वरूप-व्यवस्थापन है व अन्यत्र सविकल्प नियमन। शुद्धाध्व में यह निर्विकल्पता की मान्यता यद्यपि तर्क के आगे ठहर नहीं पाती क्योंकि इस सम्प्रदाय में द्वैतता की प्रतीति ही विकल्परूपता के लिये उत्तरदायी कही गयी है[10] और यह प्रतीति तो शुद्धाध्व के तत्त्वों में भी सदाशिव स्तर से आ ही जाती है। अतः नियतिशक्ति अथवा विमर्शशक्ति का व्यापार वहाँ यद्यपि स्पुट विकल्पता को आश्रय नहीं बनाता पर फिर भी उसके किञ्चित् संस्पर्श से बच नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त यहाँ इस नियति शक्ति की स्पष्ट स्थिति शुद्ध तत्त्वों में न स्वीकारी जाने पर भी नियति का योजना व्यापार[11] वहाँ भी स्वीकृत किया ही गया है क्योंकि सदाशिव स्तर से ही अहम् इदम् की विशिष्ट प्ररूपों में योजना प्रारम्भ हो जाती है चाहे वह परमशिव के अन्दर ही क्यों न हो और शिव तथा शक्ति आचार्य सोमानन्द व उत्पल[12] की दृष्टि में विलगतत्त्व हैं ही नहीं। फलतः चाहें उस सम्प्रदाय में उसकी स्पष्ट स्थिति वहाँ न स्वीकृत हो पर परोक्षतया उसका संकेतन तो है ही। संभवतः शिवाद्वयवादी विचारक उसकी स्पष्ट स्थिति वहाँ मानने से इसीलिए इन्कार करते आए हैं कि परमशिव के स्वातन्त्र्य में कहीं कोई प्रातीतिक व्यतिक्रम भी न उत्पन्न होने पाए, पर फिर भी कुछ ऐसे प्रयोग अनजाने में कर ही गये हैं[13] जो उनकी इस प्रच्छन्न मनोवृत्ति के सांकेतिक हैं। फिर भी इस मान्यता को प्रश्रय न देने पर विमर्शशक्ति भी इस नियतिवाद के परिचालन कर्तृत्व को वहाँ निभा ही देती है फलतः उसकी स्थिति वहाँ भी स्वीकारना वांछनीय हो ही जाता है।

अतः यह कहना आवश्यक हो जाता है कि स्वातन्त्र्य का प्रथम स्फार नियतिवाद ही है, वह हो चाहें जिस माध्यम से। इसी के विकास के साथ ही परतत्त्व की क्रीडा प्रारम्भ होती है। फलतः उसके स्वातन्त्र्य के विविध प्ररूपों – सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान तथा अनुग्रह आदि का व्यापर प्रारम्भ हो जाता है।[14] इनमें व्यवस्था बनाए रखने का कार्य यहाँ विमर्शशक्ति ही निभाती रहती है अन्यथा तो यह सबकी सर्वमयता की उद्घोषक विचारधारा किसी भी प्रकार यह सिद्ध करने में सक्षम नहीं होती कि सृष्टि रूप कृत्य का अभिप्राय मात्र अन्तस्थ का बाह्य अभिव्यक्तिकरण ही है अन्य कुछ नहीं या स्थिति का अर्थ मात्र सृष्ट पदार्थों का किञ्चित् काल लिए अवस्थान है, अन्य कुछ नहीं। इसी प्रकार संहार का अभिप्राय मात्र बहिर्तया भासित के पुनः अन्तर्लीन होने में, तिरोधान का संस्कारनाश में तथा अनुग्रह का पुनः स्वस्वरूप लाभ में परिसीमित होना एक व्यवस्था का ही द्योतक है जिसका कि कर्तृत्व इसी नियतिवाद के अग्रसारक विमर्श शक्ति के प्रत्यय को समर्पित होता है।[15] अब यदि इनमें उपलब्ध क्रम जिसे पुनः पुनः दैशिक-कालिक क्रम से अतीत कहकर मात्र बोधक्रम का विषय बताया जाता है, की ओर दृष्टिपात किया जाए तो यही उपलब्ध होता है कि पारमेश्वरी नियतिशक्ति अनाम विमर्शशक्ति ही उसके समस्त कृत्यों व व्यापारों के सम्यक् विभाग व तत्सम्बन्धी कर्तृत्व क्षेत्रों को निर्दिष्ट करती है। फलतः इन पाँचों में एक निश्चित क्रम ही दृष्ट होता है जिसके अनुसार सृष्टि के उपरान्त स्थिति ही आती है व संहार के बाद ही तिरोधान का कृत्य प्रारम्भ होता है। यदि इस प्रकार का कोई क्रम न माना जाए तो बिना सृष्टि के संहार कृत्य का या स्थिति का क्या कर्तृत्व होगा अथवा बिना तिरोधान के अनुग्रह कृत्य का विषय क्या बनेगा यह समझ सकना अति दुष्कर है। यद्यपि तिरोधान की यहाँ दो स्थितियाँ मान्य हैं जिनमें से प्रथम स्थिति मात्र स्वरूपावरण अभिप्राय को बतलाती है तथा द्वितीय संस्कार विलयन को। पर दोनों ही स्थितियों की संभावना के बिना अनुग्रह कृत्य की स्थिति अनुपपन्न है।

इसी प्रकार परमशिव की स्वभावभूत शक्तियों की व्यवस्था, उन शक्तियों के स्फार रूप ३६ तत्त्वों के व्यवस्थित विकास की प्रक्रिया व तदुपरान्त विविध प्रमाता-प्रमेय, कर्त्ता-कर्म आदि की निश्चित व्यवस्थिति आदि में इस नियतिवादी प्रक्रिया की झलक मिल ही जाती है चाहे वह विमर्श शक्ति के कर्तृत्व से भासित हो रही हो अथवा नियतिशक्ति के कर्तृत्व से। यद्यपि शक्तिमान के अभेद की मान्यता की उद्घोषक इस दर्शनधारा में शक्तियों की व्यवस्था का निमित्त किसी अन्य तत्त्व को स्वीकारना अनुपयुक्त ही लगता है पर ऐसी दृष्टि रखने पर तो वस्तुतः नियतिवाद की प्रेरिका विमर्शशक्ति भी उन शक्तियों की तरह परतत्त्व से अभिन्न ही है तब वहाँ व्यतिरिक्तता की बात ही नहीं उठती। फिर भी विमर्श के इसी व्यवस्थापन कृत्य को प्रधानता देने से यह सम्प्रदाय अक्षर विमर्शशक्ति को सभी शक्तियों में प्रधान व सबकी अग्रसारिका सिद्ध करता है।[16] फलतः सर्वभयतत्त्व के विषय में कुछ भी कथन एक निश्चित व्यवस्था के बन्धन में बँधकर ही संभव है और इस व्यवस्था के व्यवस्थापन में जो निमित्तभूत है वह परतत्त्व का स्वरूप ही है।

इस प्रकार स्वातन्त्र्य व विमर्श (व्यवस्थाकारी) दोनों ही परतत्त्व के स्वरूपगत वैशिष्ट्यों के द्योतक हैं जो यहाँ की समन्यवादी दृष्टि के पूर्ण अनुकूल ही है। अभेदात्मक चेतना की प्रधानता रहने तक इस व्यवस्था कृत्य का सम्पादन करने वाली यह विमर्श शक्ति जब भेदात्मक चेतना की प्रधानता होने पर स्फुट नियमन व्यापार की अग्रसारिका बन जाती है तब विमर्श संज्ञा से अभिहित न होकर नियतिशक्ति कही जाती है। यहाँ इस नियति शक्ति की भी व्यापक सामर्थ्य प्रदर्शित की गयी है। यही अनन्त आभासवर्गों में कुछ को श्रथित कर अन्यों से पृथक् एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है तथा उसे एक निश्चित संज्ञा का वाच्य व निश्चित अर्थक्रिया का साधक सिद्ध करती है।[17] यही पारमार्थिक कारणता में अन्तर्भूत अन्य अवान्तर सृष्टियों की नियमकता में एक मात्र निमित्त है।[18] यही एक नियत कर्म के सम्पादन से एक नियत फलप्राप्ति के नियम की निर्धारिका है।[19] वस्तुतः तो नियति शक्ति के द्वारा जो जिस व्यापार में नियत कर दिया

जाता है वह उसी में समर्थ होता है। यही कुछ आभासों को कारण, कुछ को कार्य, कुछ को क्रिया रूप से अभिहित कराती है, नियत शब्द से नियत अर्थ का द्योतन करती है, एक नियत लिङ्ग से एक नियत लिङ्गी का ज्ञापन करा अनुमान को संभव बनाती है।[३०] दो पदार्थों के नियत सम्बन्ध की भी निर्धारिका यही है। वस्तुतः तो यही सर्वगतावाद में विशिष्टता की विमर्शक होकर सबको सर्वार्थक्रियाकारी होने से रोकती है।[३१] यह अनन्त स्वलक्षणाभासों से मण्डित शरीर भुवनादि का सर्ग उसी के परिसीमन व्यापार का प्रतिफल है।[३२]

यहाँ यह दृष्टव्य है कि ३६ तत्त्वों में अभिगणित नियतितत्त्व और ये नियतिशक्ति के प्रत्यय एक है या भिन्न, तो वस्तुतः प्रथम दूसरे का अंश ही सिद्ध होता है जहाँ कि नियतिशक्ति का व्यापार और अधिक संकुचित हो जाता है। इस नियतितत्त्व का व्यापार तो हर घटना के कारणों की व्याख्या में ही निहित है।[३३] फलतः वह मात्र 'अयं अस्माद् भवति' का ही निर्देशक बन जाता है। पर दृष्टि थोड़ी विस्तृत करने पर हम पाते हैं कि यहाँ उपलब्ध कारण का प्रत्यय अधिक व्यापक सन्दर्भ को द्योतित करता है व मात्र उत्पादक नहीं वरन् ज्ञापक व भावक कारणों को भी आत्म संकुल कर लेता है। यों तो नियतिशक्ति का व्यापक प्रत्यय पदार्थों के कारणों के नियमन के साथ ही नियमित स्वरूपस्थान के समस्त प्रकारों का भी निर्देशक है। नियति की स्थिति में भेदात्मक चेतना के प्राधान्यवश ही कहीं-कहीं इसे माया रूप भी बतलाया गया है[३४] क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का एक निश्चित स्वरूप में प्रतिष्ठापन अन्यों से उसके वैशिष्ट्य का ही संकेतन कराना है अतः मायात्मक नियति का अभिधान सम्यक् ही सिद्ध होता है।

यद्यपि यहाँ विमर्श शब्द के व्यवस्थापन कर्तृत्व को अशुद्ध स्तर पर सम्पादित करने का कार्य नियतिशक्ति का कहा गया है पर शिवाद्वयवादी ग्रन्थों में अक्सर ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ शुद्धासृष्टि में क्रियमाण अभेद प्रधान विमर्शगत व्यापार अशुद्धासृष्टि में भेद प्रधान विकल्प का दायित्व कहा गया है फलतः विकल्प व नियति के प्रत्ययों में भेद करना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि विकल्प व्यापार जहाँ मात्र द्वैत का आक्षेप कर विमर्श आत्मसत्ता प्रधान अनुभूति को द्वैत की भावना से पूर्ण करता है वहीं नियति शक्ति उस द्वैत की चेतन को संयोजन वियोजन के द्वारा व्यवस्थित आकार प्रदान करती है व नियत संज्ञाओं व अर्थक्रियासामर्थ्यों से विभूषित करती है।

यद्यपि इस प्रकार के नियतिवाद का किसी परमस्वतन्त्र तत्त्व से लेशमात्र भी संघर्ष उसके स्वातन्त्र्य की असीमता को ससीम बना सकता है पर यदि नियतिवाद का स्रोत ही वह स्वातन्त्र्य हो तो ऐसी कोई संभावना नहीं दीखती। फलतः इस प्रकार की स्वातन्त्र्य की क्रीडा प्रारम्भ करते ही शिवाद्वयवादी परमशिव विविध व्यवस्थित स्वरूपों में अपने पदार्थ स्वरूप से प्रच्युत होने की प्रतीति करता हुआ अन्ततः उस स्तर तक पहुँच जाता है जहाँ वह हर क्षेत्र को अपनी हर संभाव्य क्षमता को अपने ही द्वारा सृजित बन्धनों में बाँध लेता है। ये बन्धन उसी नियतिशक्ति के विशिष्ट कर्तृत्व है। उसकी सर्वज्ञता अब विद्यारूप, सर्वकर्तृता कला रूप, सर्वाप्तता राग रूप, सर्वव्यापकता काल रूप, सर्वपयिता नियति तत्त्व रूप सीमित वैशिष्ट्यों में परिणत होकर उसकी सीमाओं का बोध कराते हैं[३५]। इस प्रकार यद्यपि स्वातन्त्र्य का निमज्जन ही नियतिवाद का उद्भवन प्रतीत होता है पर वस्तुतः तो वह स्वातन्त्र्य के प्रकाशन का एक साधन ही है। स्वातन्त्र्य नियमन के अभाव में पंगु ही है। जैसे मनुष्य को आत्मविशर्मन के अभाव में आत्मसत्ता का ज्ञान नहीं होता वैसे ही इस नियतिवाद के अभाव में परतत्त्व को उस आत्म-स्वभाव स्वातन्त्र्य की प्रतीति हो सकना संभव नहीं दीखता। यों भी यह स्वातन्त्र्य एक सापेक्ष प्रत्यय है अतः इसकी संभावना का ज्ञान तभी हो सकता है जब इसकी विपरीत स्थिति का भी किञ्चित् बोध रहे। साथ ही यहाँ इस नियतिवाद की स्फुट निर्देशिका नियति को परतत्त्व की शक्ति कह देना ही इनकी प्रातीतिक विरोधात्मकता को समाप्त कर अन्तरंगता को निर्देशित कर देता है क्योंकि इस सम्प्रदाय में स्वीकृत शक्ति-शक्तिमान का अभेद इनके मध्य किसी प्रकार के द्वैत को स्वीकृत ही नहीं कर सकता।

इस प्रकार पञ्चकञ्चुकों के रूप में आवद्ध हुआ वही परतत्त्व जब सभी प्रकार से अणुमात्र को प्राप्त कर अणु संज्ञा का वाच्य बन जाता है, वस्तुतः तो वह अपने स्वातन्त्र्य से बन्धनों में बँधता व मुक्त होता है फलतः इन बन्धनों की प्रेरिका नियतिशक्ति का स्वामी ही है। अब इस नियति शक्ति के वशीभूत हुआ अणु रूप जीव यही समझने लगता है कि सम्भवतः उसे अब किसी प्रकार का चयन स्वातन्त्र्य नहीं है क्योंकि सब कुछ तो उसका पूर्वनियत है।[३६] हाँ इस नियमन की दिशाएँ कई संभव हैं—बाह्य व आन्तरिक अथवा परिवेशकृत व आनुवंशिक आदि। पर वस्तुतः तो उस अणु (जीव) में भी इस स्वातन्त्र्यांश की विद्यमानता के सन्दर्भ में कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं जो कि यह स्वीकारने को विवश कर देते हैं कि वह भी स्वातन्त्र्यमय है, यद्यपि परतन्त्र की इच्छा से गृहीत अणुता की चेतना भी वहाँ रहने से उस स्वातन्त्र्य का निमज्जित स्वरूप-स्थान ही वहाँ उपलब्ध होता है। इस मान्यता की सबसे बड़ी समर्थक इस दर्शन की अद्वैतवादी दृष्टि ही है जिसके अनुसार सारा वैविध्यमय जगत् उसी अद्वयतत्त्व का विभव होने से अग्नि व अग्निचय के सदृश ही कहीं भी किसी भी अंश में पारतात्विक वैशिष्ट्यों से च्युत नहीं होता, मात्र वहाँ उनका न्यग्भाव ही हो जाता है[३७] और इस न्यग्भाव का मात्राभेद ही पदार्थों की विविध कोटियों का निर्धारक है। इसके अतिरिक्त कवि व योगी जो कि जीवत्व से युक्त होने पर भी विशिष्ट सन्दर्भों में उस स्वातन्त्र्य के पूर्ण उच्छ्वास से स्पन्दित होते हैं, सभी अणुओं में इस स्वातन्त्र्य की स्थिति से संभावना को चरितार्थ करते हैं। मात्र उसके अभिव्यक्तीकरण हेतु अज्ञान के नाश की व अपने यथार्थ स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा रहती है। ज्यों-ज्यों अज्ञान का नाश होता है, स्वातन्त्र्य का अंश स्फुट होता जाता है व विज्ञानकाल प्रमाता के स्तर तक पहुँचते-पहुँचते उसे अपनी सर्वकर्तृत्व सामर्थ्य का ज्ञान तो हो ही जाता है पर अन्य सामर्थ्यों का विकास अन्य सोपानों को पार करते-करते जाकर पूर्ण रूप से शिवत्व-स्वरूपता की प्राप्ति होने पर ही संभव हो पाता है। इस प्रकार यह नैतिक क्रम-विकास ही उस स्वातन्त्र्य चेतना के अभिव्यक्त होने में हेतु सिद्ध होता है।

यद्यपि यहाँ यह भ्रम संभव है कि जब ईश्वर की नियति शक्ति ही सब कुछ व्यवस्थित व नियमित कर रही है तो वह जीव किस प्रकार बन्धनों

में बँधकर भी स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो सकता है। इसके प्रत्युत्तर में ही संभवतः यह सम्प्रदाय अनुग्रह व शक्तिपात के प्रत्ययों को प्रस्तुत करता है जो कि एक ओर तो परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की ही सर्वकर्तृता को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए अन्य किसी के स्वतन्त्र कर्तृत्व की मान्यता को अस्वीकृत सिद्ध करते हैं व दूसरी ओर नियति के निश्चित चक्र में फँसे मानव की मुक्ति के साधन का भी निर्देश करते हैं। जब परम शिव अपने जिस रूप की अवरोहात्मक क्रीडा से सन्तुष्ट हो जाता है तो उसी अंश पर से अपने तिरोधायक व्यापार को विरत करने के लिए उसे अनुग्रह नामक कृत्य का विषय बनाता है फलतः वह जीव यथार्थ आत्मस्वरूप लाभ हेतु कथित मार्ग (ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा इन सबका समन्वय) की ओर अग्रसर होता है और अन्ततः बौद्ध अज्ञान का नाश कर कार्म व मायीय मलों से शुद्ध हो जाता है। तब पारत्रात्रिकी शक्तिपात उसके पौरुष अज्ञान (आणवमल) का भी नाश कर उसको अपने यथार्थ स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान करा देता है।[३८] इस प्रकार इस पारत्रात्रिकी अनुग्रह कृत्य के दो व्यापार सिद्ध होते हैं—प्रथम तो यथार्थ स्वरूप ज्ञान हेतु उन्मुखीकरण तथा योग्यीकरण और द्वितीय है उसकी अणुरूपता के कारणभूत अपने स्वरूपाच्छादक तिरोधन व्यापार को विरमित करना। ऐसे ये अनुग्रह व शक्तिपात के प्रत्यय निमित्तक ही हैं यद्यपि वे अपने अभिव्यक्तीकरण में गुरु शास्त्र या स्वयं जीवात्मा का माध्यम बना सकते हैं।[३९]

इस अन्तिम स्थिति में उपलभ्य स्वातन्त्र्य की दशा तक पहुँचने से पूर्व जीव को होने वाली चयन स्वातन्त्र्य आदि की प्रतीतियाँ तो वस्तुतः भ्रान्त ही हैं। क्योंकि वह एक ऐसा बद्ध स्वातन्त्र्य है जिसे पिंजड़े में बन्द पक्षी के स्वातन्त्र्य कल्लोल से ही उपमित किया जा सकता है। पारत्रात्रिकी स्वातन्त्र्य का प्रथम पक्ष तिरोधान अपनी अभिव्यक्ति के लिए तीन प्ररूपों को प्रस्तुत करता है—(१) आणव, (२) मायीय, (३) कार्म। वस्तुतः तो परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के संघटक तीनों तत्त्व—इच्छा, ज्ञान, क्रिया ही क्रमशः आणव, मायीय व कार्म मलों के रूप में परिणत हो जाते हैं।[४०] ये तीनों ही मल यद्यपि परिसीमन कर्तृत्व को ही सम्पादित करते हैं फिर भी स्वातन्त्र्य के ही अंश कहे जाते हैं और यह मान्यता इस सम्प्रदाय की इन दो प्रत्ययों (स्वातन्त्र्य व नियतिवाद) सम्बन्धी समन्वयवादी दृष्टि का ही संकेतन है। इन मलों को स्वातन्त्र्य का ही स्फार सिद्ध करने हेतु ही यह सम्प्रदाय इन तीनों मलों में कोई नियत कार्यकारणभाव मानने से इन्कार करता है पर फिर भी जिस व्यवस्था को स्वीकारता है उसमें आणव के बाद ही मायीय की व मायीय के बाद ही कार्म की स्थिति संभव हो पाती है। हाँ, पहला आणव उत्तरवर्ती दोनों के अभाव में भी रह सकता है जैसे कि विज्ञानाकल व इसे ऊर्ध्ववर्ती प्रमाताओं में; जबकि अन्य दो बिना आणव के कहीं भी नहीं रह सकते।

इन तीनों मलों में कार्ममल ही जीव के द्वारा गृहीत देह की कोटि का निर्धारक है।[४१] ये कोटियाँ तीन हो सकती हैं—देव, मानव और तिर्यक्। पुनः जाति, आयु और भोग के आधार पर मानव व तिर्यक् देह ४ रूपों में वर्गीकृत हो सकती है—जरायुज, अण्डज, उद्भिज और स्वेदज। इनमें देव व तिर्यक् देह, भोग देह तथा मानव देह कर्म देह कहलाती है। यह देह कारण-शरीर (पञ्चकञ्चुकों से निर्मित अणु), पुर्यष्टक शरीर व स्थूल शरीर का एक जटिल संगठन है। इनमें से पुर्यष्टक शरीर में ही समस्त संचित व संचीयमान कर्मों के संस्कार स्थित रहते हैं।[४२] इन्हीं संस्कारों के संचय को ही समस्त मीमांसाएँ भाग्य या नियति (Fate) नाम देती हैं। ये ही संस्कार उसके अन्य स्थूल शरीरों की स्थिति व भोगों को निर्धारित करने में हेतु बनते हैं। फलतः कार्ममल में पूर्णतया बद्ध अणु के पास स्वातन्त्र्य का कोई स्पन्दन नहीं रह जाता। अब सब कुछ उसके द्वारा पूर्व कृतकर्मों से ही नियत होने लगता है। पर फिर भी यह कहा ही जाता है कि उसको कर्म-चयन की स्वतन्त्रता है, उसके सन्मुख दो विकल्प हैं जिनमें से इच्छानुसार वह पतन या उत्थान के मार्ग को अपना सकता है। नियतिवाद तो यहाँ यही कहेगा कि यह उसका विकल्पचयन भी पूर्वनियमित ही है और संभवतः यही दृष्टि शिवाद्वयवादी नियतिवाद भी प्रस्तुत करेगा जो कि सर्वनियामकता को सामर्थ्य पारमेश्वरी इच्छा को ही सौंप देता है पर अब समस्या यह उपस्थित होगी कि 'उत्तरदायित्व' के घेरे में कौन बँधे। इस प्रत्यय के बिना तो सारा जगत् दर्शन ही निस्सार हो उठेगा क्योंकि उत्तरदायित्व का प्रत्यय ही तो आत्मीयता की प्रतीति का अग्रसारक है और जगत् में 'स्व' शब्द मानव को जितना आह्लादित करता है उतना 'पर' नहीं। संभवतः इसी दृष्टि से इस सम्प्रदाय में मलत्रयबद्ध सकल प्रमाता को दो कोटियों में विभक्त किया गया है जिनमें से एक वर्ग तो भोगदेह को ही रखने से मात्र उच्चतर शक्तियों जिन्हें कि परतत्त्व ने ही एक सीमित क्षेत्र का स्वातन्त्र्य प्रदान किया है, के हाथ की कठपुतली बनकर ही रहता है जबकि द्वितीय के पास कर्म देह रहने से वह सीमित स्वतन्त्र इच्छा व क्रिया से सम्पन्न रहता है।

यह कर्मदेह से सम्पन्न सकल प्रमाता अपने कर्मसंस्कारों के अनुसार ही भोगों को प्राप्त करने पर भी नवीन कर्मों को करने हेतु चयन करने में स्वतन्त्र है। फलतः वह सब कृत अकृत को कर्म या किसी उच्चतर सत्ता की हेतुता को समर्पित कर उनके दायित्व से मुक्त नहीं हो पाता वरन् उनके अनुकूल पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि का भागी बनता ही है। यदि सब कुछ कर्म की ही एक डोर से बँधा हुआ हो तब व्यक्ति की किसी कार्य हेतु निन्दा या प्रशंसा करना व्यर्थ ही है और तब समस्त नैतिक विकास की संभावनाओं के प्रयास का वैफल्य भी सिद्ध होगा क्योंकि तब तो मनुष्य के लिये विधि के विधान को मिटा पाना संभव ही नहीं होगा। अतः उनमें कर्म स्वातन्त्र्य की स्थिति मानना आवश्यक ही है। फलतः वे आत्मविकास के मार्ग को भी अपना सकते हैं व आत्मपतन के भी। यद्यपि यह दृष्टि यहाँ सांसारिक ही है जो कि यह सिद्ध करने को विवश कर देती है कि मनुष्य की अन्तरात्मा में स्वातन्त्र्य का वह परम प्रकाश प्रज्ज्वलित ही है जो कि अक्सर उसके चयन स्वातन्त्र्य आदि की स्थितियों में व्यक्त होता है पर वह अंश उस व्यतिरिक्त व्यष्टि का स्वतन्त्र स्वरूप नहीं है वरन् समष्टिगत अंश से एकरूप ही है। फलतः यह मान्यता उस पारत्रात्रिकी मान्यता के साथ विरोध नहीं समुपस्थित करती कि सारा द्वैत उस अद्वैत तत्त्व की ही अभिव्यक्ति है फलतः सब कुछ उसी की एकमात्र इच्छा से परिचालित है। जब कभी उसे किसी व्यष्टि के साथ प्रातीतिक द्वैत को विस्मृत करने की इच्छा होती

है तभी वह उस व्यष्टि पर अनुग्रह कर उसे स्वरूप-प्रत्यभिज्ञान करा देता है।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट ही है कि जो जागतिक क्षेत्र में परिदृश्यमान है वह सब उसी पारमेश्वरी स्वातन्त्र्य का ही प्रतिफलन है। अतः वैदिक ऋत या आगमिक नियति इसी स्वातन्त्र्य के ही स्पन्द सिद्ध होते हैं जो कि परतत्त्व को छोड़कर शेष सम्पूर्ण अभिव्यक्त प्रत्ययों को अपने सम्पुट में आबद्ध कर लेते हैं। फलतः स्वातन्त्र्य मात्र पारतात्त्विकी भावना सिद्ध होती है जागतिकी नहीं। वस्तुतः तो जब हम स्वातन्त्र्य की बात करते हैं तो हमें अवरोहात्मक प्रक्रिया का आश्रय लेकर उस सर्वोच्च तत्त्व से प्रारम्भ होना पड़ता है जो कि सर्वसंकुल है तथा पुनः स्वातन्त्र्य के द्वारा बन्धों की उत्पत्ति को स्वीकारते हुए पूर्णबद्धता की निम्नतर स्थिति तक पहुँचना होता है और जब नियतिवाद की बात करते हैं तो नियतिवाद की स्फुटतम अभिव्यक्ति से प्रारम्भ होकर उस अन्तिम स्रोत तक पहुँचना होता है जो कि समस्त नियमों का स्रोत है, समस्त कारणों का कारण है, असीम संभावनाओं का आगार है। अतः दोनों विरोधी प्रत्ययों का सम्मिलन एक ही बिन्दु पर जाकर हो सकता है जो कि शिवाद्वयवादी विचारधारा में परमशिव महेश्वर व अनुत्तर आदि की संज्ञाओं से वाच्य किया जाता है।[33] ऐसे तत्त्व की नियामकता का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह तो मूलोच्छेदक अनवस्था दोष का आपादक होगा। यही अन्तिम स्वातन्त्र्य की स्थिति तो जीव के नैतिक क्रमविकास की संभावना को भी संभव बनाती है अन्यथा तो नियति से कहीं भी मुक्त होना संभव ही नहीं था।

अन्ततः शिवाद्वयवादी शब्दावली में सभन्यववादी दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए हम यही कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्यमय परमशिव ही सभी बन्धों का सर्जक व उच्छेदक है। वही बद्ध है, बन्ध है व बाँधने की क्रिया है; वही नियम है, नियमन है व नियमित है; वही मुक्त है, मुक्ति है व मुक्त होने की क्रिया है।[34] फलतः समस्त त्रिपुटियों का लय स्थान वह अद्वैत तत्त्व नियमन के सुरों में बँधे स्वातन्त्र्य संगीत से प्रतिक्षण प्रतिछन्दित होता रहता है।

पाद टिप्पणियाँ

१. स्वभावात् परमेशानो नियत्यनियतिक्रमम्।
स्पृशन्प्रकाशते येन ततः स्वच्छन्द उच्यते॥ तन्त्रालोक (काश्मीर संस्कृत सीरीज)। १४/२१६।

२. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (भास्करी), भाग १, पृ० ३८।

३. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, भाग ३, पृ० ९६।

४. वही, भाग १, पृ० ५; ई० प्र० वि०, भाग १, पृ० ८६; वही, भाग २, पृ० २०६–९।

५. परमेश्वरस्यात्यन्तदुर्घटनप्रागल्भ्यलक्षणं स्वातन्त्र्यम्। महार्थमंजरी, पृ० १४।

६. तस्यैव स्वातन्त्र्यात् नियतिविजृम्भा····। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, भाग २, पृ० ३।

७ तिरोधानभावरणं स्वरूपाप्रकाशनं···ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, भाग ३, पृ० २७८।

८ सन्निवेशस्तु नियतिरूपः, नियतिर्हि नियमः····ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (भास्करी) भाग २, पृ० १२८–९।
नियतरूपो भावावभासः सन्निवेशः। ई० प्र० वि० वि०, भाग ३, पृ० १५७।
सन्निवेशो हि नाम सजातीयविजातीयविभागोत्थापको····।
ई० प्र० वि० वि०, पृ० १९२।

९ ···तत्त्वेनास्य अवभासो जायते इत्यर्थः तथैव विश्वाकृतित्वेऽपि चिद्यान्तः पारमेश्वरी नियतिशक्तिमाहात्म्याद्···। तन्त्रालोक वृत्ति (तन्त्रालोक) भाग ३, पृ० २३०।

१० ··· नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः।
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका १/५३।

११. ई० प्र० वि० वि० भा० ३, पृ० ९६।

१२. ई० प्र० का० ३/१/१।

१३. नियतिशक्तिस्तु महामायासंसारतया··· ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, भाग ३, पृ० ९९।

१४. ध्वन्यालोकलोचन, उद्योत ४, श्लो०।

१५. ई० प्र० वि० वि०, भा० १, पृ० ८४–८५।

१६. ई० प्र० वि० (भास्करी) भा० १, पृ० २६७।

१७. ई० प्र० वि० वि० भा० १, पृ० १३९; भा० २, पृ० २८; पृ० ३६९।

१८. वही, भा० २, पृ० १ ८–९।

१९. ई० प्र० वि० वि०, भा० ३, पृ० ३१८।

२०. ई० प्र० वि० वि०, भा० ३, पृ० १२१, पृ० ११६; पृ० २१३, २०१, २०५, भा० २, पृ० १७२।

२१. ई० प्र० वि० वि०, भा० ३, पृ० १६०।

२२. ई० प्र० वि० वि०, भा० ३, पृ० २५६।

२३. तन्त्रालोक २/१०६, पृ० १६३; पृ० १६०–१।

२४. शिवदृष्टिवृत्ति, पृ० २८।

२५ महार्थमंजरी, पृ० ४८।

२६. ई० प्र० वि० (भास्करी) भा० २, पृ० १६८।

२७ वही, भा० १, पृ० ५७–८; ई० प्र० वि० वि०, भा० १, पृ० २७३-४।

२८. ई० प्र० वि० वि०, भा० ३, पृ० १६७; तन्त्रालोक आ० १३, श्लो० २०२–३।

२९. तन्त्रालोक, भाग ८, पृ० ७८।

३०. महार्थमंजरी, पृ० २४।

३१. तन्त्रालोक, भा० ६, पृ० ९९–१००।

३२. स्पन्दनिर्णय, पृ० ७३।

३३. शिवदृष्टि आ० ५, श्लो० १०९–११०।

३४. तन्त्रालोक, आ० १३, श्लो० १२३–१२५।

बौद्ध तन्त्र

• श्री सेम्पा दोर्जे •

भारतीय आध्यात्मिक विद्या 'तन्त्र' या तन्त्रविद्या अपने आपमें अत्यधिक महत्त्व रखती है। मानव जीवन में तन्त्रविद्या का प्रवेश कब हुआ और कैसे हुआ, इस प्रश्न का उत्तर अभी तक सुनिश्चित नहीं है। आधुनिक इतिहास वेत्ताओं के अनुसार मानव जीवन में तान्त्रिक प्रक्रियाओं का प्रवेश बहुत बाद में माना जाता है। परन्तु तन्त्र में निहित सांस्कृतिक अवशेषों एवं उसकी विविधताओं के अनुशीलन से तन्त्र और मनुष्य जीवन का रिश्ता बहुत प्राचीन प्रतीत होता है। क्योंकि कोई धर्म, साधना या दर्शन का प्रादुर्भाव तत्कालीन सांस्कृतिक तत्त्वों को विरासत में लिये बिना नहीं हो सकता। तन्त्र एक स्वतन्त्र और अपने आप में सम्पन्न विद्या है। यह मानवीय जीवन सम्बन्धी क्रिया कलापों का एक परिष्कृत एवं संस्कृत स्वरूप है। यह बाह्य सृष्टि एवं आध्यात्मिक सृष्टि की समंजसात्मक विस्तृत व्याख्या है।

वाङ्मय तन्त्रः—सभी भारतीय अध्यात्मवादी यह जानते हैं कि सृष्टि के दो स्वरूप होते हैं, बाह्य और आध्यात्मिक। यहाँ बाह्य सृष्टि से तात्पर्य रागादिमूलक सृष्टि है। आध्यात्मिक सृष्टि का अभिप्राय ज्ञान और करुणा मूलक सृष्टि से है। तन्त्र में बाह्य सृष्टि की संरचना से लेकर आध्यात्मिक सृष्टि की अन्तिम गति पर्यन्त समस्त क्रिया-कलापों की यथार्थ विवेचना पायी जाती है। दोनों तरह की सृष्टि के आपसी सम्बन्ध एवं एक दूसरे पर किसका कब कैसा प्रभाव पड़ता है और उन प्रभावों से साधक की साधना में किन-किन अवस्थाओं में किस प्रकार के विघ्न उत्पन्न होते हैं तथा वे कैसे उनके सहायक बनते हैं? यह अनिवार्य रूप से उत्पन्न होने वाले विघ्नों को किन-किन विधियों से साधना के अंग-प्रत्यंग बनाकर साधक द्वारा उसका उपशमन किया जा सकता है? इन प्रश्नों की विश्लेषणात्मक व्याख्या ही तन्त्र है।

तात्त्विक तन्त्रः—आमतौर पर तन्त्र शब्द से लोग बहुत घबड़ाते हैं। कुछ लोग इसे बहुत गन्दी चीज मानते हैं। कुछ लोग इसे जादू-टोना मात्र मानते हैं। वे जीवन के लिए इसे अत्यन्त निरर्थक मानते हैं। किन्तु बात ऐसी बिल्कुल नहीं है। 'तन्त्र' शब्द 'तनु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है अविच्छिन्न प्रवाह, विस्तार या परम्परा। इस अर्थ में तन्त्र से अभिप्राय आधारभूत विनेय सत्त्वों (जीवों) की विज्ञान-सन्तति है, परन्तु यह आधारभूत तन्त्र-मात्र है, जो शब्द द्वारा साधारणतः अभिहित होता है। तात्त्विक-दृष्टि से 'तन्त्र' उस तत्त्व को कहते हैं, जो प्रज्ञा और उपाय (—महाकरुणा) का समापत्ति योग है, जैसा कि कहा गया है—

'प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते'।

इसी 'योग' के द्वारा साधक जीव की सन्तति का त्राण होता है, उसीसे मार्गसन्तति की अभिवृद्धि होती है और प्राप्त फल (वज्रधरत्व-बुद्धत्व) का निरवच्छिन्न प्रवाह बना रहता है और वह यावत् सत्त्व-स्थिति, सत्वार्थ के लिये सदा प्रवृत्त हो जाता है। इस दृष्टि से 'तन्त्र' एक प्रबन्ध विशेष का नाम है, जैसा कि गुह्यसमाज तन्त्र में कहा गया है—

प्रबन्धं तन्त्रमाख्यातं तत् प्रबन्धं त्रिधा भवेत्।
आधारः प्रकृतिश्चैव असंहार्यप्रभेदतः ॥३३॥
प्रकृतिश्चाकृतेर्हेतुरसंयार्यफलं तथा।
आधारस्तदुपायश्च त्रिभिस्तन्त्रार्थसंग्रहः ॥३४॥
पञ्चकं त्रिकुलं चैव स्वभावैकेशतं कुलम्।
सहोक्तिबोधिवज्रस्य सोत्तरं तन्त्रमिष्यते ॥३५॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तन्त्र' का अर्थ बहुत व्यापक है। जिस प्रज्ञा और उपाय के योग से समस्त सांसारिक एवं असांसारिक दुःखों से मुक्ति पाई जा सकती है, उस योग को ही हम यहाँ तन्त्र के वास्तविक अर्थ में ले रहे हैं। यहाँ कारकार्थ में 'तनु' से 'त्राण' का योग हुआ है। विशेष अर्थ में जिस तत्त्व के द्वारा 'भवान्त' और 'शमान्त' इन दोनों अन्तों में पतन के भय से त्राण हो जाता है, उस तत्त्व को ही संक्षेप में हम तन्त्र कहते हैं।

मन्त्रः—'मन' हम उस पदार्थ को कहते हैं, जो इन्द्रिय, आत्मबल एवं पूर्णसंस्कारों के योग से विषयग्राही ज्ञान के रूप में उत्पन्न होता है। उसके स्वरूप और भेद अनेक होते हैं। परंतु संक्षेप में उसके दो ही भेद माने जाते हैं। उसका एक स्वरूप सुख-दुःखादि संवेदनाओं से सर्वथा उपप्लुत (ग्रस्त) रहता है तथा दूसरा तास्त्विक संवेदनाओं से (क्लेशादि से) मुक्त होता है। इस दुःखादि वेदनाओं से उपप्लुत मन का त्राण जिस तत्त्व की साधना से होता है, उस तत्त्व को 'मन्त्र' कहा जाता है। अर्थात् मन का त्राण करने वाले 'तत्त्व' को मन्त्र कहते हैं। आमतौर पर मन्त्र सम्बन्धी विधि-विधानों एवं सम्बन्धित शास्त्रों को ही मन्त्र कहा जाता है। कभी-कभी 'मन्त्र तत्त्व' को व्यक्त करने वाले प्रतीक या उच्चार्यमाण शब्द को मन्त्र कहा जाता है, जैसे 'ओं यमान्तकः हूँ' इत्यादि। वास्तव में ये सब मन्त्र नहीं अपितु 'मन्त्रतत्त्व' से सम्बन्धित शब्द हैं, ये प्रतीक मात्र हैं। 'मन्त्र' तत्त्व की व्याख्या करते हुए गुह्य समाज तन्त्र में लिखा है—

प्रतीत्योत्पद्यते यद्यदिन्द्रियैर्विषयैर्मनः।
तन्मनो मननं ख्यातं कारकं त्राणनार्थतः ॥६९॥
लोकाचारविनिर्मुक्तं यदुक्तं समयसम्वरम्।
पालनं सर्वबुद्धैस्तु मन्त्रचर्येति कथ्यते ॥७०॥

पुनः उसी में कहा गया है—

'मन्त्रं मन्त्रमिति प्रोक्तं तत्त्वं चोदनभावणम् ॥ इत्यादि ॥

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र जादू-टोना नहीं है, अपितु हमारी संस्कृति या धर्म का मूलभूत तत्त्व है। इस तत्त्व को तान्त्रिक साधक अनेक उपायों के माध्यम से प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और अपनी लगन एवं कार्य कुशलता के अनुरूप फल की प्राप्ति भी होती है।

तन्त्रयान :—साधारणतः यान शब्द का प्रयोग यात्री द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँचने के साधन के लिये होता है, जिसमें लक्ष्य तक पहुँचाने की सभी सामग्री अविकल रूप से उपस्थित हो या जो लक्ष्य तक पहुँचाने की क्षमता रखता हो। इस दृष्टि से यहाँ 'यान' से तात्पर्य उस मार्ग-व्यवस्था से है, जो साधक को अपने अभिप्रेत लक्ष्य तक पहुँचाने की पूर्ण क्षमता रखती हो और अन्य किसी मार्ग या उपाय के बिना अपेक्षा किये अपने आप में परिपूर्ण हो। तन्त्र एवं तन्त्र से सम्बन्धित साधना-व्यवस्था उक्त प्रकार की पूर्ण क्षमता रखती है और उसकी साधना पद्धति में किसी प्रकार की कमी नहीं है। उसे अन्य शास्त्र या मार्ग के निर्देश की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती, अतः तान्त्रिक मार्ग-फल की व्यवस्था 'तन्त्रयान' कहलाती है। यह एक सार्थक नामकरण है।

वज्रयान :—'वज्रयान' शब्द को लेकर बहुत से लोग यह मानते हैं कि यह मन्त्रयान या तन्त्रयान से भिन्न कोई विशेष यान है। वास्तव में वज्रयान महायान से भिन्न कोई यान नहीं है और न मन्त्रयान आदि से। वज्रयान के सम्बन्ध में तन्त्र व्याख्या पुष्पाञ्जलि में कहा गया है—समग्र महायान की संक्षेप स्वरूप छह परमिताएँ हैं। परमिताएँ प्रज्ञा एवं उपाय इन दो में संगृहीत हो जाती हैं। प्रज्ञा और उपाय के सामरस्य-योग को 'बोधिचित्त' कहा जाता है उसी को यहाँ 'वज्रसत्त्वसमाधि' कहा गया है। यही 'वज्र' है। 'वज्र' भी और 'यान' भी यही है, इसलिये इसको 'वज्रयान' कहा जाता है और यही मन्त्रयान भी है।

इस उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयान क्या है? और यह महायान से सर्वथा भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं है। वज्रयान मन्त्रयान से भिन्न नहीं है। ये दोनों समानार्थक हैं, केवल नाम मात्र का भेद है। 'मन्त्र' क्या है? इस सम्बन्ध में कुछ बातें ऊपर कही जा चुकी हैं। संक्षेप में वज्रयान महायान का एक आभ्यन्तरिक भेद है, इसे विभिन्न तन्त्र-ग्रन्थकारों एवं तान्त्रिक टीकाकारों ने तन्त्रनय, मन्त्रनय, मन्त्रयान, मन्त्रयोग, मन्त्रमार्ग आदि अनेक नामों से अभिहित किया है। इस सम्बन्ध में अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावलि में कहा है—

"महायानं च द्विविधं पारमितानयो मन्त्रनयश्चेति। तत्र पारमितानयः सौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकस्थित्या व्याख्यायते। मन्त्रनयस्तु योगाचारमाध्यमिकस्थित्वा व्याख्यायते"।

इस कथन से महायान एवं मन्त्रनय या मन्त्रयान में मौलिक अभिन्नता का स्पष्ट आभास मिलता है। महायान तन्त्रयान या वज्रयान में अन्तर केवल इतना ही है कि महायान के दो आभ्यन्तर भेद हैं—पारमितायान एवं वज्रयान। पारमितायान में दान, शील आदि पारमिताओं के साधनानुष्ठान का विस्तृत व्याख्यान होता है। साधक को तीन असंख्येय कल्पों तक इन पारमिताओं के अनुष्ठान से अपने लक्ष्य सम्यक्-सम्बोधि का लाभ हो सकता है, परन्तु वज्रयान में सभी पारमिताओं के सारभूत वज्रसत्त्व-समाधि के माध्यम से अतिशीघ्र (एक या कुछ ही जन्मों में) सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति के उपाय बताये गये हैं। जैसे अद्वयवज्र ने कहा है—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते॥

अर्थात् पारमितानय और मन्त्रनय दोनों का साध्य सम्यग्सम्बोधि (बुद्धत्व) होते हुए भी मार्गानुष्ठान एवं साधक के तीक्ष्ण इन्द्रिय आदि के विभेद से पारमितानय की अपेक्षा मन्त्रनय अधिक महत्त्व रखता है। इस कथन का सारांश यह है कि बुद्धत्व अथवा परम गति को प्राप्त करने के लिये प्रज्ञा एवं करुणा का युगनद्ध मार्ग ही एक मात्र साधन है। इस मार्ग को साधक के अन्दर उत्पन्न करके उसकी मात्रा को अत्यधिक बढ़ाने के बहुत से उपायों का विधान तन्त्रशास्त्र में पाया जाता है। प्रज्ञा और करुणा की मात्रा को आगे बढ़ाते समय साधकों के समक्ष बहुत से आन्तरिक एवं बाह्य विघ्न खड़े होते हैं। उन विघ्नों में प्रमुख सांसारिक भोग, अकाल मृत्यु, शारीरिक रोग, दैवी प्रकोप आदि हैं। इन विघ्नों का शमन करने एवं मार्ग-अनुष्ठान में उसे सहायक के रूप में उपयोग करने के लिए मन्त्रनय में साधकों के लिये क्रमशः सकारों का सेवन, रसायन (दवाइयों) आदि का प्रयोग, विविध औषधियों का सेवन, शारीरिक आसन आदि को स्थान दिया गया है। इस तरह के तान्त्रिक प्रयोगों का उल्लेख केवल बौद्ध तन्त्रों में ही नहीं, अपितु शैव, शाक्त आदि अन्य आगम शास्त्रों में भी समान रूप से पाया जाता है।

तन्त्र के भेद:—यह तो सर्वविदित है कि धार्मिक अनुष्ठानों या साधना सम्बन्धी प्रस्थानों का भेद साधक की पात्रता के आधार पर किया जाता है। इसी प्रकार तन्त्रनय में भी अधिकारी की पात्रता के भेद के आधार पर समग्र तन्त्रनय या विद्याधर पिटकों का चार भागों में विभाग किया गया है। वे हैं—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र। 'अनुत्तर-तन्त्रार्थावतार' में तन्त्र के इन चार प्रभेदों का समुचित उल्लेख मिलता है। आचार्य 'चोङ्खापा' का कथन है कि तान्त्रिक प्रस्थानों के इन चार प्रभेदों की व्यवस्था यान भेद के आधार पर नहीं है और न इष्ट देवताओं के विशेष 'योग' के आधार पर है, अपितु वज्रयान के अधिकारी विनेय लोगों के प्रमुख चार भेद होने के कारण तान्त्रिक प्रस्थानों को चार भागों में विभक्त किया गया है।

वैरोचन-अभिसंबोधि-तन्त्रव्याख्या के अनुसार आन्तरिक समाधि के साथ बाह्य तप, जप, मण्डल निर्माण आदि क्रियाओं के प्रति अत्यधिक अभिरुचि रखने वाले विनेय लोगों के लिये क्रियातन्त्र, आन्तरिक समाधि एवं बाह्य तप, जप आदि अनुष्ठानों के प्रति समान अभिरुचि रखने वाले विनेय लोगों के लिये 'चर्यातन्त्र', बाह्य क्रियाओं को आंशिक रूप से और आध्यात्मिक समाधि के प्रति अत्यधिक अभिरुचि रखने वाले विनेय लोगों के लिये 'योगतन्त्र' का निर्देशन किया गया है। यहाँ अनुत्तरतंत्र का उल्लेख नहीं मिलता, पर आचार्य ज्ञानपाद के स्वाधिष्ठान विधि में अत्यन्त निष्प्रपञ्च योग के प्रति अत्यधिक अभिरुचि रखनेवाले लोगों के लिये अनुत्तरयोगतन्त्र की देशना का उल्लेख मिलता है। अनुत्तरतन्त्रार्थावतार में भी यही बात कही गई है।

संक्षेप में महायान के दो आभ्यन्तर भेद हैं, पारमितायान और वज्रयान। वज्रयान के चार आभ्यन्तर प्रस्थान हैं। मन्त्रयान, तन्त्रयान आदि सब एक ही वज्रयान के नामकरण हैं। तन्त्र के दो भेद हैं, तात्विक तन्त्र और वाङ्मयतन्त्र। यही स्थिति मन्त्र की भी है। अनुत्तर तन्त्र के अन्तर्गत कालचक्रतन्त्र, हेवज्रतन्त्र, वज्रयोगिनीतन्त्र, चक्रसंवरतन्त्र, सहजचक्रसंवरतन्त्र, गुह्यसमाजतन्त्र, वज्रासनतन्त्र आदि प्रमुख रूप से आते हैं। इन सभी तन्त्रों का स्वरूप मण्डलेश्वर देवता के रूप एवं नाम के कारण भिन्न प्रतीत होता है, फिर भी इन तन्त्रों के मौलिक प्रस्थान में कोई भेद नहीं है। अतः इन तन्त्रों के नाम पर कालचक्रयान, सहजयान आदि अलग-अलग यानों की व्यवस्था मानना ठीक नहीं प्रतीत होती। बौद्धतन्त्र के उद्भव, विकास एवं उपलब्ध साहित्य के बारे में समय के अभाव में इस लेख में कुछ नहीं लिखा जा सकता। बाद में अवसर मिलने पर प्रस्तुत किया जायेगा।

वर्तमान भेद भाषा में उपलब्ध तान्त्रिक साहित्य में भारतीय अचार्यों की तन्त्र सम्बन्धी दो हजार सात सौ एकासी कृतियाँ विद्यमान हैं। इन कृतियों का संग्रह भेटदेशीय तंग्युर नामक ग्रन्थ संग्रह में किया गया है।

Reliance Specializes in :
JUTE DECORATIVE FABRICS
FOR EXPORT AS WELL AS FOR LOCAL MARKET
We Also Manufacture
- **Carpet Backing**
- **Sacking**
- **Hessian**

&

- **Cotton Bagging**

For Durability & Quality
Always Rely on
Reliance Decoratives

THE RELIANCE JUTE & INDUSTRIES LIMITED
9, Brabourne Road, Calcutta-700 001
Phone : 26-7385 (4 Lines)
Gram : RELTRADE
Telex : 7611 Calcutta.

नाथ सम्प्रदाय की तान्त्रिकता

• डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय •

नाथ संप्रदाय शैव सम्प्रदाय है। विभिन्न पूर्ववर्ती विद्वानों ने, जिनमें राहुल सांकृत्यायन अग्रणी हैं, नाथ संप्रदाय को ही नहीं, नाथ संप्रदाय के पुरस्कर्ताओं को भी बौद्ध माना है। अन्य विद्वानों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध सिद्धों की समाज, धर्म, साधना, दर्शन संबंधी दृष्टियों का विकास नाथ सिद्धों में हुआ। शून्य, सहज, खसम जैसे शब्द भी ग्रहण किये गये। दूसरे विद्वानों की स्थापना है कि नाथ मत बौद्ध मत का विकसित शैव रूप है जिसके अनुसार नाथ सिद्ध पहले बौद्ध थे, पर बाद में शैव हो गये। इसके विपरीत म० म० हरप्रसाद शास्त्री का तर्क है कि कैवर्तादि जातियाँ हिंसक थीं और मत्स्येन्द्र नाथ ऐसी ही जाति के थे; अतः इनका बौद्ध मत में सम्मिलित होना संभव नहीं है। इसके विरुद्ध भी अनेक तर्क दिये जा सकते हैं। मत्स्येन्द्र, गोरक्ष आदि बौद्ध थे, इसकी परीक्षा, बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धों की अनेक प्राचीन सूचियों का तुलनात्मक अध्ययन कर की जा सकती है।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मत्स्येन्द्र, गोरक्षादि उस काल के ऐसे महिमान्वित सिद्ध पुरुष थे जिन्हें विभिन्न संप्रदायों ने अपने सिद्धों की सूचियों में सम्मिलित कर अपना सम्प्रदायानयायी घोषित कर दिया था। उन सूचियों में अनेक संप्रदायों एवं साधना-प्रणालियों के सिद्धों के नाम देखे जा सकते हैं। अतः किसी एक सूची को, चाहे वह वर्णरत्नाकर की सूची हो अथवा सख्य विहार की, किसी एक संप्रदाय की सूची नहीं कही जा सकती। उन सूचियों के विशेष स्रोत से प्राप्त होने के आधार पर ही 'बौद्ध सूची' जैसे नाम दिये जा सकते हैं। गुरु-शिष्य-वाद, पिण्ड-ब्रह्माण्ड-वाद अधिकारभेद वाद, अन्तस्साधनावाद, तान्त्रिक योग, नाडीचक्र-योजना, शक्ति-कल्पना, आदि अनेक सिद्धान्त एवं तत्त्व हैं, जिन्हें नाथों और बौद्ध सिद्धों में समान रूप में देखा जा सकता है।

विभिन्न सिद्धान्तों की दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध सिद्धों ने शून्यता का प्रज्ञातत्त्व को महायानी शून्यवाद या माध्यमिक मत से तथा चित्त तत्त्व या विज्ञान तत्त्व को विज्ञानवाद या योगाचार मत से ग्रहण किया। बौद्ध सिद्धों ने अपने तांत्रिक दर्शन के आधार के लिए प्रज्ञा तत्त्व के शक्ति के रूप में ग्रहण किया जिसकी प्रकृति आन्तरिक शक्तिवाद से सर्वथा भिन्न, किंवहुना विपरीत है। सहजयानियों ने इसे अवधूती या नैरात्मायोगिनी या नैरात्मणिदारिका या आध्यात्मिक दर्शन कहा है। तांत्रिक साधक अपने पिण्डब्रह्माण्डवाद के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्माण्ड के सभी तत्त्वों, पदार्थों, को पिण्डस्थ मानता है। इस विचार से जीव की अपनी शक्ति की महत्ता बढ़ गयी। विज्ञानवाद के लिए चित्त तत्त्व को स्वीकार करने के कारण उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ा कि यह विश्व चित्त की सृष्टि है। चित्त ही मोक्ष और बंधन का कारण है। उन लोगों ने यह भी माना कि संसार और निर्वाण के कुछ भेद नहीं है। योग में चित्त की महत्ता स्वतः सिद्ध है। उस पातंजल योग का भी प्रभाव प्राचीन बौद्ध योग के ऊपर पड़ा था जिसमें चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा गया है। तात्पर्य यह है कि दर्शन और साधन की दृष्टि से बौद्ध सिद्धों के मूलाधार तांत्रिक धारा, शून्यवाद या माध्यमिक मत, विज्ञानवाद या योगाचार मत और प्राचीन भारतीय योग थे।

डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने कौलज्ञान निर्णय की वस्तु-सामग्री पर विचार करते हुए यह स्थापना की कि मत्स्येन्द्र और बौद्ध सिद्ध लुयीपाद अभिन्न थे। सहज पर जोर देना, वाह्याचार का विरोध, कुलक्षेत्रों और पीठों की चर्चा, वज्रीकरण का प्रयोग, पंचपवित्र आदि बौद्ध शब्द यह सूचित करते हैं कि मत्स्येन्द्र रचित कौलज्ञाननिर्णय की साधना का संबंध बौद्ध साधना से अवश्य था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस स्थापना से सहमत नहीं हैं। वस्तुतः उपर्युक्त में से अनेक बातें ऐसी हैं जो सर्व सामान्य तान्त्रिक साधना एवं विचारधारा से सुलभ हैं। इस प्रकरण में डा० शशिभूषण दास गुप्त की यह विचारणा पर्याप्त तर्कसम्मत एवं इतिहास संपुष्ट प्रतीत होती है कि उक्त दोनों साधनाधाराओं को अभिन्न मानना एक भ्रम है। यदि तान्त्रिक मतों एवं संप्रदायों का विश्लेषण किया जाय, तो यह स्पष्ट होगा कि अनेक निर्णायक तत्त्व दो हैं। प्रथम विविध तान्त्रिक क्रियाओं की सामग्री और विभिन्न प्रकार के मिश्रित प्रकृति के कर्मकाण्ड, जो न मूलतः बौद्ध हैं, न हिन्दू। द्वितीय विभिन्न रूपों में योग ग्रहण। इन के आधार पर प्रायः लोग बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धों को एक मान लेते हैं, जो भ्रम है। इनमें जो समानताएँ मिलती हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं। शिव-शक्ति सिद्धान्त बौद्धों में उपाय और प्रज्ञा रूप में मिलता है। हिन्दू योगमार्गियों में जिस प्रकार शिव योग के आदि उपदेष्टा हैं, उसी प्रकार बौद्धों में भगवान् बुद्ध या वज्रसत्त्व (या हेरुक या हेवज्र) योग के आदि उपदेष्टा हैं। नाथों की परंपरा में जैसे सबसे पहले आदिनाथ को स्थान दिया जाता है और उन्हीं से योग रहस्यों का प्रकाश माना जाता है, उसी प्रकार बौद्धों में वज्रसत्त्व के रूप में बुद्ध भी माने जाते हैं। बौद्धों में नाथों के आदिनाथ के समय से ही हेरुक या हेवज्र को आदिनाथ और भूतनाथ कहा जाता है। देवता और देवी के संवाद की शैली में

१. द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक के 'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य' एवं 'गोरक्षनाथ' नामक ग्रंथ के संबंधित प्रकरण।

बौद्धों के तंत्र ग्रंथ मिलते हैं। इसी प्रकार की अन्य अनेक समानताओं का निर्देश किया गया है।[२] इसी प्रकार इन दोनों की भिन्नता के भी आधार कम नहीं हैं। इन दोनों के लक्ष्य में ही अन्तर है। बौद्धों का लक्ष्य था—आत्म-अनात्म का महासुखात्मक पूर्ण ज्ञान, जब कि नाथ सिद्धों का लक्ष्य था अमरता प्राप्ति तथा उससे शिवत्व या महेशत्व की प्राप्ति। बौद्धों में यौन-यौगिक साधना का आग्रह है जबकि नाथों में संयम प्रधान द्रव्यान्तर करनेवाली यौगिक प्रक्रिया का। कामसिद्धि को दोनों ही स्वीकार कर लेते हैं।[३]

इस विवेचन का प्रयोजन केवल इतना है कि नाथ मत न तो बौद्ध सिद्ध प्रवर्तित है और न उसके मूल सिद्धान्त ही बौद्ध हैं। इस दृष्टि से नाथ सिद्ध और बौद्ध सिद्ध दोनों ही भिन्न-भिन्न हैं तथा उनके द्वारा प्रवर्तित और प्रचारित संप्रदाय और धर्ममत समकालीन भिन्न-भिन्न धर्ममत हैं। जो समानताएँ मिलती हैं वे भारतीय तांत्रिक धर्म की सामान्य विशेषताएँ हैं जो एक साथ ही जैनों, बौद्धों, शैवों, शाक्तों वैष्णवों—सब में यत्किंचित् रूपान्तर के साथ मिलती हैं। मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के प्रचारित मतों में जो अंतर है, उसका भी यदि भलीभाँति विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि गोरक्ष मत्स्येन्द्र की शुद्ध नाथ योगी साधना के शिष्य थे। मत्स्येन्द्र की योगिनी कौल साधना अधिकांशतः शाक्त तथा वीराचारी प्रतीत होती है तथा वह बाद में मत्स्येन्द्र द्वारा प्रचारित की गयी थी। शाक्तों और तांत्रिकों की वीराचार साधना से प्रभावित होने के कारण उसमें प्रायः वैसी कुछ विशेषताएँ प्रकट हुई हैं, जैसी बौद्ध सिद्धों की विभिन्न रचनाओं में मिलती हैं। इस साम्य के कारण ही बौद्धों में मत्स्येन्द्र का सम्मान उपयुक्त प्रतीत होता है।[४]

इससे स्पष्ट है कि नाथ संप्रदाय में तान्त्रिकता वैसी है, जैसी तान्त्रिक बौद्ध मत में। इतिहासक्रम और तुलनाक्रम से विचार करने पर निष्कर्ष निकलता है कि नाथ सिद्धों की साधना, दर्शन और संप्रदाय में तांत्रिक तत्त्व स्पष्टतया विद्यमान हैं। यदि इस तांत्रिकता का स्रोत बौद्ध नहीं है तो किसी अन्य स्रोत का संधान आवश्यक है। शैव-शाक्त संप्रदायों में तांत्रिकता की विद्यमानता सर्वतः सिद्ध है और निर्विवाद है। यदि काश्मीर शैव मत का अभ्युदय लगभग ५वीं ई० शताब्दी में ही माना जाय[५] और कुछ पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार पाशुपत और आगम शैवों के विभाजन को स्वीकार किया जाय[६] तो लगभग ५वीं शताब्दी से आती हुई शैव परम्परा में पाशुपत शैवों के अन्तर्गत नाथों और गोरखनाथियों की गणना की जा सकती है और आगम शैवों की परम्परा में काश्मीर शैवों की।[७] शैवमत अथवा महेश्वर संप्रदाय की प्राचीनता के लिए डा० भंडारकर, डा० फर्कुहर, डा० यदुवंशी, डा० विश्वंभर शरण पाठक, श्री जगदीशचन्द्र चटर्जी आदि के विवेचनों को देखा जा सकता है। इन विविध विचारों की समीक्षा करने से डा० फर्कुहर का विभाजन बहुत कुछ संगत नहीं प्रतीत होता, विशेषकर गोरक्षनाथ और नाथ संप्रदाय की स्थिति के विषय में; क्योंकि पाशुपतों और आगमिक शैवों में इस प्रकार का भेद था। इसकी सिद्धि मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के आधार पर होती नहीं दिखाई पड़ती। अधिक संभावना यह है कि ये दोनों ही महिमाशाली व्यक्तित्व पाशुपतों और आगमिकों के सेतु अथवा संधिस्थल रहे हों। स्वच्छन्दविभु का अभिनवगुप्त द्वारा किया गया स्तवन इसका प्रमाण है। कौल ज्ञान निर्णय और गोरक्षनाथ की रचनाओं में आगमिक तत्त्वों की विद्यमानता से इसे सिद्ध किया जा सकता है। यदि महार्थमंजरी महेश्वरानन्द रचित है और ये गोरक्षनाथ से अभिन्न हैं तो निश्चय ही गोरक्षनाथ आगमिक शैव ही प्रमाणित होते हैं। गोरक्षनाथ ने अपने ग्रंथ 'अमरौघशासनम्' में स्वच्छन्द तंत्र जैसे प्रमुख शैवागमों में वर्णित योगपद्धति का अनुसरण किया है।[८] इससे यह प्रमाणित होता है कि मत्स्येन्द्र-गोरक्षादि का संबंध आगमों और काश्मीर शैवों से अवश्य था।

एक दूसरी पद्धति से विचार करने पर यह बात और पुष्ट होती दिखाई पड़ती है। अभिनवगुप्त त्रिकदर्शन के सुप्रतिष्ठित आचार्य थे और उन्होंने अपने तंत्रालोक में पाशुपत मत को अपने अद्वैत मत के अनंतर ही उच्च स्थान दिया है। उनका मत है कि पाशुपत मोक्षदायक मार्ग है, जबकि उनका मार्ग भोगमोक्ष का युगपत प्रापक होने के कारण अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है। वे पाशुपत मत को द्वैताद्वैतपरक मानते हैं।[९] एक स्रोत के अनुसार अभिनवगुप्त आचार्य शंभुनाथ के शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ के संप्रदाय के एक सिद्ध कौल थे। इस विषय से संबंधित सारी सामग्री को देखकर यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि काश्मीर शैव मत में कुछ आचार्य केवल मोक्ष को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते थे और कुछ भोग और मोक्ष दोनों को। यह संभव है कि उनके संप्रदाय भिन्न-भिन्न रहे हों। मत्स्येन्द्रनाथ का कौल मार्ग भोगमोक्षप्रापक मार्ग था, किन्तु गोरक्षनाथ यद्यपि उन्हीं के शिष्य थे, तथापि भोग को साधन मार्ग में बाधा समझते थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि त्र्यंबक द्वारा प्रवर्तित एवं श्रीकण्ठ तथा वसुगुप्त के दर्शन से पुष्ट काश्मीर शैव मत की योगप्रधान शाखा के प्रसिद्ध अनुयायियों में गोरक्षनाथ की गणना अधिक समीचीन है जबकि मत्स्येन्द्रनाथ इस महेश्वरमत की भोगमोक्षप्रापिका शाखा (कौलमार्ग) के प्रसिद्ध आचार्यों में अन्तर्गणित थे। अभिनवगुप्त भी उसी परम्परा में थे। यदि मत्स्येन्द्रोद्धार की कथा पर विश्वास किया जाय तो यह अनुमान सरल है कि मत्स्येन्द्र अपने पूर्व संप्रदाय में त्र्यंबक मत के अनुयायी थे; किन्तु बाद में अर्द्धत्र्यंबक कौल मत के आचार्य बने और तदुपरांत गोरक्ष उन्हें पूर्व संप्रदाय में लौटा लाए। अभिनवगुप्त ने गोरक्ष का स्मरण क्यों नहीं किया, जबकि उनके

२. अकल्ट्स रेलिज कल्ट्स, डा० शशिभूषण दासगुप्त, पृ० २२३–२२८।
३. वही, पृ० २५२–२८७।
४. तां० बौ० सा० सा०—उपाध्याय, पृ० २२७–२३१।
५. वैष्णविज्म शैविज्म०—भंडारकर, पृ० १४६–१६९, १७०–१७३, १८३–१८४; तां० बौ० सा० सा०—पृ० १७०।
६. ऐन आउट लाइन आव रेलिजस लिटरेचर आव इंडिया, फर्कुहर, पृ० १९०–१९१।
७. वही।
८. गोरक्षनाथ—उपाध्याय, पृ० ७१–७२।
९. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १, कविराज, पृ० १२६।

पूर्व मत्स्येन्द्र को छोड़ दूसरा कोई ऐसा महिमाशाली व्यक्तित्व नहीं था।[10] साधनमार्ग के वैभिन्य और विरोध को ही इसका कारण समझा जा सकता है।

ऊपर के इस विवेचन में जिन विचारों को ध्यान में रखा गया है, उनकी ओर यत्किञ्चित् संकेत पहले किया जा चुका है। नाथसंप्रदाय शैव है और उसका मूल भी शैव है। इतिहासक्रम से शंकराचार्य गोरक्ष के पूर्ववर्ती हैं। उनके दशनामी अनुयायी भी शैव हैं। पाशुपत, नाथ, दशनामी, सभी शैव थे और सभी में किसी न किसी रूप में तांत्रिकता मिलती है। यद्यपि इनमें से प्रथम दो को अवैदिक और तृतीय को वैदिक होने की मान्यता दी गई। किन्तु यदि इस समय इन विविध संप्रदायों के साधनों एवं अन्य विविध तत्त्वों की परीक्षा की जाय तो निष्कर्ष निकलेगा कि वस्तुतः वेद और तंत्र बहुत भिन्न नहीं हैं। तांत्रिकों की साधनापद्धति और दर्शन के अधिकांश तत्त्व वेदों से सम्बद्ध किये जा सकते हैं।[11] लगभग ४थी-५वीं शताब्दी तक, अधिक संभव है, वैदिक और तांत्रिक श्रुतियाँ अलग-अलग रही हों; किन्तु आगे चलकर, इतना निश्चित है, ये दोनों इतनी विमिश्रित हो गईं कि इनके मिश्रित तत्त्वों के आधार पर प्रवर्तित होने वाले मतों, धर्मों, संप्रदायों को वैदिक-अवैदिक अथवा शुद्ध वैदिक और शुद्ध तांत्रिक आधारों पर दो वर्गों में बाँटना कठिन हो जाता है। वस्तुतः तंत्र भी केवल शैवों अथवा शाक्तों का नहीं है। कुछ लोगों की मान्यता है कि शाक्त मत और तंत्र अभिन्न हैं। एक अधिक मान्यमत यह है कि तांत्रिक धारा अति प्राचीन से प्रवाहित हो रही है जिसका प्रभाव दर्शन, देश, काल आदि के भेद से बौद्धादि धर्ममतों पर पड़ा।

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त उपर्युक्त सूचनाओं और विचारों के आधार पर नाथ संप्रदाय की तांत्रिकता का आभास मिल जाता है जिसकी पुष्टि नाथ संप्रदाय की रचनाओं से भी की जा सकती है। नाथ मार्ग में विभिन्न उपमत हैं। नाथ संप्रदाय की १२ शाखाओं का उल्लेख मिलता है। ऊपर के विवरण से नाथ संप्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ के महत्त्व का प्रकाशन होता है। उनका द्विविध व्यक्तित्व और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। सिद्धामृत योगिनी कौल मत के प्रचारक एवं व्यवस्थापक मत्स्येन्द्र के मत में वीराचार साधना की अधिकता है तथा उसमें 'शक्ति' अनिवार्य साधनोपकरण के रूप में स्वीकार की गई है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मत्स्येन्द्र द्वारा अवतारित कौल ज्ञान का विवेचन करते समय बताया है कि गोरक्ष संप्रदाय के योगमार्ग और कौलमार्ग के चरम लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, सिर्फ इतना ही विशेष है कि योगी पहले से ही अंतरंग उपासना करने लगता है, परन्तु तांत्रिक पहले बहिरंग उपासना करने के बाद क्रमशः अंतरंग (कुंडली) साधना की ओर जाता है। कौलमार्ग में भी यह विश्वास किया जाता है कि योगी और कौल का लक्ष्य एक ही है।[12] नाथों में अन्तर्गणित एक दूसरे सिद्ध जालंधरपाद का भी मत कापालिक था, ऐसा अनुमान किया जाता है। उनके कापालिक मत में तांत्रिक तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में थे। शाक्तों के वाममार्ग से उनकी समता अधिक उचित प्रतीत होती है। जालंधर पाद और उनके शिष्य कृष्णपाद का बौद्ध कापालिक संप्रदाय (जिसका इतिहास अभी प्रकाशित नहीं है), नाथ संप्रदाय में 'बामारग' के रूप में अन्तर्भुक्त हो गया।[13]

गोरक्षनाथ के मार्ग में प्राप्त विविध तांत्रिक तत्त्वों की विद्यमानता के संबंध में विविध विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। ब्रिग्स के अनुसार नाथों में शिवपत्नी शक्ति या गौरी की पूजा प्रचलित है, इसीलिए योगियों को कुछ लोग शाक्त मानते हैं। योनि-लिंग की पूजा उनमें प्रचलित है। तंत्रों में ये दोनों शक्ति एवं शिव के प्रतीक हैं। योगियों में शाक्तों के दक्षिण और वाम दोनों मार्गों का प्रवाह मिलता है। पहाड़ी प्रदेशों के योगी तांत्रिक क्रियाएँ करते हैं।[14] साधन की दृष्टि से योगियों ने आसन को भी महत्त्व दिया है। उनके मुद्रा, वेध और बंध में भी आसन के तत्त्व मिलते हैं। इनका संबंध प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों से भी जोड़ा जाता है। योगियों के विभिन्न आसनों से पूर्णतया भिन्न तांत्रिकों के कुछ आसन हैं, जिनमें मुण्डासन, शवासन, चितासन आदि की गणना की जा सकती है। संभवतः ये नाथयोगियों में स्वीकृत नहीं हैं। ब्रिग्स का मत है कि १२वीं ई० शताब्दी के गोरक्षरचित गोरक्षशतक के उपदेशों में योग और तंत्र का मिश्रण है।[15]

योगियों के हठयोग में आसन, मुद्रा, प्राणायाम, धौति, चक्र, नाड़ी, कुंडलिनी आदि से संबंधित अभ्यास गृहीत हैं। ये साधन अत्यधिक विस्तृत रूप में तांत्रिक ग्रंथों में सैर्वणित मिलते हैं। इस प्रकार गोरक्षनाथियों के साधनोपदेश में तांत्रिक तत्त्व प्रधान हैं। आसाम और बंगाल के नाथ-योगियों में शक्ति या शिवपत्नी की पूजा तांत्रिक विधान से होती है। म० म० डा० गोपीनाथ कविराज इस तथ्य को स्पष्टतया घोषित करते हुए कहते हैं कि अभिनवगुप्त शक्ति साधना के प्राण थे। वे एक प्रसिद्ध कौल भी थे। उनका तंत्रालोक वस्तुतः शैव और शक्ति दर्शन का विश्वकोश तुल्य ग्रंथ है। अभिनवगुप्त के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण नाम हैं—गोरक्ष, पुण्यानंद, नटनानंद, स्वतंत्रानंद और भास्कर राय। गोरक्षनाथ, जिन्हें महेश्वरानंद भी कहा जाता है, महार्थ मंजरी के लेखक थे।[16]

इसका प्रमाण हमें नाथ संप्रदाय के ग्रंथों में भी मिलता है। उक्त तांत्रिक साधना का प्रभाव नाथ संप्रदाय पर था, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। नाथ संप्रदाय के मान्य ग्रंथ 'गोरक्षसिद्धांत संग्रह' में अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए विभिन्न तांत्रिक ग्रंथों को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। नाथ मत योग साधना तथा योगी को सर्वश्रेष्ठ मानता है। इसकी

१०. गोरक्षनाथ, उपाध्याय, पृ० ७३–७४।

११. प्रिंसपुल्स आव तंत्र—आर्थरएवेलेन के विविध प्रकरणों को इस विषय में देखा जा सकता है। तथैव—हिन्दू साधना—श्री नलिनीकान्त ब्रह्म।

१२. नाथ संप्रदाय, द्विवेदी, पृ० ६९। १३. वही, पृ० ८२, ५२।

१४. गोरखनाथ ऐंड कानफटा योगीज, ब्रिग्स, पृ० १६२-१६३, १७१-१७२।

१५. वही, पृ० ३२७, २५७।

१६. वही, पृ० २७४; हिस्ट्री आव फिलासफी : ईस्टर्न एंड वेस्टर्न, वा० १, सं० डा० राधाकृष्णन्, कविराजजी का 'शैव-शाक्त स्कूल एंड शाक्त फिलासफी' शीर्षक लेख, पृ० ४०३-४०४।

पुष्टि के लिए उसने तंत्र महार्णव को उद्धृत कर बताया है कि योगी ब्रह्मा, विष्णु तथा देवदेव महेश है। वही पूर्ण मोक्ष है। वही सृष्टिकर्ता और हर्ता है।[१७] नाथ पद की महत्ता के निर्वचन और व्याख्या में 'गोरक्षसिद्धांत संग्रह' ने शक्ति संगमतंत्र की सहायता ली है।[१८] शाबर तंत्र ने नवनाथों की नामगणना की है।[१९] नाथों के अनुसार सभी शैव-शाक्त मार्ग तंत्रानुसारी हैं। तंत्रों के भी उपदेशक नाथ ही हैं। नाथों ने तंत्र की रचना की है। इसकी पुष्टि षोडश-नित्यातंत्र को उद्धृत कर की गई है। कहा गया है कि तंत्रों की कल्पना नवनाथों ने की है। इसी प्रकार षट्शांभव रहस्य को उद्धृत कर बताया गया है कि तांत्रिक अनुष्ठानों का भी फल योग ही है। अंतर यह है कि तांत्रिकों का अनुष्ठान बहिरंग होता है। इसके पश्चात् वे अवधूत पद को प्राप्त करने के लिए अंतरंग पूजा या सूक्ष्मा शक्ति कुंडली की पूजा करते हैं। इस प्रकार तांत्रिकों का भी तात्पर्य अवधूत पद बतलाया गया है।[२०] नाथ मत के अनुसार सभी लोग सांसारिकी प्रक्रिया को मानते हैं। नाथमत स्वयं पारमार्थिकी प्रक्रिया को मानता है। यह प्रक्रिया तंत्रानुमोदित है। पुराणों के अनुसार ही लोग ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की इस प्रक्रिया या क्रम को स्वीकार करते हैं; किन्तु तंत्रों के अनुसार शिव, भैरव, श्रीकंठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा के क्रम को स्वीकार किया जाता है। यही योग संप्रदाय की भी रीति है। यह पारमार्थिकी प्रक्रिया योग से ही आई है। सबका कारण योग है।[२१] गोरक्षसिद्धांत संग्रह के इन वचनों से यह तो प्रमाणित हो जाता है कि नाथ मत की तंत्र मत से संलग्नता असंदिग्ध है; किन्तु नाथ संप्रदाय अपने आदि गुरु, आदिप्रवर्तक और योगमार्ग की श्रेष्ठता को तंत्र मत एवं साधना पर स्थापित करता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि नाथगण एक मत से पाशुपत शैवों की परंपरा में थे और दूसरे मत से नाथ मत का पाशुपत शैवों और आगमिक शैवों दोनों से समानता थी। इसलिए नाथ मत को तंत्र और शैव मत का सम्मिश्रण भी कह सकते हैं। मूलतः नाथ लोग शैव थे। तंत्र के पिण्ड और ब्रह्माण्ड के एकत्व की अनुभूति का साधन तथा शक्तिपूजा नाथों में प्रचलित थी। उपर्युक्त सूचनाओं को यदि समन्वित किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि इस समय नाथों में शक्ति की अन्तरंग पूजा (योग में) प्रचलित है तथा साथ ही बहिरंग पूजा भी (यथा आसाम-बंगाल आदि में)। शारदातिलक नामक तंत्र ग्रंथ में मंत्र, यंत्र, चक्र, कुंडली और पाशुपत दर्शन का वर्णन पाया जाता है। मुक्ति का प्रथम तत्त्व 'प्रसाद' माना गया है। इसे नाथ और शैवाद्वैत मत में शक्तिपात कहा जाता है। तंत्रों में दिव्य साधक को कौल कहा जाता है। कौल के लिए लाभ-हानि, पाप-पुण्य समान हैं। विष से विषक्षय करने का उनका सिद्धांत है। इस मार्ग को वे लोग अति दुर्गम मानते हैं। इसी मार्ग का अवलंबन करके शिवत्व का लाभ करते हैं। यह कौल नीति नाथ नीति है; क्योंकि नाथ लोगों को कौल नाम से भी पुकारा जाता है।[२२] इस संपूर्ण विवरण से यही सिद्ध होता है कि नाथों का तंत्र से घनिष्ठ संबंध था। इतना ही नहीं शैवों, तांत्रिकों और नाथों का परस्पर संबंध सैद्धान्तिक ही नहीं; साधनात्मक भी था।

तांत्रिक सिद्धांत और साधना की विविध विशेषताओं का विचार किया जाय तो नाथों की संस्कृत रचनाओं में शक्तिवाद, गुरु-शिष्य-वाद, अधिकार भेद-वाद, पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद, चक्र-कुण्डलिनी-योग, नाड़ी साधना जैसी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं।

इन प्रवृत्तियों में शक्तिवाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और इसका विस्तार नाथ संप्रदाय की रचनाओं में मिलता है। परम शिव की सिसृक्षा शक्ति है। इसके उत्पन्न होते ही शिव और शक्ति दो तत्त्व हो जाते हैं। इसके बाद क्रमशः शक्ति तत्त्व का पाँच अवस्थाओं में विकास होता है—१. निजा (स्फुरित होने की पूर्ववर्तिनी-स्फुरित होने को उपक्रांत), २. परा (स्फुरणोन्मुख), ३. अपरा (स्पंदित होती है), ४. सूक्ष्मा अहंता (मैं-पन का पृथक्ता का भाव), ५. कुंडली (अपने पृथक्ता में पूर्ण सचेत)। इसी शक्ति की सहायता से शिव इस विश्वप्रपंच की उत्पत्ति, पालन और संहार में समर्थ होते हैं।[२३] विद्वानों ने नाथ मत की इस शक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए बताया है कि यह कुंडली वेदांतिक ब्रह्म की शक्ति माया से भिन्न है। यह चिच्छक्ति, चिच्छीला, चिद्रूपिणी, अनंत रूपा और अनंत शक्ति रूपा है। जगत् इसी शक्ति का परिणाम है और यही शक्ति जगत्-रूप में परिणत होती है। इसे वेदनशीला भी कहा गया है और इसके अन्य शक्तियों के समान पाँच गुण हैं—पूर्णता, प्रतिबिंबता, प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्मुखता।[२४] इस मत की शांकर अद्वैतवाद से भिन्नता है। जगत् का अमिथ्यात्व, शक्तिकल्पना, परम शिव की इच्छा शक्ति और उसका विकास, सगुण शिव आदि के कारण ही यह भिन्नता है। नाथ मत अद्वैतवादी न होकर द्वैताद्वैत विलक्षणवादी है; क्योंकि नाथ तत्त्व द्वैत और अद्वैत दोनों से परे है। जगत् का प्रपंच शक्ति के स्फोट के बाद शुरू होता है। इसलिए शक्ति जगत्कर्त्री है, शिव नहीं। इस संप्रदाय में ब्रह्म या शिव की शक्ति को चित्स्वभावा माना गया है और वेदांतियों में जड़ स्वभावा। इसीलिए नाथ दर्शन में जगत् चिच्छक्ति का विकास है। धर्मी शिव और धर्म शक्ति को केवल व्यवहारानुरोध से भिन्न मान लिया गया है। चित् ब्रह्म की शक्ति चिद्रूपा ही होनी चाहिए। शिव का स्वरूप निर्धारण अशक्य होने से अभिन्नाभिन्नरूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। नाथयोगी साधक का लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि। इस प्रकार की शक्ति की उपासना अंततः शिवोपासना ही है। व्यवहारानुरोध से ही शक्ति की उपासना कही जाती है। शिव सर्वथा निरपेक्ष सत्ता है। वे स्वयं निष्कारण और समस्त चराचर के एक मात्र कारण हैं। यह कारण ही उनकी शक्ति है। इस शक्ति के साथ वे नित्य युक्त रहते हैं। शिव-

१७. गो० सि० सं०, पृ० ९।
१८. वही, पृ० ११।
१९. वही, पृ० १८।
२०. वही, पृ० १९-२०।
२१. वही, पृ० ५८–५९।
२२. नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली, डा० कल्याणी मल्लिक, पृ० १६४–१६५।
२३. सि० मि० सं०, १।१३; नाथ संप्रदाय, पृ० १०३।
२४. नाथ संप्रदाय, पृ० १०४।

शक्ति संबंध के विषय में नाथगण कहते हैं—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥[२५]

एक ही अद्वितीय परमतत्त्व दृष्टिभेद से शिव या शक्ति आख्या को प्राप्त करता है। शिव शक्तिरूप होकर सर्वाकारों में स्फुरित होते हैं। दोनों ही अन्योन्याश्रयभूत हैं। धर्म के बिना धर्मी अकल्पनीय है। इस प्रकार दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं—

प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ।
तयोः सयोगकर्ता यः स भवेद्योगयोगराट् ॥[२६]

इस प्रकार शक्ति के स्फुरण या प्रसार में स्तरानुसार विश्व का जब आविर्भाव होता है, तब शक्ति परिणाम लाभ करती है या जगत् आभासित होता है। शक्ति की संकोचन क्रिया के अवसानकाल तक जगत् क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म-भेद से आभासित होता है। अतएव जगत् का आभास ही शक्तिभाव और निराभास ही शिवभाव है। शक्ति का तिरोभाव ही जगत् का लय है; फिर भी शिव और शक्ति सूर्य और सूर्यकिरण के समान अभिन्न हैं। अतएव शक्ति की साधना से शिव की उपलब्धि होती है। शक्ति की उपासना साधन है और शिवत्वलाभ उसका फल। विमर्श ही शिव की शक्ति है।[२७] डा० कल्याणी मल्लिक ने विस्तार से नाथदर्शन और त्रिक-दर्शन की तुलना करते हुए बताया है कि त्रिकमत में शिव लीला या औत्सुक्य के कारण सृष्टि करते हैं। इसीलिए इस मत में इच्छाशक्ति की कल्पना की गई है। नाथमत में भी शिव और शक्ति अभिन्न हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संपूर्ण सृष्टि के मूल में जिस प्रकार चित्स्वरूप परमेश्वर विद्यमान हैं, उसी प्रकार उनके साथ चित्-शक्ति भी सदैव युक्त रहती है। इस प्रकार शक्ति युक्त शिव ही सृष्टि के आदि कारण हैं। चित्शक्ति ही उनकी कला है। इसीलिए वे सकल परमेश्वर कहे जाते हैं। यह शक्ति इच्छा-रूपिणी है। महाप्रलय के उपरांत पुनर्विकास की इच्छा ही शक्ति के नाम से ख्यात है।[२८] आचार्य अक्षयकुमार बंद्योपाध्याय मानते हैं कि गोरक्षनाथ ने शंकर के मायावाद के स्थान पर शक्तिवाद का प्रचार किया।[२९] यह शक्तिवाद योगी संप्रदायों के साथ ही तांत्रिक संप्रदायों द्वारा भी प्रचारित है। इसी को दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि शक्ति जगत् की दिव्य जननी है और शिव दिव्य पिता हैं।[३०]

म० म० डा० गोपीनाथजी कविराज ने नाथ मत के समस्त दार्शनिक वैशिष्ट्य को सार रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि गोरक्ष संप्रदाय में स्वीकृत योगसाधना का चरम आदर्श पतंजलि के पूर्व या परवर्ती कुछ बौद्ध मतों से भिन्न है। वह शांकर वेदान्त की धारणाओं से मूलतः भिन्न है। यह मध्यकालीन भारत के अद्वैतवादी आगम मतों के अनुरूप ही है। इस आदर्श को एक शब्द में सामरस्य कहा जा सकता है जिसका तात्पर्य है—समस्त भेदात्मक स्थितियों से ऊपर उठकर समरस हो जाना। इस आदर्श का अन्तर्निहित सिद्धान्त है, पुरुष और प्रकृति अथवा शिव और शक्ति के बीच एकत्व प्रतिपादन। इस स्थिति की चेतना परम शिव की परम एकता के रूप में मान्य हो सकती है। इस स्थिति में शिव और शक्ति दोनों समरस होकर एक अभिन्न एवं अविभाज्य तत्त्व बन जाते हैं।[३१]

इस संपूर्ण विवेचन का निष्कर्ष यह है कि नाथ संप्रदाय साधना और दर्शन दोनों ही दृष्टियों से तंत्रानुकूल है। इस लेख में शक्तिवाद के केवल दार्शनिक पक्ष से संबंधित विविध विचारों को संकलित कर निष्कर्ष निकाला गया है। शक्तिवाद के साधनपक्ष का विवरण प्रस्तुत कर इसे पुष्ट किया जा सकता है। कुंडलिनी साधन नाथ संप्रदाय के संस्कृत ग्रंथों में विवृत है। इसी प्रकार अन्य सिद्धांतों पर भी विचार कर नाथ संप्रदाय में प्राप्त तांत्रिक तत्त्वों को स्पष्ट किया जा सकता है जिसके लिए किसी अन्य अवसर की प्रतीक्षा है।

●

ईच्छष्टगणेशयन्त्रम्

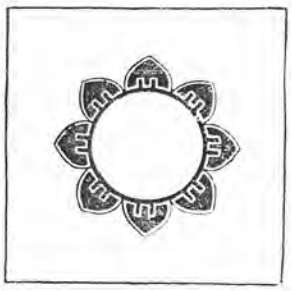

२५. सिद्ध सिद्धांत पद्धति ऐंड अदरवर्क्स आव नाथ योगीज, डा० मल्लिक, भूमिका, पृ० १९; ना० सं० इ. द. सा. प्र., पृ० २२८; सिद्ध सिद्धांत संग्रह, पृ० २६-२७, ४-३७; सिद्धसिद्धांतपद्धति, ४.२६।

२६. ना. स. इ. द. सा. प्र., पृ० २२८-२२९; सिद्धसिद्धांतसंग्रह; पृ० ३६-३७, ६.९।

२७. ना. सं. इ. द. सा. प्र., पृ० २३०-२३१।

२८. वही, पृ० १९७।

२९. गोरख दर्शन, पृ० २८५।

३०. वही, पृ० २८९-२९०।

३१. गोरख दर्शन, प्रस्तावना, कविराज, पृ० १२।

बौद्धों, सिद्धों और नाथों की तान्त्रिक साधना का सन्त साहित्य पर प्रभाव

• श्री अर्जुन पाण्डेय •

सन्तों पर तन्त्र-मंत्र का बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ा है। उसकी अधिकांश विशेषताएँ सन्त विचार धारा में किसी न किसी रूप में अवतरित हुई हैं। तन्त्र मत की सबसे प्रमुख विशेषताएँ गुह्यता, प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, बाह्याचार विरोध, साम्यवाद-प्रवृत्ति, निवृत्ति मार्ग का समन्वय, गुरुवाद, ज्ञानवाद, गृहस्थ वैराग्य, मिथ्यातर्क-विरोध, रहस्य-भावना, मन्त्र-चैतन्य, कुण्डलिनी-साधना, नादबिन्दु साधना, द्वैताद्वैत विलक्षणवाद, मायामाधुर्यवाद, भावात्मक पूजा आदि हैं। सन्तों ने इन सबको किसी न किसी रूप में अपनाने की चेष्टा की है।

बौद्ध तान्त्रिक साधना का संत साहित्य पर प्रभाव

बौद्ध तांत्रिकों से संतों का सीधा सम्बन्ध था। उनकी तत्व की अनुभवगम्यता, धर्मग्रन्थों की अमान्यता, सहजावस्था की धारणा, शून्यवाद, अर्थाभिव्यक्ति, विलक्षणता, नादबिन्दु साधना, कल्पनावाद, खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति साधना में काम या राग का महत्व, कायाशोधन, गुरुवाद एवं योग साधना आदि बातों ने सन्तों को पूरी-पूरी प्रेरणा प्रदान की थी।

वेदान्त दर्शन की भाँति बौद्ध तांत्रिक लोग तत्व की अनुभवगम्यता में ही विशेष विश्वास करते थे। सन्तों ने इसी भाषा से प्रेरित होकर तर्क का विरोध किया और अनुभव का महत्व स्वीकार किया। तान्त्रिकों का शून्यवाद का ऋण सन्तों पर भी है। बौद्ध तांत्रिकों का कल्पनावाद जो विज्ञानवाद का ही रूपान्तर है, उसको सन्तों ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। इसीलिए सुन्दरदास ने कहा है—मन के भ्रम से ही यह संसार उत्पन्न होता है और उस भ्रम के निराकृत हो जाने पर उसका लय हो जाता है।

मन ही के भ्रमते जगत यह देखियत,
मन ही के भ्रम गये जगत यह बिलात है। (संत सुन्दरदास)

बौद्ध तांत्रिकों की खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति ने सन्तों को प्रतिक्रियात्मक प्रेरणा प्रदान की थी। कायाशोधन बौद्ध तांत्रिकों की साधना पक्ष का प्राणभूत सिद्धान्त है। कायाशोधन गुरु कृपा के बिना सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिए सभी सन्तों ने एक स्वर से कहा है—'अविगत ज्योति के दर्शन तभी होते हैं, जब साधक गुरु के माध्यम से कायाशोधन में सफल होता है।'

१. काया परचै मूल जब पावै।
अविगत ज्योति दृष्टि में आवै॥ (सन्त दरिया)

२. सद्गुरु मिलै तो पाइए भुगति मुकति भंडार। (सन्त दादू)

अर्थात् सद्गुरु के मिलने से ही भुक्ति और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

बौद्ध तन्त्रों में काम या राग के सदुपयोग पर विशेष बल दिया गया है। उनकी धारणा है कि काम को यदि सत्पथ पर प्रेरित कर दिया जाय तो वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है। सन्त मलूक के अनुसार—

काम मिलावै राम से, जो राखै यह जीत।
दास मलूका यों कहै, ज्यों आवै परतीत॥

बौद्ध तांत्रिकों ने साधना क्षेत्र में नाद बिन्दु और योग साधनाओं को महत्व दिया है। सन्तों के साधना पक्ष के भी ये प्रतिष्ठित तत्व थे। इस प्रकार सन्तों की अभिव्यक्ति में प्राण प्रदान करने का श्रेय बौद्ध तांत्रिकों को भी है। अर्थात् अभिव्यक्ति शैली की दृष्टि से संत गण बौद्ध तांत्रिकों के भी ऋणी हैं।

सिद्धों और नाथों की तान्त्रिक साधना का सन्त साहित्य पर प्रभाव

जिन सिद्धान्तों को लेकर भगवान बुद्ध ने बौद्ध धर्म को जन्म दिया था, कालक्रम से उनमें विकार उत्पन्न हो गये। बौद्ध जीवन का आदर्श नष्ट हो चला और सिद्धों ने भी ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के पाखण्डों को समूल नष्ट कर देने का बीड़ा उठाया। सन्त परम्परा में योग सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली का बाहुल्य है। अर्थात् सिद्धों की इस प्रवृत्ति का बड़ा उग्र प्रभाव सन्तों पर पड़ा। इसीलिए सन्तों ने हठयोगी साधना को अपनाया ही साथ ही तत्कालीन साधनाओं और उपासना पद्धतियों के मिथ्याचारों व आडम्बरों का खण्डन बड़ी उग्रता से किया है। सन्तों को सिद्धों की तरह नाथों से भी अर्थात् नाथ पंथ की तांत्रिक साधना से पर्याप्त प्रेरणा मिली थी। मत्स्येन्द्रनाथी दर्शन, शैवशाक्त अद्वैती दर्शन से मिलता-जुलता है। उन्हीं के सदृश ये लोग भी शिव में शक्ति को समवेत मानते हैं। शिव में जगत के पूर्व अस्तित्व की कल्पना करके सत्कार्यवाद के प्रति आस्था प्रगट करते हैं। सन्तों ने नाथों के भावनावाद, कल्पनावाद, नाद बिन्दु साधना की उन्मनी अवस्था को स्वीकार किया है। अर्थात् उन्मनी अवस्था ही सहजावस्था होती है।

परमात्मा ही सहजरूप, सर्वव्यापक और तेज रूपी है। मत्स्येन्द्रनाथियों की मन साधना को सन्तों ने अपना प्रमुख सिद्धान्त अभिव्यंजित किया है। संत दरिया तथा दादू कहते हैं—मन कालुष्य को जन्म देने वाला है और वही कालुष्य का प्रक्षालन कर सकता है। अतः उसी की साधना करनी चाहिए।

'मन ही सो मल उपजै, मन ही सो मल धोई। (संतदादू)

सन्तों ने निरंजन योगियों का वर्णन नाथ परम्परा के अनुसार किया है। सन्तों ने नाथ तान्त्रिकों के जिस प्रकार भावात्मक पूजा और साधना को महत्व दिया है उसी प्रकार का वर्णन अर्थात् साधना क्षेत्र में सभी प्रकार के साधकों और साधनाओं का मानसीकरण किया है।

नाथ पंथी तांत्रिक ब्रह्म को द्वैताद्वैत विलक्षण मानते थे, उन्हीं के अनुकरण पर सन्तों ने भी बहुत से स्थलों पर ब्रह्म को द्वैताद्वैत विलक्षण कहा है। सन्त दरिया ने लिखा है—

परमात्मा सगुण-निर्गुण दोनों से विलक्षण निर्मल सत् स्वरूप है।

'शब्दवाद' का भी पूरा-पूरा प्रभाव सन्तों पर परिलक्षित होता है। सन्तों ने नाथ तांत्रिकों की तरह मन को शून्य में लीन करने को ही मुक्ति माना है। सन्त दादू ने स्वीकार किया है कि चेतन जीव शून्य से उत्पन्न होता है और अन्त में मुक्ति प्राप्त करने पर उसी में लीन हो जाता है—

'शून्य ही मारग आइया, शून्य ही मारग जाय'। —(दादू)।

गोरखनाथी साधना के तीनों तत्व प्राण साधना, इन्द्रिय साधना और मन साधना सन्तों के प्रमुख साध्य थे। प्राण साधना के अन्तर्गत कुण्डलिनी शोधन, नाड़ीशोधन, नादानुसंधान, अष्टांग योग, हठयोग, वायु-साधना, अजपाजाप आदि समाविष्ट हैं। सन्तों ने इन सभी को अपनी साधना में समाविष्ट किया। इन्द्रिय जय के सिद्धान्त को सन्तों ने अपना प्रमुख प्रतिपाद्य बनाया था। नाथ पंथियों की मन-साधना का सिद्धान्त सन्तों को बहुत प्रिय था। उन्होंने नाथों के ढंग पर सर्वत्र मन के महत्व और परिष्करण पर बल दिया है—

मन ही नेम आचार करावै।
मन ही मन के पूजा चढ़ावै॥ —(सन्त दरिया)।

कहीं-कहीं सन्तों ने नाथ तांत्रिकों के तीनों साधनाओं के प्रति एक साथ मान्यता प्रकट की है—

तन मन भावना पंच गहि, निरंजन लौ जाय।
जहाँ आतम तहाँ परमात्मा दादू सहज समाय॥ (सन्त दादू)

सन्तों ने नाथ तान्त्रिकों की यौगिक शब्दावलियों को भी प्रतीक एवं उलटबासियों के माध्यम से अपनाया है। उन्होंने माया वर्णन में भी नाथों का प्रभाव स्वीकार किया है। उन्होंने उसे '**सबल**' और '**कनककामिनी**' कहकर उसकी निन्दा की है—

माया की झल जग गह्या, कनक कामिनी लागि।
कहुधौं किहि विधि राखिए, रुई लपटी आगि॥
(कबीरदास)

इस प्रकार बौद्धों, सिद्धों एवं नाथों की तांत्रिक साधना का प्रभाव सन्तों पर पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है।

❀

सनातन धर्म संरक्षक

पूज्य गुरुदेव स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

की

७३ वीं शुभ वर्षगाँठ पर

कोटिशः प्रणाम

—देवकीनन्दन तोदी

१७८, हरिसन रोड, कलकत्ता

जैन-तन्त्र : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण

• डा० रुद्रदेव त्रिपाठी •

१. मानक परम्परा

भारतीय धर्मों में 'वैदिक, जैन एवं बौद्ध' धर्म की तीन धाराएँ सुप्रसिद्ध हैं और ये तीनों अपने-अपने वाङ्मय के रूप में निरन्तर बहती हुई समस्त जन-जीवन को आप्यायित कर रही हैं। विश्व के विशिष्ट धर्मों में अन्य प्रधान धर्मों के समान ही जैन धर्म ने भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया है तथा चिन्तन एवं मनन की सभी दिशाओं में जैन-साहित्य ने पर्याप्त प्रसार पा लिया है।

जो साहित्य गतिशील होता है उसमें प्राणवत्ता स्पन्दन करती है, आदान-प्रदान के द्वार खुले रहते हैं तथा एकता में अनेकता का विकास होता रहता है। जैन-वाङ्मय में भी इन्हीं गुणों के कारण व्यापक तत्वों का समावेश परिलक्षित होता है। द्वादशांग एवं उपांगों से अनुप्राणित आगमों में वे सभी तत्त्व सहज उपलब्ध हो जाते हैं जिनका परिज्ञान इहलोक तथा परलोक दोनों के लिये उपादेय होकर चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होता है।

अनेकविध धार्मिक एवं उपासनामूलक शास्त्रों की सुदीर्घ शृंखला **'जैनतन्त्र'** साहित्य भी विपुल परिणाम में प्राप्त होता है जिसमें लघु से लघु और महान् से महान् प्रयोग-विधानों की शास्त्रीय परिपाटी का विधिवत् उल्लेख हुआ है। साथ ही ऐसे भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनमें साधकों ने अपनी साधना के बल पर बड़े-से-बड़े कार्यों को सिद्ध करके एक **'मानक-परम्परा'** स्थापित की।

२. सम्प्रदायगत शाखा-प्रशाखाएँ

प्रमुख रूप से १. 'दिगम्बर, २. श्वेताम्बर एवं ३. स्थानकवासी' के रूप में इस धर्म की तीन प्रसिद्ध शाखाएँ हैं जिनमें प्रथम दो मन्दिर एवं मूर्ति—को मानते हुए आगमों की कुछ न्यूनाधिक मान्यता के कारण पार्थक्य रखती हैं जबकि तीसरी शाखा मन्दिर-मूर्ति को नहीं मानती है।

एक सुदीर्घ काल से चली आ रही आचार्य-परम्परा के द्वारा समय-समय पर समाज को संघठित करने के लिए किये जाने वाले प्रयासों के फल-स्वरूप 'गच्छ' बने। यतियों और भट्टारकों ने अपने दल तैयार किये और श्रावकों में भी ऐसे अच्छे विधिज्ञों का समुदाय सन्नद्ध हुआ जिसके कारण छोटी-बड़ी अनेक प्रशाखाएँ कर्मरत हुईं एवं अन्यान्य स्थापनाओं के साथ ही ग्रन्थ-निर्माण-प्रक्रिया में भी पीछे नहीं रहीं।

३. 'तन्त्र' : शब्दार्थ, परिभाषा और आयाम

तन्त्र शब्द के अर्थ बहुत विस्तृत हैं, उनमें से सिद्धान्त, शासन-प्रबन्ध, व्यवहार, नियम, वेद की एक शाखा, शिव-शक्ति आदि की पूजा और अभिचार आदि का विधान करने वाला शास्त्र, आगम, कर्मकाण्ड-पद्धति और अनेक उद्देश्यों का पूरक उपाय अथवा युक्ति प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं।[1] व्युत्पत्ति की दृष्टि से—

१. तननं तन्त्रम्। २. तन्त्र्यतेऽनेनेति तन्त्रम्। ३. तन्त्रणं तन्त्रम्। ४. तन्त्र्यते ऽनेनेति तन्त्रम्। ५. तनोति त्रायते चेति तन्त्रम्।

इन व्युत्पत्तियों में तनु—विस्तारे, तत्रि धारणे और तन्—पूर्वक त्रैङ् पालने धातुओं का प्रयोग हुआ है। वैसे यह शब्द 'तन्' और 'त्र' इन दो धातुओं से बना है, अतः 'विस्तारपूर्वक तत्त्व को अपने अधीन करना' यह अर्थ व्याकरण की दृष्टि से स्पष्ट होता है, जबकि 'तत्' पद से प्रकृति और परमात्मा तथा 'त्र' से स्वाधीन बनाने के भाव को ध्यान में रखकर 'तन्त्र' का अर्थ—देवताओं के पूजा आदि उपकरणों से प्रकृति और परमेश्वर को अपने अनुकूल बनाना होता है। परमेश्वर की उपासना के लिए जो उपयोगी साधन हैं वे भी 'तन्त्र' ही कहलाते हैं। इन्हीं सब अर्थों को ध्यान में रखकर शास्त्रों में तन्त्र की परिभाषा दी गई है—

सर्वेऽर्था येन तन्यन्ते त्रायन्ते च भयाज्जनाः।
इति तन्त्रस्य तन्त्रत्वं तन्त्रज्ञाः परिचक्षते॥

अर्थात्—जिसके द्वारा सभी मन्त्रार्थों-अनुष्ठानों का विस्तार-पूर्वक विचार ज्ञात हो तथा जिसके अनुसार कर्म करने पर लोगों की भय से रक्षा हो वही 'तन्त्र' है, तन्त्र शास्त्र के मर्मज्ञों का यही कथन है : 'कामिक आगम' के तन्त्रान्तर पटल में भी—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमात्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

कहा गया है जिसका सारांश भी तत्त्वपूर्ण विपुलार्थों का विकास एवं संरक्षण ही 'तन्त्र' की परिभाषा व्यक्त करता है।

प्रमुख रूप से तन्त्र के—१. ज्ञान और २. विज्ञान ऐसे दो भेद हैं तथा इनके भी प्रत्येक के दो-दो प्रभेद होते हैं। यथा ज्ञान के— १. उपासना-रूप बहिर्याग तथा २—अन्तर्याग। विज्ञान के १—मनोविज्ञान रूप मन्त्र-शास्त्र और २—कर्मविज्ञान रूप और चिकित्सा-शास्त्र। बहिर्याग आचार शास्त्र का अनुगमन करता है तो अन्तर्याग योगशास्त्र का। मन्त्र शास्त्र

---

१. तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये च सिद्धान्ते चौषधोत्तमे।
प्रधाने तन्तुदभये च शास्त्रभेदे परिच्छदे॥
श्रुतिशास्त्रान्तरे हेलाबुभयार्थ-प्रयोजने।
इति कर्तव्यतायां च॥ —मेदिनी कोश।

अध्यात्म शास्त्र का पोषक है तो चिकित्साशास्त्र जीवनशास्त्र का। इस प्रकार तन्त्र में उभयलोकसाध्य बातों का संग्रह होता है।

साधारण रूप से तन्त्र की परिधि में—'१. मन्त्र, २. यन्त्र, ३. तन्त्र (क्रिया), ४. योग और ५. स्तोत्र' पाँच अंग ग्राह्य हैं। अन्य प्रकार से १. गीता, २. सहस्रनाम, ३. स्तव, ४. कवच और ५. हृदय को पंचांग कहा है।

वैसे १. श्रद्धा, २. धैर्य, ३. गुरु भक्ति और ४. इष्ट भक्ति के साथ स्थान, मन, द्रव्य तथा क्रिया शुद्धि पूर्वक आसन, आचार, प्राणक्रिया, अर्चना, मुद्रा, जप, होम, तर्पण, मार्जन, ब्राह्मण-भोजन, स्तुतिपाठ, ध्यान आदि भी तन्त्र के ही आयाम में आते हैं तथा तन्त्र के नाम से व्यवहृत विभिन्न प्रक्रियाएँ मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चारण, वशीकरण, आकर्षण, यक्षिणी आदि साधन, रसायन कर्म, इन्द्रजाल, जयवाद, वाजीकरण, भूतग्रहादि वारण, भय निवारण, विष प्रतीकार, अभिषेक, कंक्षण, कवच, पट्ट, यन्त्र, रत्न, औषधि, फल, कर्पदिका, शंख, रुद्राक्ष, श्वेतांकुर, दन्त, नख, रोम, चर्म, धातु, दिव्य वृक्ष बीज आदि धारणीय एवं साधनीय वस्तुएँ, लेपन, अंजन पिच्छक, कीलारोपण, पताका आदि से सम्बद्ध सभी कार्य कलाप तंत्र के ही अंग माने गये हैं। ज्योतिष, शकुन और स्वरोदय का उपयोग भी तन्त्र में आवश्यक होता है। अतः तन्त्र का आयाम बहुत ही विस्तृत है और इन सभी का जैन तन्त्रकारों ने अपनी सीमा में रहते हुए सर्वत्र समादर किया है।

४. जैन तन्त्र का उद्गम स्रोत एवं प्रवाह—

जैन सम्प्रदाय में भगवद् भाषित एवं गणधरों द्वारा ग्रथित द्वादशांगों में बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' के रूप में है। इसमें पाँच विभाग हैं—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वानुयोग, ४. पूर्वगत तथा ५. चूर्णिका। इनमें 'पूर्वगत' विभाग में चौदह पूर्व वर्णित हैं जिनमें दसवाँ पूर्व 'विद्यानुप्रवाद' है। यह 'विद्यानुप्रवाद' अत्यन्त विशाल है और इसमें मुख्यतः साधना, सिद्धि और साधनों का विस्तार से वर्णन किया गया है किन्तु जैन-परम्परा की मान्यता है कि इन पूर्वों का ज्ञान प्रायः लुप्त हो गया है।

इसके अतिरिक्त द्वादशांगी के दसवें अंग-'प्रश्नव्याकरण' में मन्त्र-तन्त्रात्मक विषयों का वर्णन था, किन्तु वह भी आज उस रूप में उपलब्ध नहीं है। आज जो प्रश्न व्याकरण मिलता है उसमें आस्रव और संवर का वर्णन है, परन्तु नन्दिसूत्र में वर्णित प्रश्न व्याकरण के विषयों में 'विद्यातिशय' का जो निर्देश है, वह आज अनुपलब्ध है।

संघदासगणी रचित 'वसुदेवहिण्डी' (५वीं शती) के चौथे लम्भक में भगवान् ऋषभदेव के चरित्र-वर्णन के अन्तर्गत एक कथा आती है। इस कथा से तन्त्र-विद्या का प्रवर्तन ऋषभदेव के समय से ही माना जा सकता है। ऋषभदेव आद्य तीर्थङ्कर हैं।

एक अन्य मान्यता के अनुसार तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ ने जैन तन्त्र और उसकी विभिन्न साधनाओं को जन्म दिया है। पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे तथा योग एवं अन्य सिद्धियों के महान् धनी थे। इस समय जैन तन्त्रों में जो साहित्य मन्त्रादि का प्राप्त होता है, उसमें भी सर्वाधिक श्री पार्श्वनाथ से सम्बद्ध हैं। धरणेन्द्र यक्ष और देवी पद्मावती की उपासना में भी पार्श्वनाथ का ही महत्त्व है।

इस प्रकार मूल-तीर्थंकर एवं उनके द्वारा भाषित आगमों से जैन तन्त्र का उद्गम हुआ और उसका प्रवाह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आज अत्यन्त विशाल रूप को प्राप्त हो गया है। दिगम्बर सम्प्रदाय का दक्षिण में पर्याप्त प्रचार रहा, फलतः वहाँ एक परम्परा जैन-ब्राह्मणों की भी विकसित हुई और उन्होंने भी अपने संस्कारों के अनुसार जैनतन्त्र-साहित्य की अभिवृद्धि में सहयोग किया। उत्तर काल में ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने अनेक प्रौढ़ तन्त्र ग्रन्थों की रचना की। १४वीं शती के आचार्य प्रभाचन्द्र का 'प्रभावक-चरित्र' इसी कोटि का ग्रन्थ है जिसमें अनेक महाप्रभावी तान्त्रिक जैनाचार्यों की मन्त्र-निष्णातता का एवं प्रभावापन्न-कर्मों का विस्तार से वर्णन हुआ है।[1]

यह प्रवाह विभिन्न धाराओं में किस प्रकार परिणत होता रहा और आज उसकी क्या स्थिति है? किन-किन रूपों में है? इसका संक्षिप्त लेखा-जोखा हम आगे प्रस्तुत कर रहे हैं।

५. जैन धर्म में मन्त्र और उनकी उपासना—

'मन की स्थिरता तथा आन्तरिक शक्ति का विकास प्राप्त करने के लिये मन्त्र एक सबल साधन है' इस दृष्टि से जैन धर्म में अति प्राचीन काल से साधना, आराधना-उपासना में मन्त्र को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। ऐसे मन्त्रों में 'नमस्कार-मन्त्र, सर्वप्राचीन है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—

अणाइकालो अणाइजीवो अणाइ-जिणधम्मो।
तइआवि ते पढंता इसुच्चिअ जिण-नमुक्कारो॥

अर्थात् 'काल अनादि है, जीव अनादि है और जैन धर्म भी अनादि है'। जब से उसका प्रवर्तन हुआ है तभी से यह जिन-नमस्कार अर्थात् 'नमस्कार-मन्त्र' भव्य जीव पढ़ रहे हैं।' इस प्रकार पंच परमेष्ठी-मन्त्रापर नामक 'नमस्कार-मन्त्र' इस धर्म का मूल मन्त्र है तथा इसी से 'ॐ', 'ह्रीं' तथा 'अर्हं' बीज मन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। यथा—

पणव हरियारिहइअ मंतह बीआणि सप्पहावाणि।
भव्वेसि तेसि मूलो इक्को नवकार-वरमंतो॥

इस महामन्त्र से ॐकार, ह्रींकार और अर्हं बीजों की उत्पत्ति का प्रकार भी वैदिक सम्प्रदाय के अनुसार ही है। यथा—

अरिहंता असरीरा आयरिय उवज्झाय मुणिणो।
पंचक्खर-निप्फन्नो, ॐकारो पंचपरमिट्ठि॥

इसके अनुसार प्रथमार्धगाथा में उक्त पाँचों शब्दों के पाँच अक्षरों के योग से—अ+अ=आ, आ+आ=आ, आ+उ=ओ तथा ओ+म्=ओम्=ॐ—प्रणव की निष्पत्ति हुई है। 'मायाबीजकल्प' में ह्रींकार के बारे में कहा गया है कि—

---

१. पावयणी धम्मकही वाई नेमित्तिओ तवस्सी अ।
विज्जासिद्धो य कवि अट्ठ पभावणा भणिआ॥
इस गाथा में विद्यासिद्ध और मन्त्रसिद्ध आदि पद इसी के सूचक हैं।

चतुर्विंशतितीर्थेशैर्जैनशक्त्या विभूषितः ।
पञ्चपरमेष्ठिमयश्चैष सिद्धचक्रमयो ह्यम् ॥
त्रयीमयो गुणामयः सर्वतीर्थमयो ह्ययम् ।
पञ्चभूतात्मको ह्येष लोकपालैरधिष्ठितः ॥
चन्द्रसूर्यादिग्रहयुग् दशदिक्पालपालितः ।
गृहे तु पूज्यते यस्य तस्य स्युः सर्वसिद्धयः (२६ से २८)

इस दृष्टि से चतुर्विंशति जिन, जैनशक्ति और पंच परमेष्ठिमय होने के साथ ही ह्रींकार को अन्य अनेक शक्तियों से सम्पन्न बताया है 'ऋषिमण्डल स्तव यन्त्रालेखन' ह्रींकार में क्रमशः पाँच परमेष्ठियों की स्थिति इस प्रकार व्यक्त करता है ——

नादोऽर्हन्तः कृत्वा सिद्धाः सान्तः सूरिः स्वरोऽपरे ।
बिन्दुः साधुरतः पंचपरमेष्ठिमयस्त्वसौ ॥

अर्थात् नाद- अर्हन्त, कला-सिद्ध, ह्-आचार्य, ई-उपाध्याय और बिन्दु-साधुरूप होने से ही बीज पंचपरमेष्ठिमय है । एक अन्य पद्धति से वही इसकी सिद्धि ऐसे दिखाई है——

अर्हन्तो वृत्तकला; त्रिकोण सिद्धस्तु शीर्षकं सूरिः ॥
चन्द्रकलोपाध्यायो, दीर्घकला साधुरिह पंच ॥

इसी प्रकार यह सर्वधर्मबीज रूप ह्रींकार पार्श्वनाथ के स्वरूप में भी मान्य है । 'मन्त्रराजरहस्य' में कहा गया है कि——

वर्णान्तः पार्श्वजिनः कलाफणा बिन्दुरत्न नागमहः ।
नागो र ई तु पद्मा तत्रार्हन् सूरिमेरुमयः ॥

अर्थात् ह्-पार्श्वजिन, कला-नाग वा फण, बिन्दु और नाद-नाग-मणि, र्-नागराज धरणेन्द्र तथा ई-पद्मावती देवी है । तथा 'मन्त्रराजरह य'में——

माया-बीजं लक्ष्यं परमेष्ठि-जिनालि-रत्नरूपं यः ।
ध्यायत्यन्तर्वीरं हृदि स श्रीगौतमः सुधर्माऽथ ॥

इसी तरह ह्रीं बीज को परम महत्त्व देते हुए इसके सात अंश माने गये हैं——

रेफः सान्तः शिरश्चन्द्र कलाभ्रं नाद ई-स्वरः ॥
(ऋषिमण्डलस्तवयन्त्रालेखन)

अर्थात् र्,ह्,इन दोनों की सीधी शिरोरेखा, चन्द्रकला, बिन्दु, नाद और ई स्वरे । इसमें वैदिक मायाबीज के अनुसार ह्र् का क्रम बदला हुआ है, जिसे हम आम्नाय-भेद तथा कर्मभेद का कारण कह सकते हैं । अन्यत्र ह्रीं के विविध रंगों का भी वर्णन है ।

'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की स्वोपज्ञ बृहद् वृत्ति में श्रीहेमचन्द्राचार्य ने 'अर्हं' बीज को परमेष्ठि का वाचक मानते हुए कहा है कि ——

अर्हमित्यक्षरं ध्येयं, वाचकं परमेष्ठिनः ।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं, सर्वतः प्रणिदध्महे ॥

यह बीज परम्परा जैनतन्त्र-साधना का अंग बन कर आगे नाना रूपों में विकसित हुई । प्रत्येक अक्षर की स्वतन्त्र मन्त्रमयता का विशद वर्णन 'मन्त्र-व्याकरण' (आर्षविद्यानुशासनगत) में प्राप्त होता है । कूटाक्षररूप बीजमन्त्र भी अपने प्रसार में पीछे नहीं हैं । दो-दो, चार-चार वर्णों के मिश्रण से निर्मित बीज-मन्त्र तथा कमलबरयूं, से क्षमलवरयूं, तक के कूट बीज भी पर्याप्त हैं । पंचतत्त्व बीज 'क्षिप ऊँ स्वाहा' जैसे नानाक्षरों के प्रथमाक्षरों से निर्मित बीज मन्त्रों की भी न्यूनता नहीं है ।

मन्त्रों का विस्तार बीजमन्त्रों के साथ नामाक्षर, साध्यकार्यसूचक विशिष्ट कर्म-बीज, नमोऽन्त, स्वाहान्त, कुरुकुर्वन्त, साधय साधय-पदान्त प्रयोगों से सम्बद्ध होने के कारण तथा प्राकृत और संस्कृत-भाषा के साथ ही लोकभाषामिश्र होने से अत्यन्त व्यापक रूप से हुआ है । वैदिक मन्त्रों के समान ही यहाँ एकाक्षर से सहस्राक्षर-पर्यन्त मन्त्र हैं तथा उनमें कतिपय स्तोत्रों की गाथाओं ने भी मन्त्रमयता प्राप्त की है ।

स्त्रीवाचक मन्त्र 'विद्या' कहे जाते हैं और पुरुषवाचक मन्त्र 'मन्त्र' कहे जाते हैं । वैसे वर्णों की पुं० स्त्री०-नपुंसकरूपता भी जैनतन्त्रों में मान्य है । वर्णमाला, दीर्घषट्क, वर्णमिश्रस्वराष्टक, स्वरषोडशक आदि भी मन्त्ररूप में बहुधा स्वीकृत हैं । बहुत से मन्त्र तो अन्य धर्म के यथावद् गृहीत भी हैं ।

मन्त्रसाधना के लिए पहले मन्त्रपट, उसकी प्रतिष्ठा, दीक्षा तथा पूर्व सेवा की आवश्यकता मानी गई है । नित्योपासना में—स्नानादि के पश्चात् आसन पर बैठकर——(१) पवित्रता——ॐ प्रां प्रीं प्रः अमले विमले अशुचिः शुचिर्भवामि स्वाहा—द्वारा, (२) हृदयादिशुद्धि— ॐ विमलाय विमला चित्ताय ह्रीं ह्रीं स्वाहा—द्वारा, (३) कल्मष दहन—ॐ विद्युत्स्फुलिंगे महाविद्ये मम सर्वकल्मषं दह दह स्वाहा——द्वारा (४) तिलक—ॐ आं ह्रीं क्रौं अर्हते नमः——द्वारा तथा भूमि शुद्धि——ॐ भूरसि भूतधात्रि विश्वाधारे नमः' मंत्रों से की जाती है । तदनन्तर पूजादि विधान करते हैं और जप में माला प्रयोग विभिन्न प्रकार से होता है जिनमें——(१) वर्णमातृका-धारी लोम-विलोम, (२) करमाला-एक दक्षिण हस्तगत अँगुलियों से, (३) शंखावर्त, (४) नन्द्यावर्त, (५) ऊँ वर्त, (६) श्रीं वर्त, (७) ह्रीं वर्त, (८) क्लीं वर्त आदि भेद शंसनीय हैं । वैसे मणि, वस्त्रमणि, रुद्राक्ष-भद्राक्षादि भी ग्राह्य हैं । कर्म की दृष्टि से जपमाला भेद के अतिरिक्त यहाँ करमाला में स्त्रीविद्याजप और पुरुषमन्त्रजप के प्रकारों में भी भेद माना गया है ।

'मन्त्राधिराज-कल्प' में जिनतिलकसूरि ने जप के १३ भेद माने हैं जो इस प्रकार हैं——

रेचक-पूरक-कुम्भा, गुणत्रयं स्थिरकृतिस्मृती हक्का ।
नादो ध्यानं ध्येयैकत्वं तत्त्वं च अपभेदाः ॥

अर्थात्——(१) रेचक, (२) पूरक, (३) कुम्भक, (४) सात्विक, (५) राजसिक, (६) तामसिक, (७) स्थिरकृति, (८) स्मृति, (९) हक्का, (१०) नाद, (११) ध्यान, (१२) ध्येयैकत्व और (१३) तत्व, ये जप के भेद हैं । अन्य जपमूलक सावधानियाँ भी यहाँ निर्दिष्ट हैं ।

जप के पश्चात् दशांश हवन का भी निर्देश है तथा कुण्डनिर्माण, अग्नि स्थापनादि प्रक्रिया भी भिन्न-भिन्न जैन मन्त्रों द्वारा की जाती है । जपादि साधना के समय पालनीय आचारों में——(१) अनशन (२) ऊनोदरिका, (३) वृत्तिसंक्षेप, (४) रसत्याग, (५) कायक्लेश, (६) संलीनता, (७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान

और (१२) उत्सर्ग को बाह्याभ्यन्तर तप के रूप में माना है तथा साधर्मि-वात्सल्य को ब्राह्मण-भोजन का स्थान दिया है।

६. जैन श्रमणों की शक्तिपूजा

जैन धर्म में भी शक्तिपूजा तथा शाक्त मन्त्रों को समुचित स्थान प्राप्त हुआ है। आचार्य हेमचन्द्र-रचित "योग शास्त्र' के सातवें और आठवें प्रकाश में धर्म-ध्यान के संग 'पदस्थ' नामक ध्यान में अन्य धर्मानुयायियों के समान ही षट्चक्रवेध की पद्धति के अनुसार वर्णमयी देवता का चिन्तन किया गया है। वहाँ मातृका ध्यान का वर्णन बहुत ही रोचक है[1] तथा अनेक मन्त्रों की परम्परा से शक्तियुक्त आत्मस्वरूप की भावनाओं का विधान दृष्टिगत होता है। जैन मन्त्रों में प्रणव (ॐ), माया (ह्रीं), कामबीज (क्लीं) आदि बीजाक्षरों की शक्ति जैसी अन्यत्र वर्णित है, वैसी ही बतलाई गई है। केवल प्रधान देवता के रूप में 'अरिहंताणं' की मान्यता है। इसमें पंचाक्षरी अथवा पंचनमस्कार-महामंत्र के पाँचों मन्त्र लिये गये हैं, तथा श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुसार तो प्रत्येक तीर्थंकर की शासन-देवता चक्रेश्वरी, अजिता, दुरितारि, कालिका, वैरोट्या आदि मानी गई हैं। धरणेन्द्र-पद्मावती की उपासना तो वस्तुतः शाक्त-सम्प्रदायानुकूल ही है। सनातनी उपासकों में जो 'श्रीविद्याराधना' प्रसिद्ध है और बौद्ध-सम्प्रदाय में जो महत्व 'तारादेवी'को प्राप्त है, ठीक वैसी ही श्री पद्मावती की मान्यता है। इस मार्ग में मर्मज्ञों का कथन है कि श्री देवी की तारा और पद्मावती उपदेवियाँ हैं। ये सरस्वती के सोलह विद्याव्यूह मानते हैं जो कि रोहिणी, प्रज्ञप्ति, शृंखला आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त ज्वालामालिनी, उच्छिष्ट चाण्डालिनी, कर्णपिशाचिनी, आसुरी आदि तथा पद्मावती के रक्त, पीत, भैरवी, त्रिपुरा आदि भेदों के साथ अनेक दैवियों की आराधना होती है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जैन धर्मानुयायी शक्ति पूजा में पूर्ण विश्वास करते हैं और वे एक प्रकार से शाक्त हैं। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि जैनों में हिन्दुओं के वामाचार अथवा बौद्धों के वज्रयान जैसा कोई मार्ग नहीं है।

७. जैनधर्म में यन्त्र बाहुल्य

"यगनाद् यन्त्रमित्याहुः" आराध्य देव की शक्ति को एक स्थान पर केन्द्रित करके रखने से यन्त्र नाम सार्थक होता है। प्रत्येक देवता की शक्ति अनन्त होती है। उसमें से हमें कैसी शक्ति अभीष्ट है शान्तिकारिणी अथवा विनाशक ? इसका निर्णय करके तदनुसार वर्णस्थापना, अंक-स्थापना, सृष्टि-स्थिति-संहार-क्रम से आलेखन और तदनुकूल आलेख्य सामग्री का उपयोग कुछ रेखाओं में करने पर शक्ति केन्द्रित हो जाती है, यह यन्त्र की विशेषता है। जैसे मन्त्रों का वैविध्य है उसी प्रकार यन्त्र भी अनेक हैं। सामान्यतः यन्त्र पाँच प्रकार के होते हैं—(१) भूपृष्ठ-यन्त्र, (२) मेरुपृष्ठ, (३) पाताल यन्त्र, (४) मेरुप्रस्तार और (५) सुमेरु-यन्त्र। भूपृष्ठयन्त्र में लेखन-प्रकार सामान्य रहता है। पाताल यन्त्र में अक्षरों अथवा अंकों की खुदाई की जाती है तथा सुमेरु-यन्त्र में अक्षरादि उभरे हुए होते हैं। अपने अभिलषितार्थ के आधार पर आलेख्य सामग्री का चयन जैसे—भूर्जपत्र, कमलपत्र, बिल्व अथवा पीपल आदि वृक्षों के पत्र, सुवर्ण-रजत-ताम्र-लोहादि के पत्र, लक्षण या आलेखनार्थ शास्त्रानुसार धातु-निर्मित लेखनी, आम्र, दाडिम, बिल्व, कंटक, सूची अथवा अन्य अपेक्षित वस्तु का उपयोग होना चाहिये। साथ ही अष्टगन्ध, केशर, कस्तूरी, कपूर, हस्तिमद, श्वेत-रक्त चन्दन, रक्त, कज्जल आदि की भी प्रधानता होती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह यन्त्र भव्य, अतिभव्य, सर्वतोभद्र अथवा महासर्वतोभद्र है ? इसका ज्ञान करना चाहिये। इस विषय का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन श्री देवेन्द्रगणि ने "कोष्ठक-चिन्तामणि" नामक ग्रन्थ में किया है।[2] एक स्थान पर २५ कोष्ठक के ६५ अंक वाले यन्त्र को "महा-सर्वतोभद्र यन्त्र" बतलाकर गणिवर्यने कहा है कि—"पञ्चसप्तति-प्रकारेण महासर्वतोभद्रयन्त्रोऽयं शोध्यः"—अर्थात् पैंसठिया यन्त्र ७५ प्रकार से शोधन करना चाहिए।[3] यह महासर्वतोभद्र यन्त्र है। इसी प्रकार पन्द्रह या बीस का यन्त्र भी अनेकशः शोधित होता है। अंक स्थान परिवर्तन से अनेक प्रकार बन जाते हैं जिसका निर्देश हम—"अर्जुनपताका" में देख सकते हैं। ऐसे नितान्त शुद्ध यन्त्र की शक्ति यदि परमाणुबम की शक्ति से भी हजारों गुना अधिक हो, तो क्या आश्चर्य ? पंचदशी, बीसा, चौबीसा, तीसा, बत्तीसा, चालीसा, पैंसठिया, सित्तरिया, शतांक, अष्टोत्तर-शतांक और इससे अधिक अंक वाले यन्त्रों की योजना के साथ-साथ आकार भेद से—चतुरस्र, त्रिकोण, षट्कोण, कलशाकार, त्रिवृत्त, वृत्त, अर्धवृत्त, कमलाकृति, ताम्बूलपर्णाकार, हस्ताकार, अस्त्र-शस्त्राकृतिमूलक यन्त्र बनते हैं। जैनधर्म में ऋषिमण्डल,[4] नमस्कार चक्र, कलिकुण्डयन्त्र आदि भव्ययन्त्र प्राप्त होते हैं। विजययन्त्र और विजयपताका यन्त्र के कोष्ठकों की संख्या तो ६५६१ तक है। इनमें से अनेक यन्त्र मूर्ति के रूप में पूजित होते हैं और उनके स्वतन्त्र विधान भी बने हुए हैं।

८. जैन सम्प्रदाय में यन्त्र-साहित्य

सनातन धर्मावलम्बियों के समान ही जैन धर्मावलम्बियों में भी यन्त्रों के विवेचक शास्त्र तथा स्तोत्रादि बहुत ही अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं। 'कोष्ठक-चिन्तामणि' की चर्चा हम पहले कर चुके हैं जो अंकयंत्रों के स्वरूप एवं प्रकारों का एक अच्छा प्रामाणिक ग्रन्थ है। नवपदयन्त्र, नमस्कार-मन्त्र-यन्त्र, सिद्धचक्र, ऋषिमण्डलयन्त्र, उवसग्गहरयन्त्र, पद्मावती-

---

१. तुलना कीजिए—

क्षीराम्भोधेर्विनिर्यान्तीं प्लावयन्तीं सुधाम्बुभिः।
भाले शशिकलां ध्यायेत्, सिद्धिसोपानपद्धतिम् ॥
इत्यादि—(हेमचन्द्राचार्य)।

१. "कोष्ठक-चिन्तामणि" का सम्पादन इन पंक्तियों के लेखक ने किया है जिसकी पाण्डुलिपि जैन साहित्य विकास मण्डल—बम्बई में सुरक्षित है।

२. पचहत्तर प्रकार से परीक्षित उपर्युक्त यन्त्र भी वहीं सुरक्षित है।

३. श्री पं० धुरन्धरविजयजी तथा श्रीयशोदेवसूरि ने ऋषिमण्डल यन्त्र का प्रकाशन किया है।

यन्त्रादि के बारे में विश्लेषण करने वाले अनेक ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। इनके साथ ही इन उपास्य देव-देवियोंके पृथक्-पृथक् स्तोत्रादि भी बनाए गए हैं। वर्धमान-विद्यायन्त्र और विजयपताकायन्त्र जैसे विशाल यन्त्रों को किसी वस्त्र पर लिखकर रखने की परम्परा भी जैन सम्प्रदाय में अतिप्रचीनकाल से चली आई है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ यन्त्रों का परिचय दिया जा रहा है।

१. नवपद यन्त्र—पूजन यन्त्रों में इस यन्त्र का स्थान सर्वप्रथम है। इसकी रचना में सर्वप्रथम मध्य में वर्तुल, उस पर अष्टदल कमल तथा उस पर तीन वृत्तोंका आलेखन होता है। मध्य वर्तुल में अरिहन्त की सिंहासनस्थ श्वेतमूर्ति होती है। कमल के दिशा वाले चार पत्रोंमें सिद्ध,आचार्य,उपाध्याय और साधु जिनका रंग क्रमशः लाल, पीला, नीला और काला होता है। विदिशा के दलों में पीत वर्ण पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से सम्बद्ध मन्त्र लाल वर्ण से लिखे जाते हैं। तदनन्तर तीन वस्त्रों को क्रमशः पीत, रक्त एवं नीले वर्ण से लिखते हैं। इस तरह इसमें पंचपरमेष्ठी के स्वरूप तथा जैन धर्म के चार तत्त्वों के पदों का उल्लेख होता है। यह यंत्र नित्य पूजोपयोगी है तथा इसकी पूजा से मुमुक्षुओं को आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है।

२. नमस्कार-मन्त्र-यन्त्र—इस यन्त्र के छोटे-बड़े अनेक रूप प्राप्त होते हैं, जिनमें अनेक वलय एवं मन्त्रों का उल्लेख होता है। 'पञ्चनमस्कृति दीपक' नामक ग्रन्थ में तथा 'नमस्कार-स्वाध्याय'[1] ग्रन्थ में इसका विस्तृत वर्णन दिया है।

३. सिद्धचक्र (बृहत्) यन्त्र—इस यन्त्र के स्वरूप के बारे में 'सिद्ध-चक्रयन्त्रोद्धारविधि' में श्रीसिद्धचक्रस्तोत्र (पद्यात्मक) दिया हुआ है तथा अन्यत्र संक्षेप में यन्त्र-स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

जो धुरि सिरि अरिहंत मूल दृढ़ पीठ परट्ठिओ,
सिद्ध सूरि उवज्झाय, साहु चिहु पास गरिट्ठओ।
दंसण नाण चरित्त तव हि पडिसाहा सुंदरु,
तत्तवखर सखग्ग लद्धिगुरु पयदल दुवरु ॥
दिसिविदल जक्ख जक्खिणी पमुह सुरकुसुमेहि अंकियो।
सो सिद्धचक्र गुरु कप्पतरु अम्ह मनवांछित फल दियो ॥

इनके अनुसार मूल पीठ में अरिहंत, अष्टदल में नवपदयन्त्र के समान ही सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु दिक्पत्रों में तथा ज्ञान,दर्शन, चरित्र और तप विदिक्पत्रों में रहते हैं। तदनन्तर षोडशदल कमल में तत्त्वाक्षर ह्रीं से युक्त सोलह स्वर तथा इसी के एकान्तरित पत्रों में कवर्गादि आठ वर्गाक्षर तथा इनके अंतरित दलों में ओंकार सहित सप्ताक्षरी मन्त्र 'नमो अरिहंताणं' लिखा जाता है। तदनन्तर ४८ लब्धिपद अष्टदल में लिखकर उसके ऊपर 'ह्रीं'तथा नीचे 'क्रों' इन दोनों बीजों द्वारा साढ़े तीन वृत्तों से आवेष्टित करते हैं। इस वेष्टन की परिधि पर आठ गुरुपादुका लिखते हैं। इस प्रकार यहाँ यन्त्र का आन्तरिक भाग होता है। इसी को 'अमृतमण्डल' कहते हैं। इसी भावना से इस अमृत को कलशाकृति में रखने की दृष्टि से दो रेखाओं के वेष्टन से कलशाकृति बनाई जाती है। इस यन्त्र की आराधना शान्तिकर्म के लिये होने से यह जल-मण्डल उज्ज्वल वर्णन द्वारा अंकित होता है। कलशाकार का आलेखन अनेक रूपों में प्राप्त होता है, जिनमें नेत्र तथा दुपट्टा प्रमुख हैं। कहीं-कहीं मुकुट भी बनाते हैं। तदनन्तर अधिष्ठायक देवों का विभाग है, जिसमें जयादि ४ देवियाँ दिशाओं में, जम्मादि चार विदिशाओं में, फिर एक वलय देकर १६ विद्यादेवियाँ, तदनन्तर यक्ष-यक्षिणियों का वलय, चार दिशाओं में चार द्वारपाल, विदिशाओं में चार वीर, दस दिशाओं में दस दिव्यकाल, नीचे नवग्रह, कलश के कण्ठ-भाग में नव-निधि का लेखन करते हैं। इस प्रकार यह यन्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस यन्त्र का पदस्थ-ध्यान और पिण्डस्थ-ध्यान यथावत् बना रहे इस दृष्टि से नेत्रादि की व्यवस्था है। कलशाकार की स्थिरता बनी रहे तदर्थ दुपट्टा बाँधा जाता है। इसके चारों ओर चार मन्दिर भी बनाए जाते हैं। यह यन्त्र आत्मा को सिद्ध स्वरूप बनाने में सहायक होता है, ऐसी मान्यता है।

इसी प्रकार ऋषिमण्डल यन्त्र और सूरिमन्त्र-यन्त्र का भी विस्तार पूर्वक वर्णन है तथा इसकी साधना आचार्यगण करते हैं। 'अनुभवसिद्ध-मन्त्रद्वात्रिंशिका' में कई महत्त्वपूर्ण यन्त्रों का विधान बतलाया गया है।

यन्त्रात्मक स्तोत्रों की परम्परा भी जैन सम्प्रदाय में 'सौन्दर्य-लहरी' की तरह ही बहुत व्यापक है। उनके टीकाकारों ने 'वृद्धसम्प्रदाय' के नाम से स्तोत्र-पद्यों के आधार पर यन्त्र एवं उनकी विधि का अच्छा उल्लेख किया है। यथा—

कल्याणमन्दिर स्तोत्र—विक्रम की प्रथम अथवा अन्य मान्यतानुसार छठीं शती में उत्पन्न, वृद्धवादी के शिष्य श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने इस स्तोत्र की रचना की है। ४४ पद्यों की यह कृति जैन सम्प्रदाय में अतीव मान्य है। इसमें पार्श्वनाथ की स्तुति है। इस पर विभिन्न १६ आचार्यों ने टीकाएँ तथा अन्य ने अनुवाद आदि लिखे हैं। इसके पद्यों के आधार पर वृद्ध-सम्प्रदाय के अनुसार, यन्त्र, मन्त्र एवं उनके विधानों का प्रकाशन 'कुन्थु-सागर स्वाध्याय सदन, उरई' से हुआ है। प्रत्येक पद्य के आधार पर विविध कर्मों की सिद्धि के प्रयोग इसकी विशेषता को परिलक्षित करते हैं।

भक्तामर स्तोत्र—विक्रम की आठवीं शती में उत्पन्न श्रीमानतुंग सूरि की यह रचना है। इसमें ४३ पद्य हैं जिनमें ऋषभदेव की स्तुति की गई है। यह स्तोत्र भी अनेक टीकाओं, अनुवादों, समस्या-पूर्तियों तथा अनुकरणों से समृद्ध एवं यन्त्र-मन्त्र रूप सम्प्रदाय से पूर्ण प्रसिद्ध है। श्रीहरिभद्रसूरि ने इस पर ४८ यन्त्रों की विधि भी लिखी है। श्रीऋषभदेव की शासन-रक्षिका यक्षिणी चक्रेश्वरी तथा यक्ष गोमुख हैं। अतः ऐसी मान्यता है कि भक्तामर-स्तोत्र के पद्यों का प्रयोग करते समय चक्रेश्वरी देवी का चित्र सामने रखना चाहिए। स्तोत्र के पद्यों को सुनकर वह देवी प्रसन्न होती है और मनःकामना पूर्ण करती है। इसके ऋद्धिमन्त्र-यन्त्रों की परम्परा लगभग चार-पाँच सौ वर्षों से प्रचलित है। इसके यन्त्रों की भी तीन परम्पराएँ प्रचलित हैं। इसके ४३ यन्त्रों में कई यन्त्र नवीनता से पूर्ण हैं जिनमें केन्द्रस्थानों में खड्ग, धनुष, हस्त, चन्द्र और बीजमन्त्रादि भी अंकित हैं। सभी यन्त्रों से परिधि के रूप में स्तोत्र के पद्य लिखे जाते हैं।

१. जैन साहित्य विकास मण्डल, घोड़बन्दर रोड, विलेपारला बम्बई से प्रकाशित।

सप्ततिशतजिनपतिसंस्तवन—विक्रम की पन्द्रहवीं शती में 'आनन्दोल्लासन' पद से आरम्भ होने वाला यह स्तव हरिभद्र नामक मुनि ने बनाया है। इसमें १५ पद हैं तथा १७० जिनेश्वरों की स्तुति की गई है। इसके ९ और १०वें पद्य से १७० अंक का सर्वतोभद्र यन्त्र बनाया है।

पञ्चषष्टि-यन्त्रगर्भित चतुर्विंशति जिनस्तोत्र—जयतिलकसूरि के किसी शिष्य द्वारा पैंसठिए यन्त्र की रचना-विधि से पूर्ण श्री ऋषभदेवादि २४ तीर्थंकरों की स्तुति में यह स्तोत्र बनाया गया है। इसी नाम की दो और रचनाएँ क्रमशः अज्ञात कर्तृक तथा वाचनाचार्य श्री शीलसिंह (कोष्टक चिंतामणि के रचयिता की) भी प्राप्त होती हैं।

चतुर्यन्त्रगर्भित पञ्चषष्टि स्तोत्र—यह विजय लक्ष्मीसूरि की रचना है तथा ११ पद्यों में चार पैंसठिया यन्त्रों का वर्णन हुआ है।

महाप्रभाविक पद्मावती स्तोत्र—इसमें ३७ पद्य हैं तथा प्राचीन वृद्धसम्प्रदाय के अनुसार इसके पद्यों से भी भक्तामरस्तोत्र के समान विभिन्न यन्त्र बनते हैं। यह देवी स्तुति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है।

'आर्षविद्यानुशासन' और 'भैरव-पद्मावती कल्प' में और भी ऐसे स्तोत्र हैं जिनमें यन्त्रों के वर्णन किए हैं। इसी प्रकार अर्द्धमागधी में रचित उवसग्गहर, नमोत्थु णं, तिजयपहुत्त आदि अनेक स्तोत्र हैं जो यन्त्ररचना, उनकी महिमा, लेखन-पद्धति, प्रयोग-विधि आदि अनेक बातों का निर्देश करते हैं।

९. जैन सम्प्रदाय में तन्त्र

जैन धर्म के आचार्यों, मुनियों तथा उनके अनुयायियों ने मन्त्र और यन्त्र की साधना के अनुसार ही तन्त्र के विकास में भी सर्वाधिक रूप से भाग लिया है। जैन धर्म का साधु वर्ग २२ लब्धियों का पारगामी माना जाता है, अतः उनकी तान्त्रिक उपलब्धियों का लाभ अनेक जैन अथवा अजैन नागरिकों को मिलता रहा है।

वैदिक-तन्त्र प्रयोगों के अनुसार ही जैन परम्परा में भी तन्त्र के शास्त्रीय तथा लौकिक दोनों प्रकारों को पर्याप्त प्रश्रय मिला है। जैन-तन्त्र पद्धति में शास्त्रीय दृष्टि से श्रीहलाचार्य का 'ज्वालिनीमत' नामक ग्रन्थ (१) मन्त्र, (२) ग्रह, (३) मुद्रा, (४) मण्डल, (५) कटुतैल, (६) वश्य यन्त्र, (७) सुगन्ध, (८) स्नपन-विधि, (९) नीराजन विधि और (१०) साधना-विधि नामक दस अधिकारों में अनेक नई बातों का निर्देश करता है। श्रीजिनप्रभ सूरि को देवी पद्मावती के वरदान से मन्त्र-तन्त्रादि का ज्ञान प्राप्त हुआ था उसी का संग्रह उन्होंने 'रहस्यकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में किया है। श्रीसिद्धसेन दिवाकर, अकलंक देव, जिनदत्तसूरि, मुनिगुणाकर, कुन्दकुन्दाचार्य, हेमचन्द्राचार्य, इन्द्रनन्दि आदि अनेक आचार्यों का तन्त्र साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

वैदिक-ग्रन्थ—श्रीविद्यार्णव, महाकालसंहिता तथा सिद्धसिद्धान्तसिन्धु जैसे ग्रन्थों के समान ही 'आर्षविद्यानुशासन' नामक जैन महाग्रन्थ अत्यन्त महत्व रखता है। इस एक ही नाम वाले ग्रन्थ की रचना विभिन्न आचार्यों ने की है। इन्द्रनन्दि, मल्लिषेण, सुकुमारसेन, मतिसागर आदि उनमें प्रमुख हैं। मल्लिषेणरचित विद्यानुशासन ११वीं शती का ग्रन्थ है। इसमें २४ अधिकार तथा प्रायः ५ हजार पद्य हैं। इसमें तन्त्रशास्त्रीय सभी विषयों का विधिवत् समाकलन हुआ है। पंचनमस्कार और पार्श्वनाथ की उपासना के अतिरिक्त गर्भाधान से आरम्भ कर सन्तति प्राप्ति के लिये अनेक मन्त्र प्रयोग दिये हैं जिनमें उपासना के अतिरिक्त औषधि मूलिकादि प्रयोग हैं। वन्ध्यादिदोषवारण, बालरोग विज्ञान, रक्षा प्रयोग, सर्प विज्ञान, विषविज्ञान, निधिगर्भ, भूपरीक्षण आदि विषयों का एकत्र संकलन चिर स्मरणीय है।

महान् तान्त्रिक नागार्जुन की 'कक्षपुटी' भी जैन सम्प्रदाय में प्राप्त है। रसायन-प्रयोगों के लिये इसकी ख्याति कम नहीं है। सामान्य औषध प्रयोग, सुवर्णसिद्धि, पारद प्रयोग तथा अन्य चमत्कारी अंजनादि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं।

आसन-तन्त्र, पुष्प-तन्त्र, धूप-तन्त्र, दीप-तन्त्र, अभिषेक तन्त्र, कंकण-तन्त्र, पट्ट-विधान, लेपन तन्त्र, अंजन तन्त्र, पिच्छक तन्त्र और पताका-तन्त्र इसी प्रकार के प्रयोगों के परिचायक हैं।[१]

सहदेवी, श्वेतार्क, रुद्राक्ष, निर्गुण्डी, रक्तगुंजा, मयूर-शिखा, विभीतक (बहेड़ा), हाथाजोड़ी, नक्षत्र, बान्दा, श्वेत सरपंखा, श्वेतलक्ष्मणा, एकाक्षि-नारिकेल, दक्षिणावर्त शंख, गोरखमुण्डी, विजया, गोरोचन आदि के कल्प संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी-देशी भाषाओं में बने हुए बहुधा जैन सम्प्रदाय के प्राप्त होते हैं।[२]

आन्तर, मध्य और बाह्य लाटक, तिलक-विधान, गुटिका-साधन, चूर्ण-साधन, जलाभिमन्त्रण, पूगीफल, लवंग, अक्षत आदि वस्तु-तन्त्र के साथ ही यंत्र हाजरात के नखदर्पण, घटावतार, कज्जलावतार, खड्गावतार जैसे प्रयोगों की भी न्यूनता नहीं है।[३]

रत्न धारण, रत्नानुकल्प वस्तु धारण एवं मुद्रिका धारण के लिए भी जैन तन्त्र के निर्देश प्राप्त हैं। श्री सिंहतिलकसूरि की 'तन्त्र-लीलावती' जैसे ग्रन्थ इस पद्धति का ज्ञान कराने में सहायता करते हैं।

इसी तान्त्रिक-प्रक्रिया को आगे चलकर यक्षिणी साधन, प्रेतसिद्धि, वेतालसिद्धि, परकायप्रवेश, आकाशगमन, अदृश्यविधान, मृतव्यक्तिदर्शन और इन्द्रजाल की कोटि में भी पहुँचाने का प्रयास जैन यतियों के द्वारा हुआ है। जलवृष्टि क्रिया एवं मेघावरोध क्रिया का निर्देश भी मेघविजयजी ने किया है।

१०. जैन कल्प साहित्य और स्तोत्र साहित्य

अपनी पूर्वजोपार्जित तन्त्रसाहित्यात्मक सम्पत्ति की सुरक्षा के लिये अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने जिस प्रकार मन्त्र-यन्त्रादि गर्भित स्तोत्र-साहित्य की सृष्टि की है, उसी प्रकार जैनाचार्यों ने अनेक तन्त्रादिगर्भित स्तोत्र और कल्पों की भी रचना की है। जो प्रमुख रूप से भगवद् भक्ति

---

१. ऐसे प्रयोगों की जानकारी के लिये देखिये—"तन्त्रशक्ति", ले०डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, रंजन पब्लिकेशन्स, दरीबा, दिल्ली—६।
२. वही द्रष्टव्य।
३. वही द्रष्टव्य।

परक स्तोत्र हैं, किन्तु उनके पीछे किसी विशेष वृद्धसम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है, उन स्तोत्रों की तान्त्रिक क्रिया-पद्धति कहने वाले पुष्पिका फलश्रुतिरूप पद्यों के अतिरिक्त भी अनेक नवीन स्तोत्र आचार्यों ने बताए हैं। 'कल्प' के नाम से अभिहित—१. नमस्कारकल्प, २. ओंकारकल्प, ३. ह्रींकारकल्प, ४. उवसग्गहरकल्प, ५. नमिऊण-कल्प, ६. लोगस्सकल्प, ७. भक्तामरकल्प, ८. कल्याणमन्दिरकल्प, ९. शक्रस्तवकल्प, १०. चिन्तामणिकल्प (नमो त्थुं णं कल्प), ११. मन्त्राधिराजकल्प, १२. अट्टेमट्टेमन्त्रकल्प, १३. धरणीरगेन्द्रस्तवकल्प, १४. कलिकुण्डयन्त्रमन्त्रकल्प, १५. जीराउली पार्श्वमन्त्रकल्प, १६. रक्तपद्मावतीकल्प, १७. पद्मावतीकल्पलता, १८. मेरुतुंग विरचित पद्मावतीमन्त्रकल्प, १९. सूरिमन्त्रकल्प, २०. वर्धमानविद्याकल्प, २१. गान्धारविद्याकल्प, २२. चक्रेश्वरीकल्प, २३. कूष्माण्डीकल्प, २४. ज्वालामालिनीकल्प, २५. सिद्धायिकाकल्प, २६. पंचांगुलिकाकल्प, २७. प्रत्यंगिराकल्प, २८. भारती-वाग्वादिनीकल्प, २९. सारस्वतकल्प, ३०. श्रीदेवीकल्प, ३१. सिद्धचक्रकल्प, ३२. ह्रींमण्डलकल्प, ३३. ब्रह्मविद्याकल्प, ३४. मणिभद्रकल्प, ३५, घण्टाकर्णकल्प, ३६. उग्रविद्याकल्प, ३७. वीसाकल्प, ३८. पंचदशीकल्प, ३९. पंचषष्ठियन्त्रकल्प, ४०. द्वासप्ततियन्त्रकल्प, ४१. विजययन्त्रकल्प, ४२. विजयपताकाकल्प, ४३. जैनपताकाकल्प, ४४. अर्जुनपताकाकल्प, ४५. हनुमानपताकाकल्प, ४६. वज्रपंजरमहामन्त्रकल्प, ४७. चन्द्रकल्प, ४८. प्रतिष्ठाकल्प, ४९. ह्रींकारमयपंचदशीयन्त्रकल्प तथा ५०. सर्वसिद्धिकल्प जैसे अनेक कल्प जैन भण्डारों में प्राप्त होते हैं, जिनका सम्पादन अत्यावश्यक है। धीरे-धीरे यह साहित्य विलुप्त होता जा रहा है। अतः इस ओर विद्वानों का ध्यान देना प्राथमिक कर्तव्य है। यही स्थिति जैन स्तोत्रों की भी है। यथा—१. नमस्कार मन्त्रगर्भस्तोत्र, २. मन्त्राक्षरगर्भित श्रीपार्श्वजिनस्तोत्र, ३. मन्त्राक्षर गर्भपार्श्वनाथस्तव, ४. अट्टेमट्टेमन्त्रगर्भित पार्श्वनाथस्तव, ५. महामन्त्रगर्भितश्रीकलिकुण्ड पार्श्वजिनस्तवन, ६. श्रीपार्श्वनाथमन्त्रस्तव, ७. मन्त्रयन्त्रादिगर्भित श्रीस्तम्भनपार्श्वजिनस्तवन, ८. स्वर्णसिद्धिगर्भित महावीरस्तवन-पादलिप्तसूरि, ९. मन्त्रभेषजादिगर्भित महावीरस्तोत्र, १०. ईर्यापथिकीगर्भितस्तव, ११. नवग्रहस्वरूपगर्भपार्श्वस्तव जैसे इतने अधिक स्तोत्र उपलब्ध हैं, जिनमें तन्त्र-प्रक्रिया को अनेक रूपों में अभिव्यक्त किया गया है।

११. योग और स्वरशास्त्र में तन्त्र

यह कहना न होगा कि योगशास्त्र साधना का एक शाश्वत सहयोगी शास्त्र है। बिना योग और योग की प्रक्रिया के साधना का मार्ग प्रशस्त नहीं हो पाता। योग में षट्चक्र चिन्तन और उनमें वर्णमातृका, बीजमन्त्र और मन्त्रजप का जो विधान है वह शुद्ध रूप से तन्त्र ही है। जैनाचार्यों ने इस दिशा में केवल मूलाधार से सहस्रार तक ही छह चक्र सीमित न रखकर प्रत्येक अंग में ऐसे ही चक्रों की क्रमिक स्थिति बतलाते हुए उनकी साधना के प्रकार भी प्रस्तुत किये हैं। हेमचन्द्र का 'योगशास्त्र' और अन्यान्य योग के बहुत से ग्रन्थों में यह धारा वही है।

स्वर शास्त्र एक व्यापक किन्तु गम्भीर शास्त्र है। श्वास-प्रश्वास की गति की परख, उस पर नियन्त्रण एवं उनसे होने वाले फलाफल का विवेक सर्वसाधारण के लिये उपयोगी तो है पर उसे समझ पाना कठिन है तथापि इस दिशा में कुछ ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यह भी तान्त्रिक साधना का ही शास्त्र है और इसका भी विकास आवश्यक है। विषय अति व्यापक है और जैन सम्प्रदाय ने उपर्युक्त सभी तत्वों को अपनी परम्परा में पल्लवित एवं एवं पुष्पित किया है। वैसे तन्त्र की निम्नलिखित परिभाषा से तो इस साहित्य की सीमा बहुत ही व्यापक बन जाती है—

यत्र चोपासनामार्गो देवतानां प्रदर्शितः।
तं ग्रन्थं तन्त्रमित्याहुः पुरातनमहर्षयः॥ इति॥

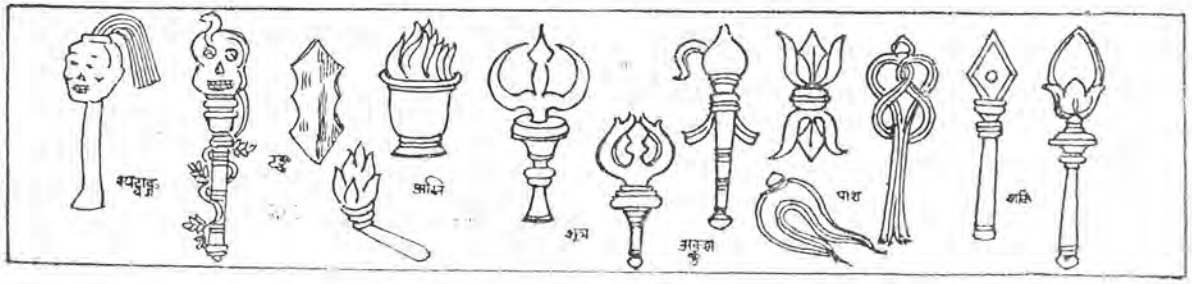

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः

• श्रीचिरंजीलाल शर्मा •

वाममार्ग अनुयायी के लक्षण शास्त्रों में इस भाँति से मिलते हैं, जैसे कि परद्रव्य, परतिय, परापवाद से रहित संयमी ब्राह्मण ही इस मार्ग का अधिकारी है। अजितेन्द्रिय इन्द्रियलोलुप के लिये वाममार्ग नहीं है। तन्त्र-ग्रन्थों में लिखा है :—

ब्राह्मणो मदिरां दत्वा ब्रह्मण्यादेव हीयते।
स्वर्गात्वरुधिरं दत्वा ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्॥
(भैरवतन्त्र)

अथवा—विप्रस्तु मद्यं मासञ्च न भक्षयेत्।
स्वकीयां परकीयां वा नाकृप्य ब्राह्मणो यजेत्॥

गिनती के कतिपय माँ के उपासक अपने को वाममार्गी बताते हुए पशु यानी बकरे, भेड़, महिषादि की बलि और पञ्चमकार (मदिरा, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन) का प्रयोग करते हैं। शिष्टजन इन्हीं कारणों से उन्हें हेय समझते हैं।

माँ जगदम्बा के उपासक को परमदिव्य, पवित्र, शुद्धाचारी होना आवश्यक है, ऐसा शास्त्रों का आदेश है। जैसे—

द्रव्येण सात्त्विकेनैव ब्राह्मणः पूजयेच्छिवाम्।
मादकं सकलं वस्तु वर्जयेत् कनकादिकम्॥

कनकादिक जो मादक वस्तु है, जैसे—भाँग, धतूरा इत्यादि तक त्याज्य माना है, तब अन्य का ग्रहण कहाँ तक उचित है, यह तो प्रयोगकर्ता जानें या माँ भगवती जानें।

वाम पद का अर्थ

निरुक्तकार ने प्रशस्य का ही नाम "वाम" कहा है, जैसे—अस्तेयाः, अनेयाः, अनेद्यः, अनवद्यः, अनभिशस्ताः, उकथ्यः, सुनीथः, पाकः, वामः वसुनमिति दश प्रशस्यनामानि। ऋग्विधानकार ने तो यहाँ तक कह दिया है—

अस्य वामस्य सूक्तं तु जपेच्चान्यत्र वा जले।
ब्रह्महत्यादिकं दग्ध्वा विष्णुलोकं स गच्छति॥

प्रशस्यप्रज्ञवान् योगी का नाम ही वाम है और उस योगी का मार्ग ही वाममार्ग है। अधिकारी के लक्षण सुनने से ही आपको यथार्थ का बोध हो जायेगा—

परद्रव्येषु योऽधश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः॥ (मेरुतन्त्र)

और भी कहा है—

अयं सर्वोत्तमो धर्मः शिवोक्तः सर्वसिद्धिदः।
जितेन्द्रियस्य सुलभो नान्यस्यानन्तजन्मभिः॥
(पुरश्चर्यार्णव)

भगवान् सदाशिव का कथन है—"लोलुपो नरकं व्रजेत्"। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियलोलुप का वाममार्ग में कोई अधिकार नहीं है; और भी—

तन्त्रागमतिगूढत्वात्तद्भावोऽप्यतिगोपितः।

अथवा—

गूढतन्त्रार्थभावस्य निर्मथ्योद्धरणे क्षमः।
वाममार्गेऽधिकारी स्यादितरो दुःखभाग् भवेत्॥
(भावचूड़ामणि)

तन्त्रों के अतिगूढ़ होने से उनके भाव भी अत्यन्तगुप्त हैं। गूढ़तन्त्रार्थ के भावों का मन्थन कर जो उद्धार कर सकने में सक्षम है, वही वाममार्ग का अधिकारी है। इसके अतिरिक्त दूसरा दुःख का ही भागी होता है।

वाम मार्ग अथवा कौलिक मार्ग

वाममार्ग के तीन प्रकार हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। जैसे—

सात्त्विकं तत्र सम्प्रोक्तं राजसञ्चापि कुत्रचित्।
तामसञ्चापि सम्प्रोक्तं धीमांस्तस्यात्समुद्धरेत्॥
(गान्धर्वतन्त्र)

एक-एक के पाँच-पाँच भेद भी होते हैं—कौलिक, वाम, चीन, सिद्धान्ती, शाबर।

कौलिक के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। चीनाचार भी दो प्रकार का है—सकल व निष्कल। ब्राह्मणों के लिये निष्कल और बौद्धों के लिये सकल, शास्त्रों ने कहा है। कुलाचार में निष्णात को ही कौल कहा जाता है।

"कुः पृथ्वीतत्त्वंलीयते यत्र तत्कुलम्-आधारचक्रं,
तत्सम्बन्धाल्लक्षणया सुषुम्णामार्गोऽपि।" पृथ्वीतत्त्व लीन हो जाता है, जिसमें उसे कुल अथवा आधारचक्र कहते हैं और उसके सम्बन्ध से लक्षण द्वारा सुषुम्णामार्ग को भी कुल कहा जाता है—"आचारः कुलमुच्यते" (भविष्योत्तरपुराण)। आचार को भी कुल कहते हैं। कुण्डलिनी की क्रिया को ही कुलाचारशब्द से व्यवहृत किया गया है। "कुलार्णव तन्त्र" में लिखा है—

अन्यास्तु सकला विद्याः प्रकटा गणिका इव।
इयं तु शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव॥

कुण्डलिनी शब्द-शक्ति होने से ब्रह्ममयी कही गई है। दुर्गासप्तशती का वाक्य है—"शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।"

षट्चक्र वर्णन

देवनागरीलिपि की वर्णात्मकपीठ शरीररूपी पिण्ड में विद्यमान रहती है और ध्वनिरूप से निरन्तर अपना कार्य सम्पादन करती है।

जितनी संख्या में जिस स्थानों से इसका उद्गम माना है, उतने स्थानों पर कमलदल की संज्ञा से इसको सम्बोधन किया है; जैसे—

पिण्ड भवेत्कुण्डलिनी शिवात्मा पदं तु हंसः सकलान्तरात्मा ।
रूपं भवेद्विन्दुरमन्दकान्तिः अतीत रूपं शिवसामरस्यम् ॥

(शारदातिलकतन्त्र)

वर्ण (अक्षर) दो प्रकार के हैं—स्वर और व्यञ्जन । अ से अः तक १६ स्वर हैं और क से ह तक ३५ व्यञ्जन हैं । स्वर 'शक्ति' और व्यञ्जन 'शिवात्मक' है; दोनों जब तक संयुक्त न हों तब तक व्यञ्जन का मुख से उच्चारण तक नहीं हो सकता । शब्दमयी और दृश्य-अदृश्यमयी जगती की रचना तभी सम्भव होती है जब शिव-शक्ति संयुक्त होते हैं । शरीर-रूपी पिण्ड में वर्णों का क्रम सरस्वती रहस्य में इस प्रकार कहा है—

"आधारे लिंगनाभौ हृदयसरसिजे तालुमूले ललाटे ,
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के ।
वाशान्ते बालमध्ये ड-फ-क-ठ-सहिते कण्ठदेशे स्वराणां ,
हं क्षं तत्त्वार्थयुक्ते सकलमुनिमतं वर्णरूपं नमामि ॥

मूलाधार पृथ्वी तत्वों से परिपूर्ण है, तन्मात्राओं में गन्ध का स्थान है । चतुष्कोणात्मक चक्र है; जिसमें पीले रंग का चतुष्दल कमल है, दक्षिणावर्त से प्रत्येक दल पर व-श-ष-स यह ४ वर्ण है । कुण्डलिनी का क्रम यहीं से आरम्भ होता है—"आधारभूता जगतस्त्वमेका मही स्वरूपेण यतः स्थितासि ।"—(दुर्गा सप्तशती) ।

पृथ्वी में मध्याकर्षण शक्ति होने से प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर, नीचे की ओर खींचती है, अपान वायु का यहीं पर स्थान जाना गया है । "कन्द-देशे वसेत्प्राणो ह्यपानो गुदमण्डले ।" कन्द देश में प्राणवायु और गुदादेश में अपानवायु का वास रहता है । प्राण का स्थान ही सूर्य का स्थान है, जो तेजस के रूप में जाना गया है और सबको उर्ध्व की ओर आकर्षित करता है । इस आकर्षण और विकर्षण क्रिया को ही जीवन कहते हैं । इसमें से किसी एक क्रिया का ह्रास ही मृत्यु है । यथा—

श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यथा धार्यते
सामूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीपावलीम् ॥

(सौन्दर्य० टी०)

जीवन सत्ता के खेल को खेलनेवाली कुण्डलिनी शक्ति प्रकाशरूप से यहाँ मूलाधार में निवास करती है ।

दूसरा चक्र है स्वाधिष्ठान—यह सिन्दूरवर्ण का है । सुषुम्णा के बीच ध्वजमूल में यह छह दल कमलवाला है । जिस पर ६ वर्ण हैं—ब-भ-म-य-र-ल । ग्रन्थी-छेदन करके कुलमार्ग यहाँ से प्रारम्भ होता है । "व" बीज है ।

तीसरा मणिपुर है—इसका मेघ के सदृश रंग है, दशदल कमल है जिस पर ड-ढ-ण-त-थ-द-ध-न-प-फ यह वर्ण है । "र" बीज है ।

चतुर्थ अनाहत चक्र है—द्वादशदल कमल सिन्दूर के समान रंग है । क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ यह वर्ण अंकित है । "यं" बीज है । विष्णु ग्रन्थी भेदन यहाँ होता है ।

पाँचवा विशुद्ध चक्र है—यह रक्तवर्ण का है, षोडस दल कमल है । इस पर अ से अः तक १६ स्वर अंकित हैं । "हं" बीज है । मोक्ष-द्वार यहीं है ।

छठा आज्ञाचक्र है—श्वेतरंग है, द्विदलकमल है । हं-क्षं दो वर्ण अंकित हैं । ब्रह्मज्ञान इसी स्थान से प्राप्त होता है । इसके ऊपर सहस्रार कमल है, 'विन्दु' का स्थान यहीं है, जहाँ कुण्डलिनी शक्ति परमशिव के साथ विहार करती है । इसी को माया-ब्रह्म की एकता कही गई है । यही मोक्षावस्था है । परन्तु साधक की सर्वदा ही यह अवस्था नहीं बनी रहती । विद्युत की भाँति शिव-सायुज्य प्राप्त कर कुण्डलिनी पुनः अपने स्थान मूलाधार में लौट आती है । इस आरोहण-अवरोहण क्रिया को ही साधक "चक्र पूजा" कहकर सम्बोधित करते हैं । यह ज्ञान गुरुगम्य है—

"गुरूपदेशतो गम्यं न तु शास्त्रार्थ कोटिभिः"

इसीको उत्पत्ति-प्रलय क्रिया कहते हैं जो निरन्तर क्रियाशील रहती है । परन्तु स्थूल दृष्टि से इसको नहीं देखा जा सकता है । इसको देखने के लिये दिव्य-दृष्टि चाहिये—"दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्"

(गीता)

कुल-कुण्डलिनी की क्रिया का यह स्वल्परूप कहा है, विस्तार से तो स्वयं करके ही जाना जा सकता है ।

कुण्डलिनी का स्वरूप

शास्त्रों में कुण्डलिनी का स्वरूप इस तरह से वर्णित है—

"तस्योर्द्धे विसतन्तुसोदरकला सूक्ष्मा जगन्मोहिनी ,
ब्रह्मद्वार मुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम् ।
शंङ्खावर्तनिभा नवीनचपला माला विलासास्पदं ,
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत् सार्द्ध त्रिवृत्ताकृतिः ॥

अर्थ स्पष्ट है, अतः विवेचन की आवश्यकता नहीं है । सहस्रार से जो अमृत विन्दु निःसृत होता है, उसका यही पान करती है । मनुष्य को उसका लाभ क्रिया के द्वारा ही प्राप्त होता है, नहीं तो नहीं ।

माँ जगदम्बा ज्ञानरूप से सहस्रार में प्रकाश करती है और साधक आनन्द में मग्न रहता है, ब्रह्म का रमण इसको ही कहा जाता है । मन-स्वरूप में माँ आज्ञाचक्र में प्रकाश करती है और साधक सिद्धियों से खेला करता है । माँ आकाशतत्त्व के रूप से विशुद्ध चक्र में प्रकाश करती है और साधक सर्वविद्याविद् बन जाता है । वायु रूप से माँ अनाहत में वास करती हैं और साधक सर्वज्ञाता बन जाता है । अग्निरूप से माँ मणिपुर में प्रकाश करती है और साधक दिव्य तेज का दर्शन करता है । जलस्वरूप से माँ स्वाधिष्ठान को प्लावित करती है और साधक के भ्रूनिक्षेप मात्र से शान्ति का साम्राज्य स्थापित होता है । पृथ्वीरूप से माँ मूलाधार में स्थित होती है और साधक क्षमा-सृजन का स्वरूप बन जाता है । अधिक कहने में क्या है बस इतने से जान लीजिये—

"भावितं तीव्रवेगेन वस्तु यन्निश्चयात्मना ।
पुमान् तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत् ॥"

प्रत्येक कार्य के लिये भावना का प्रबल होना अत्यावश्यक होता है और साधना में तो अवश्य ही साधक को इसका पालन करना चाहिये।

पंच मकार

'पंच मकार' के विषय में "शक्ति-तत्व-दर्शन" के रचयिता ने अति सुन्दर प्रकाश डाला है। पञ्च मकार का माहात्म्य वर्णन करते हुए कहा है--

मद्यं मांसञ्च मीनञ्च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

पाँचों मकार ही योगियों को मोक्ष देनेवाले हैं।

मद्य--व्योमपङ्कजनिष्यन्द सुधापानरतो भवेत्।
मद्यपानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः॥

सहस्रार से जो स्रवित होता है वह सुधा है। कुल-कुण्डलिनी द्वारा योगीजन उसका पान करते हैं। यही मद्यपान है और अतिरिक्त पीनेवाले मद्यप हैं।

मांस--माशब्दाद्रसनाज्ञेया तदंशान् रसनाप्रिये।
सदायो भक्षयेद्देवि स एव मांस साधकः॥

हे रसनाप्रिय! मा-रसना-शब्द का नामान्तर है, उसका अंश वाक्य है। वाक्य को जो सर्वदा भक्षण करता है, मौन रहता है वही मांस साधक है।

मीन--गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः॥

गंगा-यमुना माने इडा-पिंगला में प्रवाहमान श्वास-प्रश्वास ही दो मत्स्य हैं। कुम्भक के द्वारा इस श्वास-प्रश्वास को जो रोक लेते हैं, वही मत्स्य साधक हैं।

मुद्रा--आशातृष्णा जुगुप्साभयविषयवृणामानलज्जाप्रकोपाः।
ब्रह्माग्नावष्टमुद्राः परसुकृतिजनः पच्चमानः समन्तात्।
नित्यं सम्भावयेतानवहितमनसा दिव्यभावानुरागी।
योऽसौ ब्रह्माण्डभाण्डे पशुहृतिविमुखो रुद्रतुल्यो महात्मा॥

(भैरवयामल)

आशा, तृष्णा, भय, घृणा, मान, लज्जा, कोप, जुगुप्सा यह आठ मुद्रा कहाती हैं, इनको ब्रह्मरूपी अग्नि में भलि-भाँति पका कर दिव्य भाव का अनुरागी योगी सावधान मन से भक्षण करें। पशुहिंसा से विमुख ऐसा महात्मा पुरुष संसार में रुद्र तुल्य होता है।

मुद्राओं का बहुत बड़ा विस्तार है, कहाँ तक कहा जाए। 'मुदं रातीति मुद्रा'। वामकेश्वर तन्त्र में और तन्त्रराज में शक्ति मुद्रा ३६ प्रकार की कही गई है जिसमें खेचरी मुद्रा अत्यावश्यक है।

मैथुन--या नाड़ी सूक्ष्मरूपा परम पदगता सेवनीया सुषुम्णा,
सा कान्तालिङ्गनार्हा न मनुज रमणी वारयोषित वराङ्गना।
कुर्याच्चन्द्रार्क योगे युगपवनगते मैथुनं नैव योनौ,
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने तां परिष्वज्य नित्यम्॥

(भैरवयामल)

परमानन्द को प्राप्त हुई सूक्ष्मरूपा सुषुम्णा जो नाड़ी है, वही आलिङ्गन करने योग्य सेवनीया कान्ता है न कि वारयोषित मनुज रमणी सुन्दरी वेश्या। सुषुम्णा का सहस्रचक्रान्तर्गत परब्रह्म के साथ संयोग का ही नाम मैथुन है, स्त्री सम्भोग का नहीं।

यदि इस विषय में अधिक जानना चाहते हैं तो 'तन्त्र-तत्व-प्रकाश', 'कौलोपनिषद् भाष्य', 'चक्र-चूड़ामणि' या 'वीरवस्या-रहस्य' आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना उत्तम होगा।

वैसे देखा जाता है कि मद्य, मांस, मैथुन इनमें लोगों की प्रवृत्ति होती है, इसके लिये प्रेरणा नहीं करनी पड़ती। 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' कह कर मनुजी ने भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की है। परन्तु 'निवृत्तिस्तु महाफला' इसको भी नहीं भुलाना चाहिये। अतः साधक को प्रवृत्ति का त्याग करके मोक्षफलदात्री निवृत्ति की ओर बढ़ना ही श्रेयकर है।

इन्द्रियों को वश में करो। सच्चे हृदय से अपने आपको माँ की गोद में अर्पित कर दो। माँ-माँ के नाम की रट लगाओ। माँ तुम्हारे ऊपर अपनी असीम कृपा पीयूष की वर्षा कर कृत्य-कृत्य कर देगी। यह बड़ा ही गहन विषय है। इसी को लक्ष्य करके तो भगवान् सदाशिव ने कहा है:--

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

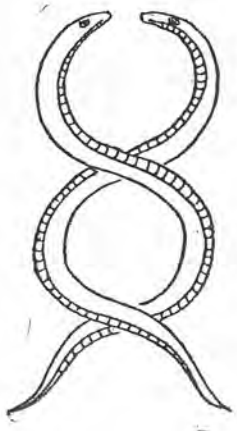

महाकालसंहिता वर्णित स्मार्त-शाक्त सम्प्रदाय

• डा० किशोरनाथ झा •

महाकाल संहिता में शाक्त साधकों के कापालिक, दिगम्बर, मौलेय, तथा भाण्डिकेर, इन चार प्रमुख सम्प्रदायों का— उल्लेख तथा इन सभी से भिन्न अपने सम्प्रदाय--स्मार्त शाक्त सम्प्रदाय--की स्थापना की गयी है।

शाक्त तन्त्र मुख्यतः चार नामों से प्रसिद्ध है--डामर, भैरवसंहिता, यामल तथा शाबर। प्रत्येक का नाम एक-एक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है। अपने सम्प्रदाय के अनुकूल इनकी पृथक्-पृथक् साधना पद्धति का भी निर्देश है। 'कापालिक' सम्प्रदाय डामरतन्त्र का अनुगामी है। 'दिगम्बर' से यहाँ नग्न रहने वाले नहीं, अपितु भैरवी और भैरव के संवाद रूप में लिखित संहिता का अनुगामी संप्रदाय अभिप्रेत है। 'मौलेय' उन्हें कहा गया है जो यामलों में निर्दिष्ट साधना-पथ का अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार शाबर तन्त्र के अनुयायी 'भाण्डिकेर' कहे गये हैं।

ये सभी वाम मार्ग के कट्टर समर्थक हैं अतएव इन्हें 'महा-कौलिक' तथा 'कौलिक श्रेष्ठ' कहा गया है।[1] इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक और सम्प्रदाय गुरु परम्परा है जो महाकाल संहिता का पालन करती है। इसे तन्त्र की स्मार्त परम्परा कहा जा सकता है।[2] यहाँ कापालिक आदि सम्प्रदायों के लिए जैसे महाकौलिक आदि विशेषण उपलब्ध होते हैं वैसे ही इस सम्प्रदाय के लिए 'स्मार्त', 'स्मृति पथ स्थित' तथा 'स्मृत्यध्व सञ्चरिष्णु' आदि विशेषण पाए जाते हैं।[3] दक्षिण मार्ग की ओर इस सम्प्रदाय का झुकाव अधिक देखा जाता है। इतना ही नहीं, यह सम्प्रदाय स्मार्तों के आचार तथा विचार के परिपालन के लिए ही अधिक आग्रहशील है। मद्य के स्थान पर इसमें अनुकल्प की व्यवस्था है। दुग्ध पिण्ड या शालि चूर्ण से निर्मित छाग आदि बलि का विधान है। इसी प्रकार शक्ति का विशेष रूप से परिगणन किया गया है। फलमूलों के अर्पण पर अधिक बल दिया गया है।

महाकाल संहिता में प्राचीन तथा मौलिक तान्त्रिक ग्रन्थों के विषयों का भी सङ्कलन है। अतएव वज्र डामर, कपाल डामर, भैरव संहिता, भैरवी संहिता, भैरवतन्त्र, ब्रह्मयामल, आदि यामल, रामकेश्वर तन्त्र, कालानलतन्त्र, भीमतन्त्र तथा शाबर तन्त्र आदि वाममार्ग के प्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रसङ्गतः स्पष्ट रूप से उल्लेख यहाँ किया गया है। किन्तु मुख्यतः यह स्मार्त शाक्त सम्प्रदाय का प्रवर्तक है अतएव यहाँ उक्त कापालिक आदि सम्प्रदायों की जमकर निन्दा की गयी है। उक्त चारों ही सम्प्रदाय समाज में गर्हित माने जाते हैं। इन लोगों का आचरण घृणित एवं वीभत्स है। कापालिक और दिगम्बर निर्घृण होकर श्मशान में रहते हैं तथा शव का वस्त्र पहनते हैं। वेदमार्ग को छोड़ कर आगम का मार्ग अपना लिया है। इस मार्ग में अभक्ष्य एवं अपेय के खाने पीने की व्यवस्था देखी जाती है। गोमांस भी इनके लिए अभक्ष्य नहीं है। इस तरह इनके विपरीत कर्मों की जड़ बड़ी गहरी है।

दिगम्बर साधक इनसे भी अधिक घोरकर्मी होते हैं। ये नरमांस भी देवी को अर्पित कर प्रसन्नतापूर्वक प्रसाद रूप में ग्रहण करते हैं। स्मार्त दृष्टि से डामर, यामल, भैरव संहिता तथा शाबर तन्त्र को मानने वाले शाक्तों के उक्त चारों ही सम्प्रदाय कदाचारी होने से निन्द्य हैं।[4] अतः इस संहिता में निर्दिष्ट साधना क्रम का अनुव्रजन इष्ट है,[5] जो सभी मन्त्र-कल्पों से अधिक उत्कृष्ट है।[6] इस सम्प्रदाय में श्रुति तथा स्मृति में निर्दिष्ट कर्मों के साथ समन्वयपूर्वक आगमिक उपासना-मार्ग के अवलम्बन पर बल दिया गया है। वेदानुमत आगमिक आचार का पालन तथा वेद विरोधी आगमिक आचार के त्याग के लिए यहाँ विशेष व्यवस्था देखी जाती है। अतएव इस सम्प्रदाय में आगम के भी कुछ विषय त्याज्य और कुछ विषय ग्राह्य हैं। इसी तरह वेद के भी कुछ विषय त्याज्य और कुछ विषय ग्राह्य हैं। वेद में अभिहित नरास्थि के संस्पर्श का निषेध यहाँ मान्य नहीं हैं। क्योंकि आगमों में जप के लिए दन्तमाला प्रशस्त मानी गयी है और आगमों में प्रतिपादित नर-कपाल में पान तथा भोजन वेद विरुद्ध होने से यहाँ विहित भी नहीं है। इस तरह देखा जाता है कि यह महाकाल संहिता का यह 'स्मार्त शाक्त सम्प्रदाय' आगमों में प्रतिपादित उन्हीं विषयों का ग्रहण करता है जो शिष्टाचार तथा वेद से अनुमत हैं। जैसे दूध तथा जल के मिश्रण से हंस दूध का ग्रहण एवं जल का त्याग करता है। इसी तरह आगमोक्त शुभ विषय का ग्रहण एवं अशुभ विषय का त्याग इस सम्प्रदाय की विशेषता है।[7]

अपने इस स्मार्त सम्प्रदाय के उपर्युक्त सिद्धान्त के उपोद्बलन में यहाँ मनुस्मृति को लिया गया है जहाँ प्रतिपादित है कि उत्तम विद्या नीच व्यक्ति से भी लेनी चाहिए।[8] इसी तरह वामाचारी तान्त्रिकों के भी कुछ विषयों का, जो शिष्टाचार से अनुमत हों, ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ एक विषय ध्यान देने योग्य है। जिज्ञासा होती है कि जब एक ही शिव के मुख से उक्त पाँचों सम्प्रदायों का उद्भव हुआ है तब पुनः अमुक सम्प्रदाय निन्द्य है और अमुक सम्प्रदाय प्रशस्य है, इस निर्णय का आधार क्या है? इसके समाधान में यहाँ देवी और महाकाल के संवाद में बहुत

रोचक ढंग से विस्तृत उत्तर दिया गया, जिसका सारांश यह है कि साधकों के स्वभाव का वैविध्य ही विविध सम्प्रदायों के प्रवर्तन का मुख्य कारण है। इसलिए देवी के आराधन के प्रसंग में कही गयी सभी बातें शुभप्रद ही हैं। जिस मार्ग में जिस सम्प्रदाय में जिस व्यक्ति की भक्ति एवं निष्ठा होगी वह उस मार्ग एवं उस सम्प्रदाय का अवलम्बन कर कृत कार्य होगा। अतएव किसी भी सम्प्रदाय की किसी भी तान्त्रिक आचार तथा विचार की निन्दा नहीं करनी चाहिए।[10]

भगवान् शिव ने करुणा करके दोनों ही मार्गों (दक्षिण एवं वाम) को दिखाया जिसकी जहाँ इच्छा हो वह उसी मार्ग का अवलम्बन कर अग्रसर हो सकता है।[11]

पादटिप्पणी

१. कपालडामर प्रोक्त मत सञ्चारिणो नराः ॥१०।१२५४॥
'कापालिका' निगद्यन्ते ते महाकौलिका अपि ।
संहितां भैरवप्रोक्तां ये पुनः समुपासते ॥१०।१२५५॥
'दिगम्बरा'स्ते विख्याता न पुनर्नग्नरूपिणः ।
एतेऽपि कौलिकश्रेष्ठाः श्मशानादिषु निर्घृणाः ॥१०।१२५६॥
प्रपन्ना यामलप्रोक्तं ये पन्थानं सुरेश्वरि ।
ते 'मौलेयाः' परिख्याता महाकौलिकतो वराः ॥१०।१२५७॥
ये च शाम्बरतन्त्रज्ञास्तन्मतैकप्रवर्तिनः ।
विख्याता 'भाण्डिकेरा' स्ते मौलेय सदृशा मताः ॥१०।१२५८॥
—(महाकालसंहिता, गुह्यकाली खण्ड)

२. यदुक्तसंहितोक्तिज्ञा मध्यस्थाः परिकीर्तिताः ॥१०।१२६२॥
—(महाकालसंहिता, गुह्यकाली खण्ड)

३. द्रष्टव्य महाकालसंहिता, गुह्यकाली खण्ड ॥१०।१४६३, १६५६, १६७९ तथा १६८४ ।

४. कदाचिदनुकल्पोक्तां दद्याद् देव्यै सुरां द्विजः ।६।४३५॥
(महाकालसंहिता, गुह्यकालीखण्ड)
सात्त्विको जीवहत्यां हि कदाचिदपि नो चरेत् ।
इक्षुदण्डं च कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम् ॥
क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा चरेद बलिम् ।
द्रव्येण सात्त्विकेनैव ब्राह्मणः पूजयेच्छिवाम् ॥
स्वयोषां परयोषां वा नाकृत्य ब्राह्मणो यजेत् ।
लोभाद् यदि चरदेवेमधो याति द्विजस्तदा ॥
(महाकालसंहिता कामकलाखण्ड , पृ० ४१–४३)

५. मौलेयभाण्डिकेरौ हि स्यातां यद्यपि कौलिकौ ॥१०।१२६५॥
युक्तायुक्तं विचार्यैवं प्रवर्तेते तथापि तौ ॥
गर्हाकृत् कर्मकर्तारौ निर्घृणौ निन्द्यतां गतौ ॥१०।१२६६॥
सर्वाधमौ परिज्ञेयौ कापालिक दिगम्बरौ ॥
श्वशानवासिनौ नित्यं कुणपाम्बरधारिणौ ॥१०।१२६७॥
सर्वभक्षौ च वीभत्सौ वेदमार्गबहिष्कृतौ ॥
भक्ष्येष्वेषामभक्ष्यं हि गोमांसं सुरवन्दिते ॥१०।१२६८॥
शक्तिश्चैषामसंभोग्या स्वकीया जननी तथा ॥१०।१२६९॥
विस्तारबीजमित्येवं वर्तते पापकर्मणाम् ॥१०।१२७१॥
दिगम्बरः पापतनो देविकापालिकादपि ॥
नरमांसं यदश्नाति देव्यै दत्वा प्रसादवत् ॥१०।१२७२॥
डामरं यामलं चैव तथा भैरवसंहिताम् ।
तथा शाम्बरतन्त्राणि शास्त्रमेषां प्रकीर्तितम् ॥१०।१२७३॥
कुर्वन्ति देव्याः पूजादि ततन्मन्त्रोदितक्रमैः ।
पूजां कृत्वा उपादेयाः कदाचाराद् विगर्हिताः ॥१०।१२७४॥
(महाकालसंहिता, गुह्यकालीखण्ड)

६. मतज्ञानैः किमेभिस्तैः प्रकृतं शृणु साम्प्रतम् ।१०।१२७५॥
(महाकाल संहिता, गुह्य कालीखण्ड)

७. सर्वेभ्यो मन्त्रकल्पेभ्यो मदुक्ता संहिता वरा ।८।८५९ ।
(महाकाल संहिता, गुह्यकाली खण्ड)

८. श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म देव्युपासनमेव च ।
उभयं कुर्वते देवि मदुदीरितवेदिनः ॥
वेदाविरुद्धं कुर्वन्ति यद् यदागमचोदितम् ।
आगमादेशितमपि जहति श्रुत्य देशितम् ॥
श्रुतौ नरास्थिसंस्पर्शात् सचैलं स्नान मीरितम् ।
आगमादि प्रसिद्धत्वात् रुद्रस्य वचन दपि ॥१२।२५६॥
चिञ्चिद्ग्रहातव्यमुभयोः किञ्चिद्ग्राह्यं द्वयोरपि ॥
कापालिकमते त्याज्ये करोटी पान भोजने ॥१२।२५७॥
अस्पर्शश्च तथा मुष्याः श्रुत्युक्तो हेय ईश्वरि ॥
न मालाकरणे दोषो जपार्थं तस्य कञ्चन ॥१२।२५८॥
पानभोजन पात्रादिकरणे दोष एव हि ।
नरमांसाशिता साक्षादत्र ते संशयोऽस्तु मा ॥१२।२५९॥
सर्वेष्वेव मतेष्वेवं बोद्धव्यं कमलानने ॥
तेषां ये हि कदाचारा निन्दिताः श्रुतिवर्त्मनि ॥१२।२६०॥
अस्माभिस्ते परित्यक्ता यद्भद्रं तदुरीकृतम् ॥
मिश्रिताभ्यां पयोऽम्बुभ्यां क्षीरं हंसो यथा पिबेत् ॥१२।२६१॥
शुभाशुभाभ्यां हि तथा शुभमेव श्रयेत् सुधीः ॥१२।२६२॥
(महाकाल संहिता, गुह्यकाली खण्ड)

९. यदुक्तं मनुनार्थेऽस्मिन्नवधे हि तदीश्वरि ।
नीचादप्युत्तमां विद्यां कन्यारत्नं सुदुष्कुलात् ॥१२।२६३॥
अध्युन्मत्तान्महामन्त्रममेध्यादपि काञ्चनम् ।
अतएव महेशानि प्रोक्तं यद्यत् स्थले स्थले ॥१२।२६४॥
कापालिकैः शुभं वाक्यं तन्मयात्रोपवर्णितम् ।
तेषामेव परित्यक्तं यदसद्यौक्तिकं वचः ॥१२।२६५॥
(महाकाल संहिता, गुह्य कालीखण्ड)

१०. एवमागमिको धर्म एक एव पुरारिणा ॥१२।२४८॥
कथितो लोकनिस्तारहेतवे ग्रन्थविस्तरैः ॥
अनन्तरं तदीयांशभूतैरस्माभिरीश्वरि ॥१२।२४९॥
कदाचार सदाचारौ निरीक्ष्य नरजातिषु ।
सर्वागमानां विषयव्यवस्था परिकल्पिता ॥१२।२५०॥
शुभदो निखिलो धर्मः देव्याराधन हेतुकः ।१२।२५१॥
(महाकाल संहिता, गुह्य कालीखण्ड)

तयाप्यास्थावतां देवि फलं किञ्चित् प्रयच्छति ।
ध्यानेऽर्चने जो न्यासे होमे च बलिकर्मणि ॥
भावना यादृशी यस्य सिद्धिः स्यादेव तादृशी ॥
(महाकाल संहिता, कामकला खण्ड, पृ० ७८)

११. वर्त्मद्वयं भगवता दर्शितं करुणावशात् ।
यस्येच्छा वर्तते यत्र स तत्र रमतां सुखम् ॥११।११३०॥
(महाकाल संहिता, गुह्य कालीखण्ड)

दत्तात्रेय तन्त्र का एक अद्भुत प्रयोग

• श्री रमेशचन्द्र अवस्थी •

यह एक महायातक, महादारिद्रय, ग्रहपीड़ा निवारक, आयु प्रदाता प्रयोग है। यदि ग्रहों का कारण रोगादि कष्टों के उत्पन्न होने का संदेह हो रहा हो तो यह प्रयोग करना चाहिये। इस प्रयोग में नीचे लिखी वस्तुओं को इकट्ठा करके पानी में धोकर साफ करके काम में लाना चाहिये। वस्तुओं की मात्रा का कोई प्रमाण नहीं है, हाँ वस्तु अवश्य होनी चाहिये। अधिक होने से कोई हानि नहीं है।

१. जड़ें—मदार या आक, धतूरा, लटजीरा या अपामार्ग, बरगद, पीपल और दूब की जड़ें।

२. पत्तियाँ—शिरस (शमी) आम, गूलर की पत्तियाँ।

३. बीज—चावल, चना, मूँग, गेहूँ, तिल, पीली सरसों।

४. अन्य द्रव्य—कुश, चन्दन, शहद, गोमूत्र, दूध, घी तथा एक मिट्टी का पात्र जिसमें सब वस्तुएँ आ जायँ।

इस मिट्टी के बर्तन में सब जड़ें थोड़ी-थोड़ी डाल दें। शनिवार के दिन सूर्यास्त के समय पीपल की जड़ के नीचे गड्ढा खोदकर पात्र रखकर मिट्टी से दबा दें। पात्र गाड़ने से पहले पवित्र होकर १०८ बार नीचे लिखा मन्त्र पढ़ें, शुद्ध आसन पर बैठकर। जड़ें, पत्ते, दूध, गोमूत्र यथासम्भव ताजे लेने चाहिये। मन्त्र में 'अमुक' के स्थान पर नाम लें। मन्त्र इस प्रकार हैं—

"ऊँनमो भगवते भास्कराय अमुकस्य सर्वग्रहाणां पीड़ा नाशनं कुरु कुरु स्वाहा"

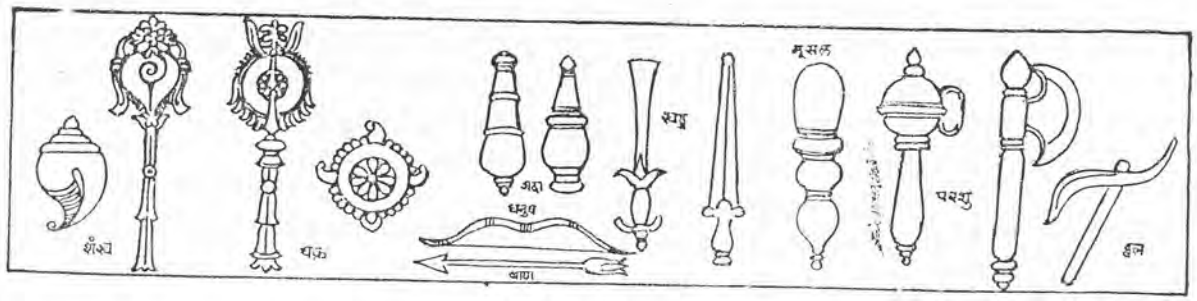

कामाख्या-यात्रा

• डा० चाँदप्रकाश मेहरा •

किंवदन्ती है कि जब सती के मृत शरीर को कन्धे पर रखे शिवजी महाराज रौद्र रूप धारण किए इधर-उधर घूम रहे थे, तो सबको भयभीत देखकर विष्णु भगवान् ने अपने सुदर्शन चक्र से सती के टुकड़े टुकड़े कर दिए। कहते हैं कि उनके शरीर के इक्यावन टुकड़े हुए, जो बिखर कर विभिन्न प्रदेशों में गिरे; जहाँ-जहाँ सती का अंग गिरा, वहीं सिद्ध शक्ति-पीठ बन गये। यही सुप्रसिद्ध ५१ सिद्ध शक्ति-पीठ हुए। सती की योनि जिस स्थान पर गिरकर शिलात्व को प्राप्त हुई, वही कामाख्या देवी का अधिष्ठान कहा गया है। उसी स्थान पर कामाख्या मन्दिर बना है। मानव इस शिला को स्पर्श करने पर देवत्व और देवगण ब्रह्म धाम में जाकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस शिला में साक्षात् कामेश्वरी देवी अधिष्ठित हैं। वही षोडशी के नाम से भी जानी जाती हैं। कालिकापुराण में इनकी महिमा कही गई है :—

नीलकूटे मया सार्द्धं देवी रहसि संस्थिता।
सत्यस्तु पतितं तत्र विशीर्णं योनिमण्डलम्॥
शिलातत्त्वगतं शैलं कामाख्या तत्र संस्थिता।
संस्पर्शं तां शिलां मर्त्यो ह्यमर्त्यत्वमवाप्नुयात्॥
अमर्त्यो ब्रह्मसदनं तत्रस्थो मोक्षमाप्नुयात्।
तस्याः शिलाया माहात्म्यं यत्र कामेश्वरी स्थिता॥
श्रीं कामाख्या योनिरूपा चण्डिका मातृयोगिनी॥

(कालिका पुराण, ३१ अध्याय)

कामाख्या पीठ में कहीं भी किसी प्रकार की मूर्ति नहीं है। वहाँ दस महाविद्याओं के मन्दिर भी हैं। वहाँ सब महाविद्याएँ योनि रूप में अवस्थित हैं। कामाख्या में कुमारी पूजा अवश्य करनी चाहिए। ऐसी मान्यता है कि माँ कामाख्या पीठ पर रहनेवाले पण्डों व ब्राह्मणों के घर साक्षात् कुमारी रूप से साधकों की पूजा ग्रहणार्थ ही अवतीर्ण हुई हैं। वहाँ जगह-जगह कुमारी पूजन होते हुए आप देख सकते हैं। वे भक्तों को बड़े प्रेम से थपथपाती हैं। यात्रीगण देवी भाव से कुमारी पूजा कर कृतकृत्य होते हैं। जिस तरह प्रयाग में मुण्डन और काशी में दण्डी भोजन करवाने की प्रथा है, उसी तरह कामाख्या में कुमारी पूजा एक आवश्यक कृत्य है। यहाँ कुमारी पूजा करने से सर्व देव-देवियों की पूजा करने का फल प्राप्त होता है। साधक को मनोवांछित फल मिलता है। कहा भी है :—

ऊँ सर्वविद्यास्वरूपा हि कुमारी नात्र संशयः।
एका हि पूजिता बाला सर्वं हि पूजितं भवेत्॥

(योगिनीतंत्र, १७।३३)

कुमारी सर्वविद्यास्वरूपा हैं, इसमें संदेह नहीं। एक कुमारी पूजा करने से सम्पूर्ण देव-देवियों की पूजा का फल होता है।

शास्त्रों के अनुसार भक्त पहिले ब्रह्मपुत्र नदी के बीच टापू पर अवस्थित उमानन्द भैरव के दर्शन करें। उसके बाद ही कामाख्या देवी के दर्शनार्थ नीलाचल पर्वत पर चढ़े और वहाँ तीन रात्रि पर्यन्त वास करे।

आनन्द भैरव प्रणाम मन्त्र

धर्मकामार्थमोक्षाय सर्व पाप हराय च।
नमस्त्रिशूलहस्ताय उमानन्दाय वै नमः।
प्रसीद पार्वतीनाथ उमानन्द नमोऽस्तु ते॥

दर्शन मन्त्र

देव देव महादेव शशकाङ्कित शेखर।
तव दर्शनमात्रेण पुनर्जन्म न विद्यते॥

कामाख्या मन्दिर के पास सौभाग्य कुण्ड है। इसमें स्नान, तर्पण, श्राद्ध, मुण्डन करने का विधान है। इस कुण्ड की प्रदक्षिणा करने से पृथ्वी-प्रदक्षिणा का फल प्राप्त होता है। इसके लाल जल में स्नान करने से, ब्रह्महत्यारे की भी मुक्ति हो जाती है। उसके जल से हाथ, पाँव, मुँह धोकर या छींटे मारकर पवित्र होकर वहीं पास में अवस्थित गणेशजी के दर्शन करके योनि-पीठ के दर्शनों को जाना चाहिये। कामाख्या देवी के मन्दिर में प्रवेश करते ही अन्दर हाल में बारह खम्भों के मध्य कामेश्वर-कामेश्वरी अथवा हरगौरी की युगलमूर्ति है। इनके दर्शन करने के बाद आठ दस सीढ़ियाँ उतरकर नीचे गहन अन्धकार में देवी की योनिरूपा शिला अवस्थित है। यह कपड़े से ढकी रहती है। यहाँ सदा दीपक जलता रहता है। मेले के दिनों में यहाँ दो बड़े वायु-निष्काशक पंखे (Exhaust fans) भी लगा दिए गये थे, जिससे घुटन कम महसूस होती थी। मन्दिर में बिजली है, लेकिन पीठ-स्थल पर बिजली नहीं है। प्रकाश के के लिए केवल दीपक जलता रहता है।

कामाख्या देवी का प्रणाम-मन्त्र

कामाख्ये वरदे देवि नील पर्वतवासिनी।
त्वं देवि जगतां मातर्योनिमुद्रे नमोऽस्तुते॥

स्पर्शन मन्त्र

मनोभवगुहामध्ये रक्तपाषाणरूपिणी।
यस्याः स्पर्शनमात्रेण पुनर्जन्म न विद्यते॥

चरणामृत-पान मन्त्र

शुकादीनांच यज्ज्ञानं यमादिपरिशोधितम् ।
तदेव द्रवरूपेण कामाख्यायोनिमण्डले ।।

देवी महामाया से जो जैसी याचना करते हैं और देवी की प्रसन्नतार्थ जप, होम, पूजा-पाठादि करते हैं, देवी उनके मन की अभीष्ट कामनाओं को उसी रूप से पूर्ण करती हैं। जो भक्ति-भाव से देवी की योनि का दर्शन, स्पर्शन तथा मुद्रा का जल-पान करते हैं, वे देव-ऋण, पितृ-ऋण एवं ऋषि-ऋण से मुक्त होते हैं।

कामाख्या योनि–पीठ से निरन्तर जल बहता रहता है, कहाँ से आता है, कुछ पता नहीं। यहाँ पर छाग-बलि, कबूतर-बलि नित्य प्रति ही होती है। विशेष पर्व में कभी-कभी भैंसा बलि भी दी जाती है। कामाख्या धाम सिद्ध जाग्रत् पीठ है। यह चौबीस घण्टों, हर समय जाग्रत् पीठ है। जिसको कहीं सिद्धि नहीं मिलती, वह यहाँ आकर साधना कर अवश्य सिद्धि प्राप्त करता है। किसी-किसी भाग्यवान् को यहाँ इसमाइल जोगी, लूना चमारी, गोरखनाथ जैसी विभूतियों के दर्शन भी हो जाते हैं। यहाँ की सभी शिलाएँ देवी-देवताओं के रूप में पूजित हैं। अब आप जानना चाहेंगे कि 'अम्बुवाची' शब्द का मतलब क्या है ? ज्योतिष शास्त्रानुसार जिस समय सूर्य आषाढ़ के महीने में मृगशिरा नक्षत्र के तृतीय चरण बीत जाने पर चतुर्थ चरण में आर्द्रा नक्षत्र के प्रथम पाद के मध्य में रहता है, उस समय पृथ्वी ऋतुमती रहती है, इसी समय को 'अम्बुवाची' कहते हैं। साधारणतः प्रतिवर्ष सूर्य आषाढ़ मास के दिनांक ६ या ७ से १० या ११ तक कृष्ण पक्ष में रहता है––इतने ही समय 'अम्बुवाची' योग रहता है। इस अवसर पर मन्दिर के पट तीन दिन के लिए बन्द रहते हैं एवं दर्शनादि नहीं होते हैं। चौथे दिन देवी का मन्दिर खुलता है और अभिषेक, पूजादि समाप्त हो जाने पर यात्रियों को दर्शन करने दिया जाता है। आसाम-बंगाल में इसकी बहुत मान्यता है। अम्बुवाची का व्रत तन्त्रोक्त है। आसाम बंगाल में इस व्रत की बहुत मान्यता है। ब्राह्मण, संन्यासी, ब्रह्मचारी, विधवादि इन दिनों में अग्निस्पर्श नहीं करते। अग्नि-पक्व कोई भी वस्तु सेवन नहीं करते। नमक, शक्कर, दूध, रोटी आदि पकाए हुए अन्न-मिठाई आदि सेवन नहीं करते। केवल फल खाते हैं। इस पर्व के उपलक्ष्य में भारतवर्ष के सुदूर स्थानों से अनेक यात्रियों, साधु-सन्तों का समागम होता है। अम्बुवाची योग में योनिरूपा जगन्माता कामाख्या देवी रजस्वला होती हैं, उनके रजरक्त से रंजित रक्त वस्त्र (चीर) की महिमा कौन नहीं जानता ! उक्त रक्त वस्त्र को शरीरपर (उत्तमाग पर) धारण करने से अभीष्ट सिद्धि मिलती है। इसके अतिरिक्त कामाख्या का चीर धारण कर अन्य जगह भी पूजा, पाठ करने से भक्तों की कामना-पूर्ण होती है। इसके धागे से किसी यन्त्र को बाँध कर देने से वह यन्त्र अपना प्रभाव तुरन्त दिखलाता है। माला के सुमेरु पर यह धागा बाँध देने से मन्त्र शीघ्र सिद्ध होता है। पण्डे लोग चीर को डाक द्वारा अपने यजमानों को भेजते हैं।

कामाख्यावस्त्रमादाय जपपूजां समाचरेत् ।
पूर्णकामं लभेद्देवि सत्यं सत्यं न संशयः।।

(कुब्जिका तंत्र, सप्तम पटल)

अम्बुवाची योग में दुग्ध पान करने पर सर्प भय नहीं रहता।

माँ की इच्छा से बलात् खिचकर मैंने ६ जून, १९७६ को नई दिल्ली से आसाम मेल द्वारा कामाख्या धाम के लिए प्रस्थान किया और ८ जून, १९७६ को लगभग सुबह सात बजे गौहाटी पहुँच गया। मैं ८ जून ७६ को शाम को ही नीलाचल पर स्थित कामाख्या मंदिर में माँ के दर्शनार्थ गया। प्रसाद चढ़ाया और माँ के दर्शन किए ; लेकिन थकान के कारण मुझे अत्यंत पसीना आ रहा था और बहुत दुर्बलता महसूस हो रही थी। यह शायद हृदय-दौरा पड़ जाने के कारण था। मुझे अक्टूबर १९७१ में हृदय-रोग हो चुका था। तबीयत खराब होने के कारण तुरन्त गौहाटी के लिए लौट पड़ा।

मैं तो वहाँ की ऊँचाई और अपने हृदय रोग से भय खाकर तुरन्त दिल्ली प्रस्थान करना चाहता था और दीनदयाल जी से बारम्बार वापस दिल्ली जाने का टिकट कटाने को कहता रहा, लेकिन दीनदयालजी तथा अन्य साथी वहीं ठहरने पर जोर दे रहे थे। उनका कहना था कि इतनी दूर से कष्ट उठाकर धन-व्यय करके यहाँ माई के दरबार में आए हो, तो साधना करके ही जाओ। 'पीठ पर न जाना चाहो तो हममें से किसी के भी निवास-स्थान पर ठहरकर साधना करो।' कहने का आशय यह है कि उनके प्रेम व सद्व्यवहार को देखकर मैं कुछ भी न कह सका। अतः १० जून ७६ क हमारी पार्टी फिर कामाख्या धाम पर स्थित 'अभयानंद-आश्रम' को देखने चल पड़ी। कोई लगभग १२ बजे हम वहाँ पहुँच गए। वह जगह मुझे बहुत पसन्द आई। बीच में लॉन और चारो तरफ कमरे थे, जिनमें यात्री व साधु ठहरते थे। थोड़ा नीचे जाकर चार-पाँच पक्के शौचालय अलग से बने थे। बिजली वहाँ लगी थी, केवल पानी की दिक्कत थी, सो पानी भरनेवाला आश्रम का ड्राम सुबह ही भर जाता था। जयदुर्गा वाले पण्डे की बात नहीं निकली। माँ को मुझे अभयानन्द आश्रम में ठहराना था, इसलिए 'गायत्री बाबा' से मुलाकात करवा दी थी और वह स्थान मुझे भी बहुत पसन्द आया। एक कमरा अपने लिए तय करके लौट आए। १० जून, १९७६ की शाम को ही पूज्य गुरुवर वैद्य श्री ज्वाला-प्रसादजी चौमाल ने कामख्या के पावन-स्थल पर अपने निवास-स्थान पर विधिवत् तान्त्रिक दीक्षा देकर कृतार्थ किया।

अगले दिन ११ जून, १९७६ को सुबह साढ़े ग्यारह बजे टैक्सी में सामान भरकर मुझे अभयानन्द आश्रम पहुँचा दिया गया। बिजली का पंखा, स्टोव, मच्छरदानी, बाल्टी आदि सबकी व्यवस्था पं० दीनदयाल जी ने वहाँ कर दी थी। चाय, पानी व भोजन की व्यवस्था बच्चू भाई और दीनदयाल जी के अनुरोध पर गायत्री बाबा ने कर दी थी।

एक-दो दिन में वहाँ अपने को सुव्यवस्थित कर मैंने वहाँ कमरे में ही एक कोने में पूजा-स्थल बनाकर श्री दुर्गा सप्तशती का संपुट पाठ १४ जून, १९७६ से आरम्भ कर दिया। लगभग ४।। घण्टे लग जाते थे। वहाँ दिन

बहुत जल्द निकल आता है, सुबह चार बजे ही पौ फट जाती है। सुबह सात बजे पाठ करने बैठता था और बारह बजे तक पाठ करके निपट जाता। तत्पश्चात् भोजन करके पास वाले बड़े हाल में गायत्री बाबा के साथ विश्राम करता और लगभग चार बजे शाम को पीठ पर योनि में अनामिका उँगली रखकर जाप करता। इस प्रकार मैंने ९ दिन में (२२ जून, १९७६ तक) नौ संपुट किए। पहले दिन जब मैंने योनि में अनामिका रखकर जाप शुरू किया, तब ऐसा लगा कि किसी ने उंगली पर मुँह मारा हो। चौंक कर मैंने उँगली थोड़ी पीछे हटा ली। फिर थोड़ी अन्दर डाली, तो फिर झटका-सा लगा, मानो उंगली पर मुँह मारी हो, लेकिन काटा नहीं। गौर से देखने पर पता लगा कि पीठ के आवरण वस्त्र में कोई चीज लहराती हुई-सी जा रही हो। चूहा तो हो नहीं सकता था ! क्योंकि चूहा उछलता-कूदता है, लहरा के नहीं चलता। संभावना केवल सर्प के होने की हो सकती है। बहरहाल, यह मेरा अन्दाज है कि वहाँ योनि-मुख में शायद कोई सर्प रहता है और उसी ने मुँह मारा था, काटा नहीं। खैर, किसी तरह जाप करके अपने स्थान पर लौटा तो थोड़ी बेचैनी महसूस हुई, पसीने भी खूब आए। ऐसा अन्दाज है कि हल्का-सा हृदय का दौरा मुझे फिर पड़ा। वहाँ मैं अकेला था कहता भी किससे, बस अपने इष्ट मन्त्र का जाप करते-करते न जाने कब सो गया। माँ की कृपा से मौत टल गई। अब मेरा रोज का कार्य था कि मैं शाम को ४-५ बजे के बीच पीठ पर जाकर योनि में अनामिका रखकर जाप करता था। मान्यता है कि योनि में हाथ देकर जाप करने से दस हजार गुने जाप का फल मिलता है, अर्थात् योनि में हाथ देकर यदि आप दस बार जाप करें तो समझो कि आपने १० × १०,००० = १,००,००० अर्थात् एक लाख बार जाप किया। यह सहूलियत भी मुझे बच्चू भाई और दीनदयाल जी के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण मिल गई थी, वरना पण्डे वहाँ पर बैठकर किसी को, आसानी से जाप नहीं करने देते। यह सब माँ की अप्रत्यक्ष कृपा से ही तो सम्भव हुआ।

अम्बुवाची का मेला ज्यों-ज्यों पास आता जाता था, त्यों-त्यों आश्रम में साधु, महात्मा तथा यात्री अधिक संख्या में आने लगे। यहीं पर मेरी मुलाकात बगुला महाश्मशान, नदिया के स्वामी गिरिनाथ अघोरी, सर्वेश्वरी समूह (कीनाराम मठ) के स्वामी हरिराम अवधूत, तारापीठ, रामपुरा के स्वामी निर्मलानन्द, तारापीठ, तारामन्दिर, रामपुरा के पुजारी आदि से हुई थी। स्वामी गिरिनाथ अघोरी ने कृपा करके एक रात्रि को मेरे स्थान पर स्वयं आकर (मेरे पास लगभग एक घण्टे बैठकर) मुझे रजधान से संबंधित कुछ गुप्त प्रक्रियाएँ समझाई। जिन दुर्लभ और गुप्त प्रक्रियाओं का तान्त्रिक व अघोरीगण जनसाधारण को लेशमात्र भी आभास नहीं देते, उनका ज्ञान मुझे माँ की कृपा से सहज में ही हो गया। वहाँ रात के सन्नाटे में स्वामी निर्मलानन्द जी की 'माँ'-'माँ' 'तारा'-'तारा' की करुण पुकार और शिवजी की मधुर स्तुति आज भी मेरे कानों में गूँजती है। वहीं रात के सन्नाटे में और दिन में भी प्रायः एक तक्षक सर्प आश्रम से निकलकर मेरे कमरे के सामने स्थित काली मन्दिर की ओर जाता था, ऐसा उसकी आवाज से ज्ञात होता था। यह सर्प बड़े जोर से 'तक्षक'-'तक्षक' का उच्चारण करता हुआ जाता था। वहाँ जाकर उसको देखने की हिम्मत मुझमें न थी। कहते हैं कि तक्षक सर्प अपने संकल्प बल से जहाँ चाहे पहुँच सकता है। वहाँ तो छिपकलियाँ भी इतने जोर से बोलती हैं, जैसे दो व्यक्ति आपस में बातचीत कर रहे हों ! नया आदमी तो इन छिपकलियों की आवाज से ही भयभीत हो जाता है। इस प्रकार चण्डीपाठ के अतिरिक्त प्रतिदिन सायं चार से पाँच बजे के बीच में योनिपीठ पर योनि में अनामिका रखकर जाप करता था। तथाकथित झटके (सर्प का मुँह मारना) केवल पहिले दो दिन ही महसूस हुए, उसके बाद कभी ऐसा नहीं हुआ। कुछ स्त्रियाँ तो योनि में पूरा हाथ डालकर वहाँ से निकलते हुए जल से अपने को अभिसिंचित करने में बड़ा सौभाग्य मानती हैं। जिस रात मन्दिर के पट तीन दिन के लिए बन्द होते थे, उसी शाम को (शायद २२ जून, १९७६ की शाम को) मैं रोजाना की तरह योनि में हाथ रखकर जाप कर रहा था (वहाँ उस समय दो-चार व्यक्ति ही होंगे) कि सहसा ऐसा महसूस हुआ कि खून का लोथड़ा (रक्त का थक्का--Blood clots) जैसी वस्तु योनि से निकलकर पानी के साथ बाहर आ रही हो ! गौर से देखने पर मालूम पड़ा कि वह रक्त वर्ण के थे और रक्त वर्ण का जल आता था, कभी रक्त वर्ण के लोथड़े और कभी साफ पानी जैसा, प्रायः प्रतिदिन वहाँ से बहता रहता था। लगातार रक्त वर्ण का जल नहीं आ रहा था।

एकाएक मेरे दिमाग को झटका लगा कि अरे यह देवी तो रजस्वला हो गई। मैंने उक्त रक्त वर्ण के जल को अंजलि में ऊपर उठाकर देखा तो हल्का रक्त वर्ण का जल था, जैसा कि किसी भी स्त्री के रजस्वला होने के समय शुरु-शुरु में निकलता है (कभी खून बहता है, तो कभी खून के लोथड़े निकलते हैं--Spotting) बिल्कुल वैसा ही स्राव उसी प्रकार योनि-पीठ से स्रवित हो रहा था। माँ ने मुझ पर विशेष अनुग्रह करके इस रूप में मुझे प्रत्यक्ष दर्शन दिए। लोगों ने तो केवल सुन ही रखा है कि योनिरूपी शिला रजस्वला होती है, मैंने तो साक्षात् स्वयं ऐसा होते देखा जो कि पीठ पर रहनेवाले लोगों को अथवा नित्य-प्रति दर्शनार्थ आनेवाले वहाँ के स्थानीय भक्तों को भी दुर्लभ है। जब मैं दिल्ली से चला था, तो अपने बंगाली सहयोगी से पूछा था कि क्या वास्तव में वहाँ शिला से रजःस्राव होता है, तो उन्होंने यही कहा था कि सब गप्प है, 'देखा तो किसी ने नहीं, सुना ही सुना है कि ऐसा होता है'। पण्डे लोग रंग मिला देते होंगे। लेकिन मैं साक्षात् दर्शन करने के बाद डंके की चोट से यह कहता हूँ कि यह भी माँ जगदम्बा का एक करिश्मा है कि योनिरूपी शिला से भी रजःस्राव होता है। रंग कोई नहीं डालता। पानी कहाँ से आ रहा है, यह भी किसी को पता नहीं है। यह तो माँ की लीला है। उसके बाद जिस दिन पट खुले, तब पीठ के दर्शन कर योनि-स्राव को बोतल में भर कर ले आया ताकि अपने साथियों में बाँट सकूँ। बच्चू भाई से कहकर पं० दीनदयाल जी ने मेरे लिए भी योनि-स्राव में वस्त्र रखवा दिया था। जो पट खोलने पर सुखाकर (लगभग चौथाई मीटर) मुझे मिल गया। उक्त चीर को मैंने आज तक सँभाल कर रखा है, और जपते समय मैं माथे पर बाँध लेता हूँ। २७ जून १९७६ को मैं गौहाटी वापस आ गया और अगले ही दिन २७

जून को दिल्ली के लिए रवाना हो गया। मैं माँ के रजःस्राव की बात बिल्कुल भूल ही गया था, बाद में कुछ तान्त्रिकों से परस्पर जिक्र करने पर उन्होंने बताया कि मैं बहुत ही भाग्यशाली रहा कि माँ ने प्रत्यक्ष दर्शन दिए।

यात्रियों के लिए कुछ सुझाव

१. वहाँ के पानी में तेल होता है। रखे हुए पानी में ऊपर की सतह पर तेल साफ नजर आता है। अतः जहाँ तक हो सके, फिल्ट्रेशनयन्त्र से फिल्टर करके ही जल पीवें।

२. वहाँ पहुँच कर प्रायः दो-तीन दिनों तक बहुत सख्त कब्ज हो जाता है। रुचि मारी जाती है, अतः खट्टा अद्रक, मुनक्का, डाइजेण्टो, हाजमा चूर्ण आदि साथ में रखें, इनके सेवन से रुचि बनी रहे और कब्ज दूर होने में सहायता मिले। कोई कब्जनाशक चूर्ण या वटी तथा वैद्यनाथ का पंचसकार चूर्ण, कैस्टोफीन की गोली साथ रखें।

३. टार्च और छाता सदा साथ रखें। वहाँ बारिश भी खूब होती है।

४. वहाँ मच्छर बहुत हैं। हर तरह के बड़े-बड़े मच्छर, कीड़े, मकोड़े होते हैं। इनसे बचने के लिए मशहरी अवश्य साथ रखें। बिना मशहरी के वहाँ सोना मुमकिन नहीं है।

५. यदि अधिक रहना है, तो साथ में कोई मच्छर-नाशक दवा यथा (liquid "Pip" insecticide) "पिप" और उसको छिड़कने वाला हैन्ड-स्प्रेयर या प्रेशर स्प्रेयर साथ रखें।

६. सावुत दक्षिणी सफेद मिर्च साथ में रखें, क्योंकि पर्वतीय इलाका है, चढ़ाई पर चढ़कर आदमी तुरन्त पानी पीना चाहता है। तुरन्त पानी पीने से जुकाम, नजला होने की आशंका रहती है, अतः ऐसे समय में एक-दो मिर्च चबा कर पानी पीने से ऐसी कोई आशंका नहीं रहती है। अतः ऐसे समय में एक-दो मिर्च चबाकर पानी पीने से ऐसी कोई आशंका नहीं रहती।

७. थोड़े गर्म कपड़े, कम्बल भी साथ रखें, क्योंकि निरन्तर बारिश होने से सर्दी हो जाती है।

८. जब कभी बाहर जाने लगें, तो अपने कमरे में ताला लगाकर रखें।

९. रात को सोते समय कमरे के दरवाजे व खिड़कियाँ ठीक तरह से बन्द करके रखें।

१०. वहाँ यात्रा करने से पहले कामाख्या मन्दिर के प्रमुख पुजारी को लिख कर अपने लिये ठहरने के स्थान का प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

*

नगर महापालिका, वाराणसी

वाराणसी नगर महापालिका, वाराणसी के नागरिकों की सेवा में अहर्निश प्रयत्नशील

१–नगर की गलियों, सड़कों एवं घाटों की विशेष सफाई।

२–महापालिका की आय में वृद्धि।

३–चुंगी की आय में उत्तरोत्तर वृद्धि।

४–नगर के विभिन्न चौराहों, प्रमुख मार्गों, गलियों, घाटों एवं घाटों पर जाने वाले मार्गों पर समुचित प्रकाश व्यवस्था।

५–नागरिक समस्याओं की जानकारी एवं त्वरित निस्तारण हेतु विभिन्न क्षेत्रों में क्षेत्राधिकारी की नियुक्ति तथा समय-समय पर अपने क्षेत्र के चुंगी चौकियों का भी आकस्मिक निरीक्षण।

अपेक्षायें :

१–यत्र तत्र कूड़ा-करकट न फेंकें, कूड़ा निर्दिष्ट स्थान पर ही फेंकें।

२–महापालिका के करों का भुगतान समय से करें।

३–चुंगी चोरी की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन न देकर, बिना किसी बहकावे में आए सही चुंगी अदा करें।

४–अनुज्ञप्ति प्राप्त करने के पश्चात् ही वाहनों को नगर में चलाएँ।

५–पशुओं को सड़कों एवं सार्वजनिक स्थलों पर न छोड़ें।

सार्वजनिक भूमि व सम्पत्ति की रक्षा करना प्रत्येक नागरिक का परम कर्तव्य है और उस पर अतिक्रमण करना गम्भीर अपराध है।

(बलराम वैश्य)
प्रभारी अधिकारी (प्रेस)

(देशराज सिंह)
प्रशासक

७३ वीं जयंती पर स्वामी श्री करपात्री जी के

श्री चरणों में हार्दिक नमन

वंगीय तन्त्रसाधना की रूपरेखा

• श्रीसुनीतिकुमार पाठक •

बंगाल में तन्त्रसाधना के दो रूप प्रचलित हैं। एक, शास्त्रोक्त साधना; दूसरा लोक परम्परागत आचार है। इसलिये बंगाल में तन्त्र-साधना का शास्त्रीयप्रयोग कुछ परिवारों में सीमित है। लेकिन, गाँव से लेकर शहर तक काली, दुर्गा, मंगलचंडी आदि देवियों की साधनाएँ और उनसे संबंधित षट्कर्म से हिन्दुओं के घर घर के लोग परिचित हैं। इस विषय में कोई जाति, छूत-अछूत की भी बात नहीं आती है। अलौकिक शक्ति के लिये गुह्यसाधना बंगाल में अबतक गाँव-गाँव में चालू है।

तन्त्रशास्त्र के अनुसार बंगाल की भूमि विष्णुक्रान्ता कहलाती है। कुछ विद्वानों ने तन्त्रसाधना को वेदभिन्न या वेदभ्रष्ट आचार माना है, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। मनुसंहिता के टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने हारीतवचन से इस प्रकार कहा है—"आगमः-पंचमो वेदः कौलस्तु पंचमाश्रमः" इस वचन के अनुसार 'श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च' की मान्यता दी गयी है। कारण, तन्त्र भी 'तन्यते विस्तार्यस्ते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्' सिद्ध होता है। वेद से भी ज्ञान मिलता है। तन्त्र में भी ज्ञान प्रकटित है। कामिकागम के अनुसार—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्विताम् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात्तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

अतः यह स्पष्ट है, ब्राह्मणों को भी बंगाल में तन्त्र में रुचि है। वे पंच-मकारादि के साथ पशुबलिदानक्रियासंपादन करते हैं। जो भारत के दूसरे प्रान्तीयब्राह्मणों के अनुसार यह बीभत्स कदाचार है। कौलाचार, वाममार्ग या वामाचार के अलावा गृहस्थ लोग भी शास्त्रीय तान्त्रिक क्रिया में कुशल हैं। इसलिये बंगाल में तन्त्रसाधना और उसका प्रयोग व्यापक है, जिस विषय को स्पष्टीकरण करना एक निबन्ध में संभव नहीं हो सकता है। इस निबन्ध में संक्षेपरूपेण एकरूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

शास्त्रोक्ततान्त्रिकसाधना में पंचतन्त्र

मद्य, मांस, मछली, मुद्रा और मैथुन इन पाँच को पंचतत्त्व कहा है। ये पाँच तत्त्व पंचमकार भी कहलाते हैं। क्या बंगाल के घर-घर में इस प्रकार मद्यमयी साधना अभी चालू है? वह नहीं है। कारण, श्रीगुरु और कुलतत्त्व को शिक्षा बिना यह साधना नहीं की जाती है। लेकिन, कुछ जगह में इष्टदेवो की प्रीति के लिये मद्य, मांस, मत्स्य और आमिष मुद्रा उपचार वस्तुरूपेण दी जाती है। फिर, कुछ जगह में अनुकल्प वस्तु भी प्रचलित है। जैसे कांस्य-पात्र में नारिकेल उदक, या ताम्रपात्र में दुग्धादि मद्य का अनुकल्प वस्तुएँ हैं। वह विधि कौलिकप्रथा के अनुसार है। इस प्रकार मैथुन या पंचमतत्त्व के लिये रक्त करवीरलिंग पुष्प के साथ असित अपराजिता योनिपुष्प अनुकल्प माना जाता है। लिंगपुष्प में चन्दन और योनिपुष्प में कुंकुम लेपन करना चाहिए।

किन्तु दिव्याचारीसाधक स्थूलरूपेण या प्रत्यक्षभूत पंचतत्त्व नहीं निवेदन करते हैं। जैसे, शक्तिसंगमतन्त्र में—'न मद्यं माधवी मद्यं मद्यं शक्तिरसोद्भवम्' (३२।२५); और, आगमसार का वचन—

सोमधारा क्षरेद या तु ब्रह्मरन्ध्रद् वरानने ।
पीत्वानन्दमयस्तां यः स एव मद्यसाधकः ॥

इस प्रकार मैथुनतत्त्व के विषय में भी कहा गया है। सहस्रारबिन्दु के साथ कुण्डलिनी का मेलन ही शिवशक्ति का पंचम तत्त्व साधना है। लेकिन इस प्रकार दिव्याभावाचारी तान्त्रिक साधक अब बहुत कम हैं। वे दो चार सिद्धपुरुष अपने को छिपाकर बैठते हैं। परन्तु तन्त्र में बौद्धिक व्याख्यान शास्त्रीय विचार की जगह कमी है। भारतीय अद्वैतवाद का प्रयोगविज्ञान तन्त्र है। तन्त्र साधन मार्ग है। सिद्धान्त बिना साधन नहीं है, फिर साधन बिना सिद्धान्त सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसलिये अब बंगाल में गृहस्थ लोग प्रत्यक्षफल की प्राप्ति पर ज्यादा ध्यान देकर तान्त्रिक साधकों के आसपास घूमा-फिरा करते हैं और कुछ तान्त्रिक साधक भी षट्कर्म पर ख्याल रखते हैं।

षट्कर्म और तान्त्रिकपूजा

सामान्यतः शान्तिकर्म, वशीकरण, स्तंभन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण को तन्त्र में षट्कर्म के रूप में मान्यता है। वे कर्म अपने-अपने शत्रु या अरिष्ट के नाश के लिये न जाने कौन से प्राचीनकाल से अबतक भारत में लोक परम्परागत आचार के रूप में चले आ रहे हैं। जैसे, किसी बीमारी, ग्रहदोष आदि को हटाने के लिये शान्ति, स्वस्त्ययन क्रिया की जाती है। फिर, प्रतिपक्ष या दुश्मन को दबाने के लिये वशीकरणादि कर्म या अभिचार का विधान है। षट्कर्म की देवी भी भिन्न-भिन्न हैं। कौलावली निर्णय का प्रमाण—

रतिर्वाणी रमा ज्येष्ठा दुर्गा काली यथाक्रमात् ।
षट्कर्मदेवताः प्रोक्ताः कर्मादौ ताः प्रपूजयेत् ॥ (उ०२०)

इन देवियों की प्रीति से रक्षा, शान्ति, जय, लाभ, शत्रुनिग्रह और प्रतिपक्ष निधन होता है, अब भी अंगरेजी शिक्षित बुद्धिजीवी से लेकर गाँव के अनपढ़ आदमी तक सब लोग यह विश्वास करते हैं कि तान्त्रिकोंसे जल्दी से जल्दी अभीष्ट मिलता है।

अतः घट-पठ मठों में दुर्गा, काली के भिन्न-भिन्न पूजा लोक परम्परा आचार की व्यवस्था बंगाल में प्रचलित है। इसके अलावा, स्वस्त्ययन, ग्रहयाग, संपुट चण्डी पाठ से लेकर भिन्न-भिन्न अरिष्ट नाश की प्रथा चली आ रही है। कितनी ग्रामीण देवियों की पूजा आ गयी है, जैसे, शीतला, मंगलचंडी, ओलाइचुड़ी (चंडी), षष्ठी, रक्षाकाली, मनसा, श्मशानकाली, ताराकाली, फलहारिणीकालिका, श्यामा, जगज्जात्री, कात्यायनी, मंथनषष्ठी, शीतलाषष्ठी, बढ़ाई चंडी हैं।

तान्त्रिक पूजा का क्रम मुख्यतः नारायण और शिवलिंग की पूजा के समान है। उसकी विशेष विधि कुछ-कुछ जगह में दिखाई पड़ता है। जैसे, तान्त्रिक आचमन, स्वस्तिवाचन, स्वस्तिसूक्त, घटस्थापन, भूत-शुद्धि, न्यासादि क्रियाएँ सामान्य पूजाविधि से पृथक् हैं। विसर्जन और समर्पण भी अलग है। वैदिक कुशंडिका, प्रजापति होमविधि तान्त्रिक होमविधि से भिन्न है। जैसे, तान्त्रिक होम का स्थण्डिल, कुण्डादि निर्माण वैदिक रीति से अलग है।

पूजा की दो विधियाँ हैं। अन्तःपूजा बहिःपूजा। खासकर अन्तः पूजा ही पूजा है। तान्त्रिक पूजा में देवता की प्रतिमा न होने पर 'यन्त्र' के ऊपर पूजा की जाय। भिन्न-भिन्न देवता के यन्त्र भी अलग-अलग होते हैं। तन्त्र के अनुसार यन्त्र मन्त्रमयी देवता का शरीर है।

यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं मन्त्रात्मा देवतैव हि।
देहात्मनोर्यथाऽभेदो यन्त्रदेवतयोस्तथा॥

इसलिये नवचक्रात्मक श्रीयन्त्र देवी का गृह है, यह प्रमाण है। "यन्त्रं तु गृहमित्युक्तं गृहस्था देवता मताः" (शक्तिसंगमतंत्र १३।२०३) प्रसंगतः, 'यन्त्र' शब्द का व्याख्यान इस प्रकार है—'यम्' धातु से 'यन्त्र' उद्भूत है। कामक्रोधादि दोष और उनसे उद्भूत दुःख-क्लेश नियन्त्रण के लिये यन्त्र जरूरी है। यन्त्र से यम, भूत, पिशाचादि से त्राण होता है। कुलतत्त्वार्णव से प्रमाण इस प्रकार है—

कामक्रोधादिदोषोत्थसर्वदुःखनियन्त्रणात्।
यन्त्रमित्याहुरेतस्मिन् देवः प्रीणाति पूजितः॥
यमभूतादिसर्वेभ्यः भयेभ्योऽपि कुलेश्वरि।
त्रायते सततं चैव तस्माद् यन्त्रमितीरितम्॥ (उ०६,१०)

गुरुदीक्षा और मन्त्ररहस्य

प्राचीन श्रौत ग्रन्थों में गुरु से दीक्षा और ब्रह्मचर्य का विधान है। किन्तु तान्त्रिक दीक्षा श्रौतग्रन्थोक्त दीक्षा से भिन्न है। अतः दीक्षा के दो प्रकार हैं—वैदिकी और तान्त्रिकी। तान्त्रिकी दीक्षा चतुर्विध है। जैसे, क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और बोधमयी। फिर, ये दीक्षाएँ भी आचार तथा अधिकारी की क्षमता के अनुसार तरह-तरह की होती हैं। तान्त्रिक साधना में गुरु के बिना सिद्धि दुष्कर है। इसलिये गुरु-शिष्य-परंपरा और उनके साधन मार्ग तथा अभिषेकादि का विषय हमेशा गुह्य या गोपनीय है एवं जप्यमान मन्त्र भी गुप्त या अति गुप्त है। जापक को अपने को ही देवताकार सोचना चाहिए। कैसे साधक अपने को देवता कल्प बनाता है? 'देवो भूत्वा यजेद्देवं ना देवो देवमर्चयेत्', इसलिये यह कहा गया कि प्राणायाम, ध्यान और न्यास के द्वारा साधक देवत्व को प्राप्त होता है। मन्त्र जपते जपते साधक मन्त्रोद्दिष्ट देवता के साथ तन्मय हो जाता है।

शक्ति तन्त्र के अनुसार पूजा और जप एक साथ करना चाहिए। परन्तु बंगाल में १६सदी में श्रीगौरांग प्रचलित संप्रदाय में पूजाहीन मन्त्र तथा 'नाम' को प्रामाणिक मान्यता दी गयी है। इसलिये अब तक बंगाल में सोलह पद बत्तीस अक्षर के नामों का वैष्णव कीर्तन करते हैं। जैसे, 'हरे कृष्ण हरेकृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥' इस प्रसंग में एक बात हमें याद रखना चाहिए, कृष्ण और काली के बीज मंत्र एक हैं। इसीलिये बंगाली साधकों ने काली को 'परमवैष्णवी' की आख्या दी है। काली और कृष्ण के मन्त्रार्थ और मुद्रा भी बराबर है। वैष्णव तन्त्रों में श्रीराधा कामकला बीज की आह्लादिनी शक्ति है और शाक्त तन्त्रों में स्वयंभूलिंग-शिव की परानन्दशक्ति कामबीजरूपिणी योनिमुद्रा में विराजित है।

बीजमन्त्र का तात्पर्य और गुह्यरहस्य गुरुप्रमुखात् सीखना जरूरी है। पचास वर्णों के साथ आसन, मुद्रा, प्राणायाम, न्यास का षट्चक्रभेद योग किस प्रकार है यह फिर फिर तन्त्रशास्त्र में प्रकटित है। हठयोग तन्त्र का तत्त्व एवं साधना में विशेष महत्त्वपूर्ण है। बंगाल में अबतक मन्त्र और तन्त्र का रहस्य लोक परम्परा आचार में भूयशा मान्यता दी गयी है। जिसे झाड़, फूंक, भर, वाण आदि ओझापन और सिद्धाई विद्या पर विश्वास प्रचलित है। कवच ताबीज, धागा, डोरी आदि का व्यवहार अब तक रक्षण-शील परिवारों में परम्परागत आ रहा है। तन्त्र के आधार पर ऋद्धि, ऐन्द्रजाल आदि अभिचार कर्म के साथ सम्बन्धित है। शवसाधना, भौतिक कारवाई, डाकिनी और खेचरी क्रियायों में अब भी कुछ-कुछ स्थान में प्रचलित हैं, जिनके पास बहुत से आदमी अपने-अपने लाभ और चेतावनी के जाते हैं।

शाक्तगीतिका और भक्तिसाहित्य

बंगाल में ई० २री सदी से शाक्त गीतियाँ, कीर्तन-मंगलकाव्य, पाला-गान, श्यामासंगीत लिखने की परम्परा चली आ रही है। मध्ययुगीन भारतवर्ष के कोने-कोने में भक्तिमूलक साहित्य तथा गीतों की रचना की गयी थी। जैसे, रामभक्ति शाखा, कृष्ण भक्ति शाखा की रचनाएँ। इस प्रकार शाक्त पदावली, काली कीर्तन, श्यामा संगीत आदि देव गाना और चण्डी मंगल, शीतला मंगल, शिवायण, मनसा मंगल आदि मंगलकाव्य मातृभक्ति शाखा का साहित्य बंगाल की ओर रचित हुआ था। फिर सहजिया वैष्णव संप्रदाय का साहित्य भी श्री चैतन्योत्तर युग में विकास लाभ किया और हठयोग के साथ कुण्डलिनी तथा बिन्दुसाधना के आधार पर 'बाऊल' गान भी फैल गये थे। धीरे-धीरे तान्त्रिक भक्तों-साधकों ने हठयोग और तान्त्रिक क्रिया की पृष्ठभूमि पर ई० १८वीं १९वीं सदी में भी शाक्त-गीतिका की रचना की। इसका एक नमूना है—

काली बोले डाकि केन काली ये मोर धरेर मेये,
काली नामेर कालसुतोय जीवन मरण चले धेये,

कारो दोरे दियेछे खड़ि
कारो धरेछे कंचिदड़ि
जननी औ कन्या (मागो)
छिले जायारूपी हये।
बामाख्यापा रामप्रसादे
कृपा पेलो तोर प्रसादे
आमार भाग्ये कृपण होलि
बाँचा कृपार परश दिये॥

यह स्पष्ट है कि भक्तिरस के द्वारा तान्त्रिक क्रियाएँ और अद्वैत चैतन्य के ज्ञान प्लावित हो गये। मातृशक्ति साधकों के घरों में पत्नी, कन्या और मातृ रूप से प्रकटित हुयी। जैसे, सर्वानन्द ठाकुर, वामाख्यापा, रामप्रसाद, रामकृष्ण, कमलाकान्त ने तान्त्रिक साधना के साथ-साथ भक्ति से इष्टदेवी का साक्षात्कार किया। यह हमारी भारतीय साधना का एक अभिनव विकास है। इष्टदेव या देवी घरेलू परिजन के रूप में प्रत्यक्ष लीला करती हैं।

आद्याशक्ति मातृमूर्ति

माता की गोद में उसका बच्चा जैसे प्यार माँगता है, इस प्रकार भक्त साधक ने विश्व संसार की आद्याशक्ति या पराप्रकृति निर्गुणरूपिणी निराकारा अम्बाशक्ति को माता की मूर्ति का सायुज्य माँगता है और उसकी स्नेह तथा प्यार में अपने को आत्मनिवेदित करना या सौंपता है। तान्त्रिक आचार और क्रिया के ऊपर वैष्णव भक्ति का प्रभाव प्रकटित है। मध्ययुगीन भारतवर्ष में जब भक्तिरस के प्लावन से तरह-तरह के भक्तों, साधकों का हृदय द्रवीभूत हुआ था, तब तान्त्रिक साधना में क्रिया और ज्ञान के साथ भक्ति का उच्छ्वास से उनके आँखों में आँसू आ गये थे। नरबलि, पशुबलि, पंचमकारादि का गुह्योचारी तान्त्रिक साधक जब खड्ग लेकर कुमारी को बलि देने के लिये खड्ग उठाया, तब आद्याशक्ति मातृमूर्ति ने अपने हडकाठ में अपना गला लगाया था। यह कहानी नहीं, सत्य घटना है। जैसे कारणवारि से मत्तता आती है, उसी प्रकार साधकों का चित्त 'अहं' की चेतना से प्रमत्त हो सकता है। इसलिये बौद्ध तन्त्र में उपाय और करुणा को युगनद्ध साधना से अद्वयवज्र की सिद्धि बतायी गयी है, जिससे 'अहं' या चंडाली जल जाती है। बंगाल में इन समुदाय को इकट्ठा होने का अवकाश मिला था। इसके लिये साधन क्रम के सोपान में ज्ञान के साथ क्रिया, ज्ञानात्मिका क्रिया के साथ रागात्मिका भक्ति की एक समन्वयी दृष्टि फैल गयी है। साधक के सामने कृष्ण और काली एक समान है। दुर्गा और श्रीराधा, कात्यायनी और सीता एक ही हैं। आद्याशक्ति मातृमूर्ति के रूप में अपनी संतान को प्यार के साथ रक्षा करती है। लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गामूर्ति में आद्याशक्ति की मातृमूर्ति सदैव प्रत्यक्ष मूर्त्त है, जिनको आम तौर से विभूति शक्ति की प्रतिमा मानी जाती है।

अन्त में, यह निवेदन करना चाहता हूँ कि तन्त्र तार्किक विचार का विषय नहीं है, जिस पर हम तार्किक वाद-विवाद में उलझ जायँ, यह श्रद्धालु हृदय की साधन सम्पदा है, जिससे माता की गोद में बैठकर उनके बच्चों का मन भर जाता है। ●

प्रथम बार
वाराणसी (उ० प्र०) में
स्वाभाविक रंगीन फोटोग्राफी
स्टूडियो एवं आउटडोर

हर प्रकार के
रंगीन इन्लार्जमेण्ट्स १५ दिन में प्राप्त करें

ब्राइट स्टूडियो
कलर प्रोसेसिंग डिवीजन
गोदौलिया–वाराणसी

धर्म सम्राट
स्वामी श्री करपात्री की महाराज
के ७३वें जन्म दिवस पर
शुभ सूचना

ओम
ए. सी. वाटर पम्प
के बाद
अब प्रस्तुत है
ओम टेबुल पंखे

निर्माता :—
श्री योगिनी इलेक्ट्रानिक्स
शिवाला–वाराणसी–२२१००१
फोन : ६५६९८

तान्त्रिक साधना के मैथिल रूप

• डा० जयधारी सिंह •

तान्त्रिक धर्म, दर्शन तथा संस्कृति की व्यापकता को देखकर इस छोटे से निबन्ध में यह संभव नहीं है कि पाठकों को मैथिल संस्कारों से, चर्याओं से अथवा उपासना के बहुविध अङ्गोपाङ्गों से सुपरिचित करा दिया जा सकें। अतः प्रस्तुत निबन्ध में मैं कुछ उन साधनाओं की चर्चा कर रहा हूँ, जो सामान्यतया स्मार्त्त नहीं समझी जाती हैं और बाह्य पूजा-पटल के परम्परागत ब्राह्मण रूपों से घिरी रहकर भी कुछ तान्त्रिक रहस्यों को अपने में सिमेटकर रखने के कारण उपासनाकाण्ड को ज्ञानकाण्ड के साथ समन्वित करने में सफल सिद्ध होती आई हैं।

वैसे तो हम मिथिला के कुछ प्रसिद्ध साधकों की चमत्कारपूर्ण सिद्धियों को बहुधा याद करते हैं—इच्छानुसार किसी भोज्य पदार्थ को मन्त्र सामर्थ्य से फूल बना देना, भौतिक उपद्रवों को शान्त कर देना आदि कुछ सिद्धियाँ सहज रूप में हमें प्रभावित करती आई हैं। लेकिन इधर-उधर से कुछ ऐसे दृष्टान्तों से हमें मिथिला की तान्त्रिक साधना के मूलभूत तत्त्वों का परिचय नहीं मिल सकता है और उन तत्वों के परिचय के लिए हमें प्रधानतया एक आदर्श मैथिल साधक के समस्त जीवन का समीक्षण-परीक्षण करना पड़ेगा। एक आदर्श मैथिल साधक के समस्त जीवन को पढ़कर यह सुस्पष्ट हो जायगा कि वह समाज से अलग रहकर "अवधूत" कहलाना पसन्द नहीं करता है, भोगाश्रित विलासपूर्ण साधनों के सहारे अथवा दुर्नीतिपूर्ण संगठन-कार्य के लिए तान्त्रिक साधनों की मदद नहीं लेता, प्रत्युत सभी कुटुम्बों के साथ रमे हुए, बन्धु-बान्धवों के साथ रमे हुए, साधु-असाधु तत्त्वों के बीच रहते हुए अपनी साधनाओं को बड़ी दृढ़ता के साथ, कट्टरता के साथ क्रमबद्ध रूप से आगे बढ़ाने में ऐसे साधकों को अधिक प्रसन्नता का अनुभव होता आया है। मनः प्रसाद ही तो साधनाओं का फल है। शुद्ध रूप में किसी भी लौकिक अथवा आमुष्मिक कार्य करने में वास्तविक योग्यता, अनुभवों से उपार्जित बुद्धिबल रहने से स्वतः आकृति पर भी प्रसाद-चिह्न आ जाते हैं। इन तथ्यों के निदर्शन के लिए हम एक आदर्श तान्त्रिक साधक के समस्त व्यवहारों को तीन शीर्षकों में बाँट सकें, तो विचार अधिक वैज्ञानिक सिद्ध हो सकते हैं।

(क) **वैयक्तिक जीवन में तान्त्रिक साधना**—कहने की आवश्यकता नहीं; संभवतः प्रत्येक उपनीत ब्राह्मण गायत्री-दीक्षा के अतिरिक्त फिर तान्त्रिक मन्त्र की दीक्षा पाता है। जिन देवी के बीज मन्त्र की दीक्षा होती है, वे ही हुए इष्टदेव—साधारणतया तान्त्रिक देवियाँ, महाविद्याएँ इष्ट-देवता रूप में पूजित होती आई हैं। दशविद्याओं के नाम प्रसिद्ध ही हैं—अधिकतर दीक्षित मैथिलों की इष्ट देवी काली अथवा तारा महाविद्या रहती हैं; कोई कोई श्री विद्योपासक रहते हैं और कमला की उपासना भी पाई जाती है। इष्ट देवता की मन्त्रोपासना का अधिकार तो मन्त्र लेने के पश्चात् ही मिल जाता है। मन्त्र लेना एक खास उत्सव समझा जाता है और ऐसा प्रयोग मैथिल वाग्धारा में आ गया है जैसी मुझे अपने पूज्यपाद पिता (श्री पं० क्षेमधारी सिंह, बी० ए०, वेदान्त-विनोद) के समय की बात याद आती है 'मन्त्र अँटाना' भी एक खास अर्थ रखता था। 'पुरश्चर्यार्णव' आदि कुछ तान्त्रिक ग्रन्थ के "अकथह" तथा "ऋणधन"—चक्र से महाविद्याओं के खास बीज मन्त्र कुल के रीति-रिवाज के अनुसार दिये जाते थे। सामान्यतया इष्टदेवी काली, तारा, भुवनेश्वरी तथा कमला समझी जाती थीं। लेकिन षोडशी अथवा त्रिपुरसुन्दरी के भी उपासक कुछ साधक के वंशज अभी तक मधुबनी नगर के निकट में ही मिलते हैं। हरिनगर ग्राम के प० निरसन मिश्र स्वयं श्रीविद्योपासक थे और इन्हीं की प्रेरणा से अभी भी मुजफ्फरपुर में स्व० उमाशंकर बाबू (बच्चा बाबू) की संस्थापिता प्रतिमा प्रसिद्ध है।

जिसे हम वामोपचार क्रम से उपासना-क्रम समझते हैं, उस क्रम से इष्ट देवता के पूजन का अधिकार तब तक नहीं समझा जाता है जब तक किसी विशिष्ट गुरु से शाक्ताभिषेक नहीं लिया जाता है। उक्त विषयों के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामान्यतया बिना वाममार्गी रहते हुए संभवतः सभी शाक्त मैथिल इष्टदेवी के पूजन अथवा मन्त्र-जप आवश्यक समझते हैं। वैसी स्थिति में अधिकतर भक्त साधक दक्षिणोपचार ही से पूजा-पटल में प्रवृत्त रहते हैं। पञ्चमकार के अनुकल्प रूप में कोई-कोई विजया-अदरख आदि शास्त्र-विहित द्रव्यों को तर्पण क्रम में प्रश्रय देते हैं। 'वामोपचारी' होने के अर्थ में 'तान्त्रिक' कहलाना कुछ कलंक-सा समझा जाता है और इसी कारण से सामान्य रूप में गोपनीयता की प्रथा है। चक्रार्चन, श्मशान-साधन आदि उत्कट तान्त्रिक साधन में अग्रसर कम ही साधक पाए जाते हैं। हाँ, अन्तर्याग के अंश हमें मिलते हैं—भूत-शुद्धि, मानसपूजा तथा वर्णमाला से जप विधान के कुछ प्रबल प्रमाण हैं। पहुँचे हुए साधक भी 'अन्तः शाक्तः' की बात को मानकर आगे बढ़ते हैं और छागबलि, कुमारी-पूजा आदि वे ही तान्त्रिक पटल अपनाते हैं, जिनसे उनकी पञ्चमकार सेवन-प्रवृत्ति का आभास भी न मिल सकें। इष्टदेवी के यन्त्र अथवा कुण्डलिनी शिला को बीच में रखकर मैथिल उपासक बाईं ओर तथा दाहिनी ओर जो विष्णु तथा शिव को रखता है, दैनिक जीवन में जो मत्स्य-मांस खाते हैं, सिन्दूर या रक्तचन्दन का प्रयोग अधिकतर करते हैं। ऐसे ऐसे दृष्टान्तों से इतना तो अवश्य स्पष्ट प्रतीत होता है कि मैथिल

जाति ही तान्त्रिक हैं। हाँ, पशु-वीर-दिव्य भावना से कुछ कठोर साधना की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति आदि कुछ सूक्ष्म धरातल हैं, जिन पर क्रियाशील साधक अधिक नहीं मिलते हैं; फिर भी गोपनीय अंशों का अन्वेषण करना अच्छा होगा, अगर धार्मिक मार्ग के प्रति आस्था-भाव घटे नहीं।

(ख) **पारिवारिक जीवन में तान्त्रिक साधना**—पारिवारिक जीवन से सामान्यतया पत्नी तथा नाबालिग (minor) सन्ततिवर्ग समझे जाते हैं और कोई भी गृहस्थ अपने जीवन को तब तक सम्पूर्ण नहीं समझता है, जब तक किसी तान्त्रिक देवी अथवा देवता की स्थापना अपने आलय में नहीं करते हैं। अधिकतर कालिका देवी ही ऐसी गृह-देवी रहती हैं और वे ही मैथिल पारिभाषिक शब्दों में 'कुल देवता' 'गोसाउनि' (गो-स्वामिनी वा गोशायिनी) आदि मानी जाती हैं, क्वचित् तारोपासना अथवा अन्य महाविद्या की उपासना पाई जाती है। एक तत्त्व अन्वेषण के लिए उत्तम समझा जा सकता है, वह यह तत्त्व है कि पञ्जी से हम कुल-देवता को जोड़ सकते हैं और कुछ मूल ग्राम के मैथिल नियमतः अपने परिवार में एक ही देवी की स्थापना करते आए हैं, जैसे 'पलिवार-महिसी' मूलक कुल में तारा महाविद्या ही कुल देवता हैं। कुल देवता की उपासना क्रम में तान्त्रिकता के रहस्य हमें तीन विषयों में मिलेंगे—पीठ (पीढ़ी) के अन्दर देवता का अधिष्ठान, उपनयनादि अवसर पर छागबलि तथा कुमारी पूजन। समस्त पतिव्रता नारी की जीवन-यापन प्रणाली ही तान्त्रिक है।

(ग) **सार्वजनिक जीवन में तान्त्रिक साधना**—मिथिला की दुर्गापूजा को हम दृष्टान्त स्वरूप रख सकते हैं। मिथिला के महाकवि विद्यापति ठाकुर की 'दुर्गाभक्तिरङ्गिणी' का आदर बंगाल में होता आया है और प्राचीन कुछ हस्तलेखों से स्पष्ट है कि इसी पद्धति से दुर्गापूजा होती आई है। उस ग्रन्थ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि आज से हजार वर्ष पहले ही कुछ परिवर्त्तन-मूलक विधानों का सन्निवेश हुआ। पूर्व-मीमांसकों से अथवा स्मार्त्त आचार्यों से डरकर तान्त्रिक साधक-वृन्द ऐसे समन्वयों की स्थापना की कि वामोपचार की अतियों से बचते हुए तान्त्रिक विचारों की तथा कुछ अंश तक तान्त्रिक आचारों की भी रक्षा संभव हो सके।

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य जिज्ञासा-वृत्ति की संतुष्टि नहीं है, जिज्ञासा-वृत्ति जगाना मात्र है। जिज्ञासु पाठक-वृन्द से मेरा अनुरोध यही रहेगा कि मिथिला की तान्त्रिक साधना के अध्ययन की दिशा में एक सुव्यवस्थित तथा विशेषज्ञसम्मत योजना के आधार पर सर्वेक्षण-कार्य किया जाय।

*

ज्योतिषपीठ सेवक मण्डल

ज्योतिर्मठ, हिमालय

धर्म सम्राट् पूज्य स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

की

७३ वीं वर्ष-ग्रन्थि पर

सादर अभिनन्दन करता है

—सुबुद्धानंद ब्रह्मचारी

श्रीवैष्णवविग्रहार्चन

• डा० मुरलीधर पाण्डेय •

श्रीवैष्णवों में दो सम्प्रदाय हैं—वैखानस तथा पाञ्चरात्र। सिद्धान्त-भेद से पाँचरात्र की भी दो शाखाएँ हैं—वडकलै (औदीच्य ज्ञान) तथा टेङ्कलै (दाक्षिणात्य ज्ञान)। श्रीमद्भागवत में गोपी गीत में विखनस् का नाम बड़े आदर से लिया गया है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

विखनस् का अर्थ ब्रह्मा है या इस नाम के मुनि हैं। विखनस् से प्रवर्तित सम्प्रदाय वालों को वैखानस कहते हैं। छान्दोग्योपनिषद् के अर्चियान प्रकरण में शाङ्करभाष्य में वैखानस का अर्थ वानप्रस्थी किया गया है। वैखानस गृह्यसूत्र तात्पर्यचिन्तामणि के दशविधहेतु-निरूपण में कहा गया है कि वैखानसों को गर्भ में ही भगवान् मुद्रा धारण करा देते हैं और जैसे वृक्षों में अश्वत्थ, पशुओं में कपिला गौ और पौधों में तुलसी जैसे पवित्र हैं; वैसे ही द्विजों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं और ब्राह्मणों में वैखानस श्रेष्ठ होते हैं—

नारायणः स्वयं गर्भे मुद्रां धारयते निजाम्।
विप्रा वैखानसाख्या ये ते स्मृता भगवत् प्रियाः॥
अश्वत्थः कपिलागावस्तुलसी विखनास्तथा।
द्विजेषु ब्राह्मणाः श्रेष्ठा ब्राह्मणेषु च वैष्णवाः॥

पाञ्चरात्र के अर्थ नारद पांचरात्र (१।४४,४५,५३), अहिर्बुध्न्य संहिता (११।६४), पाद्मसंहिता (१।१।७३), ईश्वरसंहिता (११।५२।५८२) तथा श्रीप्रश्नसंहिता (२।३९।४०) में भिन्न-भिन्न रूप से किए गए हैं। ना० सं० तथा अ० सं० कहती हैं कि रात्र का अर्थ ज्ञान ही है और वह ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। इसलिए पांचरात्र नाम है। पा० सं० कहती है कि पाँच अर्थात् बौद्ध, जैन, सांख्य, न्याय तथा वेदान्त शास्त्रों को रात्रि तुल्य अन्धकारमय बना देता है। अतः यह शास्त्र पाँच रात्र है। ईश्वर संहिता कहती है कि पाँच मुनियों—शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज को इस शास्त्र का सर्वप्रथम ज्ञान हुआ। परमात्मा ने पाँच दिवारात्रों में उपदेश दिया था, इसलिए इस शास्त्र का नाम पांचरात्र हुआ। ईश्वर संहिता तथा अहिर्बुध्न्य संहिता में पांच रात्र अर्थात् ज्ञान—परमतत्त्व, मुक्ति भुक्ति योग तथा विषय (संभार) है। शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में पांचरात्र का अर्थ पांचरात्रसत्र किया गया है। वेदान्तदेशिक ने इन सबों का सार लेकर पांचरात्र का अर्थ किया—

"प्रतिबुद्धविषयभगवदनन्यभजनोपदेशप्रवृत्तं तु
शास्त्रं पाञ्चरात्रम्" (न्यायपरिशुद्धि श. अ. २ आह्निक)।

अर्थात् भगवान् की भक्ति के उपदेशक शास्त्र पांचरात्र है। इस प्रकार भगवान् की भक्ति के उपदेशक शास्त्र वैखानस भी है और पांचरात्र भी है, किन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। वैखानस पूजन को वैदिक पूजन कहते हैं और पांचरात्र पूजन को शुद्ध पूजन कहते हैं। पुष्कर संहिता के तन्त्रभेद निर्णय प्रकरण में इनका भेद इस प्रकार किया है—

शुद्धं च वैदिकं चेति तान्त्रिकं च त्रिधा भवेत्।
पाञ्चरात्रेण पूजा तु शुद्धं विष्णुरिति स्मृतम्॥
वैखानससूत्रेण पूजयेद् विष्णुमव्ययम्।
वैदिकं तदिति प्रोक्तं द्विजातीनां प्रशस्यते॥

वैखानस तथा पांचरात्र में एक दूसरा भेद भी है। वैखानस पाँच मूर्तियों की अर्चा करते हैं और पाँचरात्र में केवल चार मूर्तियों की अर्चना होती है। वैखानस को पाँच मूर्तियां ये हैं—विष्णु, पुरुष, सत्य, अच्युत तथा अनिरुद्ध और पाँचरात्र की चार मूर्तियां ये हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में महाराज युधिष्ठिर ने प्रश्न किया और भगवान् ने इस प्रकार समाधान किया है—

युधिष्ठिरः—कथं त्वमर्चनीयोऽसि मूर्त्तयः कीदृशाश्च ते।
वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथं वा पाञ्चरात्रिकाः॥
श्रीभगवान्:—शृणु पाण्डव तत्सर्वमर्चनाक्रममात्मनः।
स्थण्डिले पद्मकं कृत्वा साष्टपत्रं सकर्णिकम्॥
अष्टाक्षरविधानेन अथवा द्वादशाक्षरैः।
वैदिकैरथवा मन्त्रैर्ममसूक्तेन वा पुनः॥
स्थितं मां मन्त्रतस्तस्मिन् अर्चयेत्सुसमाहितः।
विष्णुं च पुरुषं सत्यमच्युतं च युधिष्ठिर॥
अनिरुद्धं च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः।
अन्येत्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः॥
वासुदेवे च राजेन्द्र संकर्षणमथापि वा।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च चतुर्मूर्ति प्रचक्षते॥

पांचरात्र के दो भेद ऊपर लिखे हैं—वडगलै तथा टेंकलै। कई बातों में इन दोनों का भेद है। किन्तु ईश्वरानुकम्पा के विषय में दोनों का एक मौलिक भेद है। वडगलै ईश्वरानुकम्पा के सम्बन्ध में वानरी का उदाहरण देते हैं। ये कहते हैं कि जैसे वानर शिशु अपनी माता को दृढ़ता से पकड़ता है, उसी प्रकार भक्त को चाहिये कि ईश्वर को अपनी तरफ से

अच्छी तरह पकड़े रहे। टेंकलै बिडाली का उदाहरण देते हैं। जैसे मार्जारी अपने शिशु को दाँतों से ऐसी पकड़ती है कि दाँतों के चुभने का कष्ट भी बच्चा को नहीं होता और बच्चा गिरता नहीं, बच्चे की सुरक्षा की भार बिडाली पर होता है। वैसे ही परमात्मा भक्तों का योगक्षेम करता है। भक्त को केवल आत्मसमर्पण करना चाहिये। फिर परमात्मा उसका सब कुछ देखेगा।

इन दोनों वैखानस तथा पांचरात्र सम्प्रदायों में भगवान् के विग्रह के पूजन का बड़ा महत्त्व है। आगमों में विग्रह के लिए बेर शब्द प्रयुक्त है। ये विग्रहार्चन को यज्ञ मानते हैं। वेदों में यज्ञ की बड़ी महिमा है और यह भी कहता है 'यज्ञो ह वै विष्णुः'। इसलिए विष्णु पूजन यज्ञ ही है। इन दोनों सम्प्रदायों ने यज्ञ तथा देवालय का साम्य इस प्रकार दिखाते हैं--यज्ञशाला में अग्निस्थापन, यज्ञशाला के सदृश निर्मित देवालय में विष्णुस्थापन और यज्ञशाला में हिरण्यकलश रखना, बिम्बपीठ पर रत्नकलश रखना। अग्नि पाँच हैं--गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्य, सभ्य तथा आवसथ्य। विग्रह भी पाँच होते हैं--ध्रुव, कौतुक, उत्सव, स्नपन तथा बलि। जैसे श्रौतकर्म में गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय अग्नि लेते हैं, उसी प्रकार ध्रुव-विग्रह से परमात्मा को कौतुक विग्रह में ले जाते हैं। जैसे सभ्याग्नि तथा आवसथ्याग्नि को छोड़कर त्रेताग्नि प्रसिद्ध है उसी प्रकार कौतुक तथा स्नपन को छोड़कर शेष तीन विग्रह ध्रुव, उत्सव तथा बलि विग्रह अधिक प्रसिद्ध हैं।

परमात्मा की अर्चा दो प्रकार से होती है--समूर्त्तार्चन तथा अमूर्त्तार्चन। समूर्त्तार्चन विग्रहों में होता है और अमूर्त्तार्चन यज्ञ में होमादि से होता है। ये दोनों अर्चनाएँ स्वार्थ तथा परार्थ होती हैं। स्वार्थ अर्चना स्वगृह में और परार्थ अर्चना जगत् कल्याणार्थ देवालय में होती है। जैसे आहिताग्नि को ही आहुति देने का अधिकार है और अनाहिताग्नि को नहीं है। किन्तु अनाहिताग्नि पुरुष आहिताग्नि को सामग्री आदि प्रदान कर फल प्राप्त करता है, वैसे ही अर्चना के अनधिकारी व्यक्ति भी अधिकारी व्यक्ति को पूजन सामग्री आदि प्रदान करके अर्चन का फल प्राप्त कर लेता है। इसी-लिये देवालय बनाए जाते हैं जिससे अनधिकारी तथा अर्थ एवं शरीर आदि से असमर्थ व्यक्ति भी देवार्चन अथवा यज्ञ का फल प्राप्त कर सके।

जैसे यज्ञ में पाँच अग्नियाँ होती हैं, वैसे ही देवालय में पाँच विग्रह होते हैं--ध्रुवविग्रह, कौतुक-विग्रह, उत्सवविग्रह स्नपनविग्रह और बलि-विग्रह। ये पाँचों विग्रह वैखानस सम्प्रदाय में होते हैं। पांचरात्र सम्प्रदाय में ६ विग्रह होते हैं--ध्रुवार्चा, कर्मार्चा, उत्सवार्चा, बल्यर्चा, तीर्थार्चा तथा शयनार्चा। इनके दूसरे नाम भी हैं--कर्मार्चा, बल्यर्चा, यात्रार्चा, कृत्रिमालयार्चा, यागार्चा तथा स्नानार्चा। परमात्मा अचल तथा चल हैं। इसलिए अचल के पूजनार्थ ध्रुवविग्रह की स्थापना होती है। इन विग्रहों के नाम से इनका प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। वर्ष भर में अनेक-उत्सव होते हैं। उन उत्सवों में प्रभु आलय से बाहर भी गजवाहन, गरुड़ वाहन आदि रूप में जाते हैं। तदर्थ उत्सवविग्रह होता है। इसी प्रकार स्नान, बलि तथा शयन के लिए तत्तद् विग्रह हैं। स्नपन विग्रह आदि में पूजा करते समय ध्रुववेर से कुश के द्वारा सम्बन्ध स्थापित करके स्नपन विग्रह आदि में प्रभु की प्रतिष्ठा करते हैं और बाद में पुनः ध्रुववेर में स्थापित कर देते हैं। ध्रुव विग्रह को ध्रुवबिम्ब, मूलबिम्ब, मूलबेर, मूलार्चा तथा ध्रुवस्थावरार्चा आदि भी कहते हैं ध्रुववेर प्रधान होता है। अतः शेष चार या पाँच वेर ध्रुववेर से पूर्वादि भाग में नियत स्थान पर स्थापित होते हैं।

ये वेर या विग्रह तीन प्रकार के होते हैं--चित्र, चित्रार्ध तथा चित्रा-भास। मान, प्रमाण, उन्मान, परिमाण, उपमान तथा लम्बमान इन छह मानों से युक्त बिम्ब को चित्रबिम्ब या चित्रविग्रह या चित्रबेर कहते हैं। इस बिम्ब में प्रभु के सर्वावयव दृश्य होते हैं और यह बिम्ब लौकिक तथा पार लौकिक सर्वफल दाता होता है। चित्रार्ध उसे कहते हैं, जिसमें सर्वावयव अर्धदृश्य हों। यह बिम्ब केवल ऐहिक फल देने वाला होता है। चित्राभास बिम्ब उसे कहते हैं, जिसमें ऊँचाई तथा लम्बाई इत्यादि के लिये पूरा ध्यान न दिया गया हो और वस्त्र, भित्ति या काष्टफलक पर अंकित किया गया हो।

पुनः ये सभी विग्रह तीन अथवा चार प्रकार के होते हैं। वैखानस मत में तीन तरह के होते हैं--खड़ी मूर्ति, आसनबद्ध मूर्ति तथा शयान मूर्ति। पांचरात्र वाले एक और भेद मानते हैं जिसे यानग कहते हैं। यानग अर्थात् किसी वाहन पर स्थित। ये स्थानक, आसन, शयन तथा यानग विग्रह भी भोग, योग, वीर तथा आभिचारिक भेद से चार-चार प्रकार के हो जाते हैं। पांचरात्र ग्रन्थों में इन भेदों से अतिरिक्त भी अनेक भेद वर्णित हैं। इसके लिए पाद्मसंहिता तथा श्रीप्रश्न संहिता आदि देखने चाहिये।

कामना भेद से तत्तद्विग्रहों की अर्चा करनी चाहिये। यज्ञ में होने वाली असुविधाओं को ध्यान में रखकर वैखानस तथा पांचरात्र सम्प्रदाय-वालों ने जगत् कल्याणार्थ सुविधा से होने वाले विग्रहार्चन का विधान किया है। इस पर विद्वानों ने बहुत विचार किए हैं। उनके ग्रन्थ देखने चाहिये।

पूर्ववर्णित विग्रहों की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार हो सकती है--

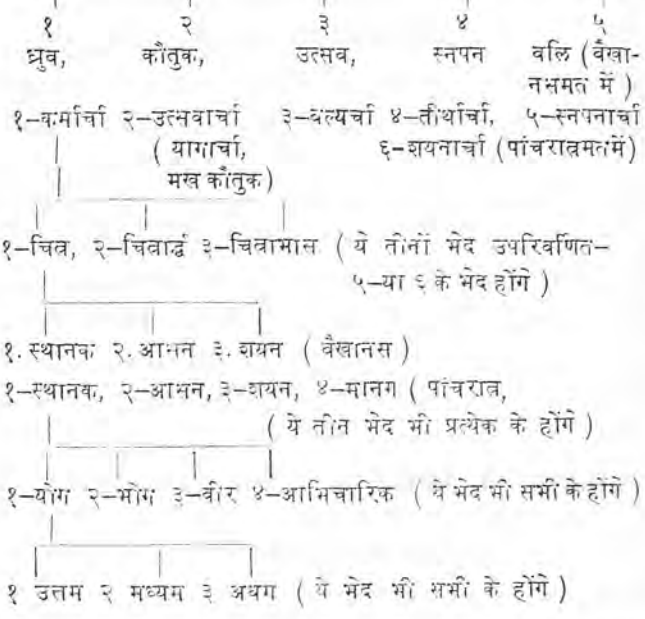
विग्रह (वेर)
१ ध्रुव,
२ कौतुक,
३ उत्सव,
४ स्नपन
५ बलि (वैखानसमत में)
१-कर्मार्चा २-उत्सवार्चा (यागार्चा, मख कौतुक)
३-बल्यर्चा ४-तीर्थार्चा, ५-स्नपनार्चा
६-शयनार्चा (पांचरात्रमतमें)
१-चित्र, २-चित्रार्द्ध ३-चित्राभास (ये तीनों भेद उपरिवर्णित-५-या ६ के भेद होंगे)
१. स्थानक २. आसन ३. शयन (वैखानस)
१-स्थानक, २-आसन, ३-शयन, ४-मानग (पांचरात्र, (ये तीन भेद भी प्रत्येक के होंगे)
१-योग २-भोग ३-वीर ४-आभिचारिक (ये भेद भी सभी के होंगे)
१ उत्तम २ मध्यम ३ अधम (ये भेद भी सभी के होंगे)

गुरु और शिष्य

• पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते •

भारतीय शास्त्रों की परम्परा में गुरु-शिष्य के परस्पर सम्बन्ध की महत्ता सर्वविदित है। उस विषय में नई कोई बात कही नहीं जा सकती। 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः' ये पङ्क्तियाँ सर्वसाधारण हिन्दूमात्र की जिह्वा पर अङ्कित हैं। तथापि आगमोक्त उपासना शास्त्र में गुरु के स्वरूप एवं उसकी महत्ता तथा उसका शिष्य का साथ सम्बन्ध अत्यन्त गम्भीर एवं महत्त्व पूर्ण तथा मननीय है। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ विवेचन करने का प्रयास किया जा रहा है—देवता और गुरु तत्त्वतः अभिन्न हैं, देवता उपासक रुचि भेद से अनेक होने पर भी स्वात्मरूप ही हैं। अतः स्वात्म संवित् की स्फुरत्ता पर प्रकाशमयी देवता ही वस्तुतः गुरु है।

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया चोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

इस प्रत्यभिज्ञा शास्त्रीय वचन के अनुसार स्फुरत्तारूपी प्रकाशात्मा गुरु है। 'गृणाति प्रकाशयति विश्वव्यवहारमिति गुरुः' इस व्युत्पत्ति से सर्व प्रकाशक होने से सर्वानुग्राहक गुरु ही है। 'अनुग्रह' ही गुरु का स्वाभाविक धर्म है। महार्थमञ्जरीकार कहते हैं—'स च गुरुः गृणाति प्रकाशयति विश्व व्यवहारमिति निरुक्त्या सर्वानुग्राहकः। तादृक् प्रकाश व्यतिरेके विश्वस्य अन्ध बधिरतादि प्रायतापत्तेः। स च पर्यन्ततः परमशिव भट्टारकाकारस्वात्मैः स्वात्मरूपो महान् प्रभाता"। वस्तुतः भगवान परमशिव ने अपने में ही भेद की कल्पना कर गुरु शिष्य सम्बन्ध स्थापित किया। स्वच्छन्दतन्त्र का वचन है—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥

सेतुबन्ध-व्याख्या में श्री भास्करराय दीक्षित इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"स्वयमद्वितीयोऽपि परमशिवो द्विविधं विग्रहं प्रकाशविमर्शभेदेन विरच्य विमर्शांशेन प्रष्टृत्वं प्रकाशांशेन वक्तृत्वं च स्वीकृत्य तन्त्र मवतारयितुमारभते"। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् स्वयं विमर्शांश से प्रश्न एवं प्रकाशांश से समाधान सर्वदा करते आ रहे हैं। 'शिव उवाच' 'देव्युवाच' इत्यादि 'लिट्' लकार भूतकाल का सूचक होने पर भी वक्तव्य सर्वदा ही प्राचीन है, इस बात को सूचित करता है। 'अनद्यतन' का अर्थ काल से अपरिच्छेद्यता एवं 'परोक्षत्व'का अर्थ इन्द्रियों से अगोचरता ही है।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध से शास्त्रों का विकासक्रम का तत्त्वार्थ तो परमशिव का स्वशक्तिपरामर्श ही है। परात्रीशिकाविवरण में अभिनवगुप्तपादाचार्य का कथन है कि 'देव्युवाच' 'भैरव उवाच' इत्यादि वाक्यों से यह सिद्धान्त लक्षित होता है कि भगवान् अपने ही शक्ति में सृष्टि-संहारादि व्यापार करते रहते हैं। इस प्रकार विचार करने पर गुरु, देवता, मन्त्र, एवं शिष्य की परस्पर अभेदभावना ही वास्तविक उपासना है।

यद्यपि आगमों में प्रातिभज्ञान को सर्वोपरि स्थान दिया गया है, प्रातिभ शक्ति से विद्धपुरुष स्वयमेव दीक्षित कहा जाता है, तो भी बाह्यगुरु की दीक्षा के बिना उसकी पूर्णता या सम्प्रदाय-योग्यता सिद्ध नहीं होती। किरणागम का वचन है—

दीक्षया मुच्यते जन्तुः प्रातिभेन तथा प्रिये।
गुर्वायत्ता तु सा दीक्षा बद्धबन्धनमोक्षणे॥
प्रतिभा स्वस्वभावस्तु केवलीभावसिद्धिदः॥

अब प्रश्न है कि जिन्हें जन्मजातप्रातिभशक्ति प्राप्त है, उन्हें गुरु की क्या आवश्यकता है? इसपर शास्त्रकारों का कथन है कि उस प्रतिभा के उद्भव में भी गुरु कृपा ही कारण है—

"परमेश्वरस्वातन्त्र्याधीनविजृम्भिते विश्वस्मिन्नेतदाज्ञामन्तरेण तेषां तादृक् प्रातिभैव न सम्पद्यते।"

प्रातिभ एवं बाह्य दोनों संस्कारों से जिनकी भूमिका सुदृढ़ हो चुकी है तथा परम्परा की रक्षा के लिये जिनको आचार्यत्व करने का आदेश प्राप्त है, वे ही वस्तुतः 'गुरु' पद के योग्य हैं। अन्यथा तो गाँव गाँव में गुरु सुलभ हैं ही। व्याकरण, न्यायादि शास्त्रों के बल से आगमों को लगाकर गुरुत्व करना भी खतरे से खाली नहीं है। यह कोई नई बात नहीं हैं—धूर्तैर्जगत् वञ्चितम्'।

आचार्य अभिनवगुप्तपाद, जो भगवान् शिव के अवतार ही थे। उन्हें भी प्रारम्भिक जीवन में ऐसे गुरुओं से पाला पड़ा था। परात्रीशिका की व्याख्या में वे लिखते हैं—

बहुभिरपि सोऽहमेव
भ्रमितस्तत्त्वोपदेशकंभन्यैः।
तत्त्वमिति वर्णयुगमपि
येषां रसना न पस्पर्श॥

अन्यत्र भी कहा गया है—

पारम्पर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः॥

इस स्थिति में गुरु को प्राप्त करना भी अपने आप में एक समस्या है। सर्वलक्षण संपन्न गुरु तो प्रायः दुर्लभ है, तो भी जो शिष्य के संशय को दूर कर सके, उसके हृदयग्रन्थि को खोल सके, निरपेक्ष भाव से शिष्य का हित साधन कर सके वही गुरु श्लाघ्य है। तन्त्रराज में अनेक गुण बताते हुए अन्त में कहा है—'असंशयः संशयछिन्निरपेक्षो गुरुर्मतः'।

जिसका स्वयं ही संशय न मिटा हो वह शिष्य का संशयच्छेद कैसे करेगा? गुरु-शिष्यव्यवहार में जिस शिष्य को गुरु विधिवत् स्वीकार करे, वही यथार्थ शिष्य कहा जाएगा। परन्तु सन्तोषजनक गुरु के न मिलने पर आदि गुरु दक्षिणामूर्ति रूप शिव का गुरुत्वेन स्वीकार तो कोई भी शिष्य कर सकता है एवं उन्हीं की प्रेरणा से प्रत्यक्ष गुरु की उपलब्धि भी हो सकती है।

गुरु का रूप तीन प्रकार का है—प्रथम तो दीक्षादि के द्वारा शिष्य पर अनुग्रह करने वाली स्थूल गुरु मूर्ति, द्वितीय गुरुपादुकामन्त्र या स्वेष्ट देवता का मन्त्रात्मक सूक्ष्मरूप, तृतीय रूप स्वान्तर्बहिः सर्वतो व्यापक परम चैतन्यात्मक है। गुरु का स्वभाव ही शिष्य का हित करना है, उसमें कोई कारण नहीं होता। 'गुरुत्वं हितवेदिता' यही अन्तिम लक्षण कहा गया है।

अब शिष्य के स्वरूप पर यदि विचार किया जाए तो आगमानुसार गुरु के प्रारम्भिक चार लक्षण तो शिष्य में भी आवश्यक हैं—

सुन्दरः, सुमुखः, स्वच्छः सुलभः।

सुन्दर का अर्थ है अव्यङ्ग्य शरीर वाला, सुमुख का अर्थ है प्रसन्नवदन, स्वच्छ का अर्थ है निष्कपट, सुलभ का अर्थ है गर्वरहित होना। इन चार लक्षणों के आगे शास्त्रकार कहते हैं—

चतुर्भिराद्यैः सहितः श्रद्धावान् सुस्थिराशयः।
अलुब्धः स्थिरगात्रश्च प्रेक्ष्यकारी जितेन्द्रियः॥
आस्तिको दृढ़भक्तिश्च गुरौ मन्त्रे सदैवते।
एवंविधो भवेच्छिष्य इतरो दुःखकृद्गुरोः॥

यह एक सामान्य निर्णय है, गुरु की शक्ति के अनुसार अयोग्य शिष्य भी योग्य हो जाता है। अपात्र को भी सुपात्र बनाने की शक्ति गुरु में हो सकती है। एक प्राचीन वचन है—

श्रीगुरुः प्रापयत्येव न पशुमपि पशुताम्।
प्रापय्य पशुतामेनं प्रबोधयति तल्लक्षणात्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेव सेव्यः श्रीगुरुभास्करः।

शास्त्रों में अनेक गुरुओं का आश्रय लेने की बात भी कही है—

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुरुन्तरं श्रयेत्॥

इसके साथ ही ठीक इसके विरुद्ध वचन भी सुना गया है—'लब्ध्वा कुलगुरुं सम्यङ् न गुर्वन्तरमाश्रयेत्'। ऐसी स्थिति में इन वचनों की सङ्गति के विषय में आचार्यों का समाधान यह है कि सामान्य लौकिक शास्त्रों के लिये अनेक गुरुओं का आश्रय लेना चाहिये, परन्तु पूर्ण ज्ञानी और आत्मविद्योपदेष्टा आचार्य के प्राप्त होने पर दूसरे गुरु की आवश्यकता नहीं है। अनधिकारी शिष्यों की गणना के प्रसङ्ग में तन्त्रों की उक्ति है—

न देयं परशिष्येभ्यो नास्तिकानां न चेश्वरि।
न शुश्रूषालसानां च नैवाज्ञानर्थप्रदायिनाम्॥

यहाँ 'परशिष्य' पद का अर्थ क्या हो सकता है इसका विचार करते हुए आचार्य कहते हैं जिसकी अपने गुरु में उतनी भक्ति न होकर दूसरे गुरु में हो, वह 'परशिष्य' कहा जाएगा। उसे विद्या देने से पूर्व गुरु के चित्त में क्षोभ होने से शिष्य का अनिष्ट हो सकता है। क्योंकि गुरु तो साक्षात् शिव ही हैं—'हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन'।

ऐसी स्थिति में यदि पूर्वगुरु की अनुमति लेकर शिष्य नवीनगुरु के पास जाए तो उसका ग्रहण करने में दोष नहीं है। इस विषय में कुलार्णव का कथन है—

मन्त्रागमाद्यमन्यत्र श्रुतं नाथे निवेदयेत्।
गुर्वाज्ञया तद् गृह्णीयात्तदनिष्टं विवर्जयेत्॥

परन्तु यदि दैववशात् ऐसी स्थिति हो कि पूर्वगुरु अल्पज्ञ हैं और शिष्य का दूसरे गुरु के पास जाना सर्वथा उसे सम्मत न हो तो शिष्य क्या करे?

इस पर शास्त्रकारों की विचारसरणि यह है यदि शिष्य की इतनी योग्यता हो कि वह दोनों गुरुओं का ज्ञानतारतम्य समझ सकता हो और पूर्व गुरु के दोष के कारण उसका परित्याग करना भी आवश्यक हो तो कर सकता है, जैसे 'अरि' मन्त्र का परित्याग किया जाता है। उसके लिये भी वचन है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥

परन्तु शिष्य में यदि निर्णय करने की शक्ति न हो तो 'इस जन्म में मुझे ज्ञानादृष्ट नहीं है' यह सोचकर पूर्वगुरु की ही सेवा करे। इस प्रसङ्ग में व्यवस्था यह है कि यदि परशिष्य गुण संपन्न हो और भक्तिपूर्वक गुरु की सेवा करता हो तो उसके पूर्व गुरु के न रहने पर द्वितीय गुरु उसको निःशङ्क होकर स्वीकार करे। दूसरी स्थिति यह है कि यदि पूर्वगुरु उत्पथ प्रतिपन्न हो और जीवित हो तो भी पूर्वग्रह के अनुमति के बिना ही उस शिष्य का ग्रहण किया जा सकता है। यदि पूर्व गुरु उत्पथ प्रतिपन्न न हो तो उसकी अनुमति से ही पर शिष्य को स्वीकार किया जा सकता है। इस व्यवस्था के लिये मूलवचन 'न देयं परशिष्येभ्यो' इत्यादि पंक्ति में चतुर्थी विभक्ति सम्प्रदान की सूचिका है, अतः इसमें विचार करना पड़ा। आगे 'नास्तिकानां' इत्यादि षष्ठी विभक्ति होने से सर्वथा निषेध में ही, तात्पर्य सिद्ध होता है।

शिष्य की कुछ काल तक परीक्षा लेने का भी विधान है, अन्यथा बातों बातों में ही गुरु के मुख से मतलब की बातें निकालकर शिष्य पण्डित बनकर अपना सम्प्रदाय चलाना शुरू कर देते हैं। कुछ लोग चुम्बक और कुछ ज्ञान लुब्धक होते हैं। ऐसे शिष्यों का भी आचार्यों ने निरूपण किया है। 'चुम्बक' वह है, जो गुरु से 'मन्त्र' मात्र प्राप्त कर लेने में सफलता समझता है तथा देवता के कर्मजाल एवं ज्ञान विषय से दूर रहता है।

दूसरा 'ज्ञान लुब्धक' वह है जो सभी शास्त्रों में अपनी योग्यता दिखाने

के लिये मन्त्रशास्त्र को भी उसी श्रेणी में समझकर डींग हाँकता है। ये दोनों शिष्य सर्वथा अनधिकारी कहे गये हैं। मूल वचन इस प्रकार है—

'चुम्बके ज्ञानलुब्धे च न प्रकाश्यं त्वयाऽनघे ।
अन्यायेन न दातव्यं नास्तिकानां महेश्वरि।।
एव त्वयाऽहमाज्ञप्तो मदिच्छारूपया प्रभो।।

'न प्रकाश्यं' पद की व्याख्या में आचार्य कहते हैं—'तयोः प्रदर्शनीयमपि न, किमुत न देयमिति वक्तव्यम्।' चुम्बक और ज्ञानलुब्धकों से तो रहस्यविद्याओं की चर्चा भी नहीं करनी चाहिये। भगवान् परमशिव स्वात्मविमर्शरूपिणी गुरुपदाधिष्ठात्री जगदम्बिका के आदेश से ही उपदेश करते हैं जिसकी व्याख्या इस प्रकार है—'प्रभो स्वामिनि मदिच्छारूपं धृतवत्या त्वया मदाचार्ययाऽहं त्वच्छिप्य आज्ञप्तोऽस्मि'।

इन्हीं विचारों के कारण योग्य शिष्य की भी परीक्षा लेना आवश्यक है। इसीलिये वचन है—

एकद्वित्रिचतुःपञ्चवर्षाण्यालोच्य योग्यताम् ।
भक्तियुक्तान् गुणांश्चाऽपि.....इत्यादि।।

सामान्य उपासक को शास्त्रीय नियमों के अनुसार ही चलना चाहिये। उत्सर्ग-अपवाद न्याय से विशेष सिद्ध पुरुषों के लिये नियमों का बन्धन नहीं भी हो सकता है, परन्तु ऐसे उदाहरण कम होते हैं। भगवत्पाद शंकराचार्यजी ने 'अपि च स्मर्यते' इस सूत्र के भाष्य में तथा 'विशेषानुग्रहश्च' इस द्वितीय सूत्र के भाष्य में 'संवर्त' प्रभृति महर्षियों की नग्नचर्या तथा आश्रम कर्म के न करने पर भी महायोगित्व एवं आचार्यत्व का समर्थन किया है जो कि उपासना मूलक ब्रह्मनिष्ठा के कारण ही है। आचार्य शङ्कर की परम्परा में यति वर्गों की शिष्य परम्परा तथा गृहस्थ शिष्यों की परम्परा समानरूप से चली आती है। पीठाधिष्ठित यति की सहायता के लिये गृहस्थ शिष्य जो रहस्य विद्या के आचार्य होते थे, संरक्षक का कार्य करते थे। इतना ही नहीं, पीठाधिरूढ़ यति किसी कारण से प्रमाद करें तो उन गृहस्थ शिष्यों को अधिकार होता था कि वे 'आचार्य पीठ' में पूर्व यति को हटाकर दूसरे यति को प्रतिष्ठित करें। मठाम्नाय में इसका सङ्केत 'निग्रहार्हो मनीषिणाम्' यह कहकर किया है।

इस प्रकार अधिकारि विभाग का पूर्ण विचार कर गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। गुरु-शिष्य सम्बन्ध होने के बाद कोई कालुष्य न हो, इसलिये शास्त्रकारों ने बारंबार सावधानी की सूचना दी है। आगमशास्त्र को प्रायः 'सिद्धि' प्रधान मानकर लोग आकृष्ट होते हैं, परन्तु वस्तुतः यह 'भक्ति' प्रधान ही है।

'अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते' सिद्धि तो भक्ति की दासी है। माहेश्वर शक्तिपात ही वस्तुतः सद्गुरु के पास शिष्य को ले जाता है।

रुद्रशक्तिसमाविष्टः स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति।।

इस प्रकार यह संक्षिप्त विचार उपस्थापित किया गया है, विद्वज्जन परिशोधनपूर्वक इसे ग्रहण करेंगे, ऐसी आशा है।

धर्म सम्राट स्वामी श्री करपात्री जी महाराज
के
७३वें जन्म दिवस के शुभ अवसर पर
सद्भक्ति पूर्ण
शुभकामना
—भगत रांझामल

विश्वनाथ मिष्ठान्न भण्डार
लक्सा रोड, वाराणसी

अनन्तश्री विभूषित
परम पूज्य स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज
के ७३ वें जन्म-दिन पर
श्रीचरणों में शत-शत नमन

दीनदयाल जालान
वाराणसी

जपसाधना

• डा० एन० एच० चन्द्रशेखर स्वामी •

संसार में ऐसा कोई धर्म नहीं है, जिसमें जप करने का विधान न हो। बौद्ध, मुस्लिम, हिन्दू आदि सभी मतों में अपने अपने गुरु प्रदत्त मन्त्र अथवा भगवत् नाम को जपने का विधान है। प्राचीन काल में जप को एक अध्यात्म विज्ञान माना गया है। जप दो प्रकार का है—नाम-जप एवं मन्त्र-जप। साधारणतया नाम-जप का अधिकार सबको है। लेकिन मन्त्र-जप का अधिकार गुरु द्वारा प्रदत्त होता है। मन्त्र विशेषज्ञों का कथन है कि मन्त्र का जप नदी तीर, शून्य स्थल अथवा पर्वत पर शान्त चित्त होकर करें।

मन्त्र मातृकाओं से बनता है। मातृकाएँ एक अखण्ड प्रकाश अथवा महाशक्ति के अवयव या विभाग एवं विभक्त शक्तियों की समष्टि हैं। इनके मिश्रण एवं संमिश्रण से अनन्त प्रकार के आकार और विश्वों का आविर्भाव होता है। मन्त्रविदों का कहना है कि समस्त विश्व मातृकाओं से बना है। पचास मातृकाओं के खेल एवं परिणाम स्वरूप जगत् में पंच-कृत्य व्यापार निरन्तर चल रहा है। यह आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रीड़ा रूप है। मन्त्र का अर्थ है 'मननात् त्रायते इति मन्त्रः'। इसका अर्थ मन के धर्म से अतीत या मुक्त हो जाना अर्थात् मन्त्र की अतीत शक्ति से सम्बन्धित हो जाना है।

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' इस उक्ति से स्पष्ट है कि मन्त्रों का साक्षात्कार करनेवाला ऋषि कहलाता है। एक विशिष्ट भूमि में जिसको पश्यन्ती दशा कहते हैं, उस स्तर पर मन्त्र स्वयं दिखाई देता है। वहाँ प्राकृत इन्द्रियाँ नहीं हैं, अथच मन्त्र का साक्षात्कार होता है। मन्त्र वर्णात्मक देवता है। प्रत्येक मन्त्र के साथ उसके स्वरूप का सम्बन्ध है। यदि मन्त्र प्रदाता ने मन्त्र के साथ इष्ट का साक्षात्कार किया है, उसका मन्त्र जाग्रत् माना जाता है। जाग्रत् मन्त्र के जप में साधक का प्रयास कम होने पर भी मन्त्र फल-वत्तर बनता है। अतएव मन्त्र के साक्षात्कृत व्यक्ति से ही मन्त्र ग्रहण करने का विशेष विधान है। केवल पुरुषाकार शास्त्र की दृष्टि से फलवत्तर नहीं होता। केवल पुरुषाकार शून्य होने पर भी फलवत्तर नहीं होता। इन दोनों के बल से इष्ट का साक्षात्कार होता है।

जप साधना में शिष्य साधारणतया दीक्षा-प्राप्ति के पश्चात् मन्त्र देह लाभ करता है। जप साधक जब मन्त्र तनु में अहम् बोध रखकर जप साधना प्रारम्भ करता है, उस समय उसके जप का प्रभाव अनन्त चेतनाओं के बिन्दुओं पर पड़ता है। साधक का जप वैखरी अवस्था में होने पर भी काल गति की विपरीत गति से होता है। साधक मन्त्र पिण्ड में बैठकर काल के विरुद्ध आवर्त से जप करता है। इस जप में काल का प्रभाव नहीं रहता है। इसी का संकेत माला जप में है। माला जप में मेरु का उल्लंघन नहीं किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि काल की गति एक बिन्दु से युक्त होकर उसी के अन्वेषणार्थ निरन्तर घूम रही है। यही परिणाम का मूल कारण है। इस परिणाम की गति के विपरीत जप की गति है। इस गति से संवित् के केन्द्र में पहुँचा जा सकता है।

प्रारम्भिक अवस्था में साधक के लिये संख्यागत जप करने का विधान है, क्योंकि संख्यागत जप से मन्त्रगत शक्ति मेरु के केन्द्र में अर्थात् परि-णाम रहित बिन्दु में रखी जाती है। यह सूक्ष्म मन्त्र शक्ति का संचय है। इस अवस्था में वैखरी जप आन्तर वैखरी स्थानीय होता है।

गुरु प्रदत्त मन्त्र में जो वर्ण समष्टि है, वह एक दृष्टि से मातृकाओं का मिश्रण कहा जायेगा, किन्तु उसमें परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की वह शक्ति निरन्तर संचरित है और उसी मन्त्र में इष्ट भी छिपा हुआ है। जैसे बीज में सारा वृक्ष छिपा हुआ है और अभिव्यक्त वेला में यह पूर्ण वृक्ष स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मन्त्र इष्ट के रूप में स्पष्ट हो जाता है। मन्त्र के जागरण हेतु साधक का कर्तव्य है कि वह पुनः पुनः मन्त्र की आवृत्ति करे। यह पौनः पुन्यः ही इसको अन्तर्मुख करता है। जपावस्था में मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्राण-अपान का निरीक्षण करना चाहिए। मन्त्र वर्णात्मक एवं नादात्मक होता है। मन्त्र का उच्चारण करने वाली इच्छा के साथ मन्त्र का ज्ञान एवं पुरुषाकार का मेल आवश्यक है।

जाग्रत मन्त्र को गुरु जब इष्ट की तादात्म्य अवस्था में किसी को देता है, तब वह फलवत्तर होता है। साधक का चित्त पात्र अथवा क्षेत्र के सदृश्य है। गुरु शिष्य को सुषुप्तावस्था में रखकर मन्त्र प्रदान करता है। गुरु तीनों वाणियों में तादात्म्य अवस्था प्राप्त करके मन्त्र देता है। सद्गुरु साधक के तीन या पाँच जन्म की उपासना के इस्ट को जानकर उसका उसी इस्ट के साथ योजन कराता है। जो व्यक्ति खण्ड गुरु है, वह केवल अपने इष्ट के मन्त्र का उपदेश दे सकता है। अनन्त इष्ट एवं अनन्त मन्त्रों का ज्ञान अखण्ड गुरु को ही होता है। वह मन्त्र विज्ञान एवं मातृका विज्ञान के रहस्य का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार के सुयोग्य अखण्ड गुरु सौभाग्य से प्राप्त होते हैं।

जिस मन्त्र तनु की चर्चा की गई है, उसी का आश्रय लेकर जप साधना की क्रिया प्रारम्भ होती है। गुरु की शक्ति यदि पचास प्रतिशत है, तो उसको पूर्ण करने के लिये शिष्य को उस मात्रा के अनुसार पुरुषाकार की आवश्यकता पड़ती है। गुरु प्रदत्त मन्त्र समस्त विकल्पों को हटा कर एक ही प्रकार के शुद्ध विकल्प को उत्पन्न करता है। यही शुद्ध विकल्पात्मक

बोध मन्त्र बोध है। जगत् में शब्द और अर्थ भिन्न हैं। भिन्नता इसका स्वभाव है। संसार में विकल्प विकल्पान्तरों का उदय निरन्तर चलता है। इसके कारण संसार में आसक्ति बढ़ती है। किन्तु जिसको मन्त्र कहते हैं, यद्यपि वह वर्णसमूह है, परन्तु वह प्रज्वलित अग्निकाष्ठ की भाँति है, बैखरी के विकल्पों को नष्ट करने की शक्ति रखता है। इसका प्रत्येक वर्ण शक्ति स्वरूप है। इसके जप से मन अन्तर्मुख होने पर प्रारम्भ में मन को विकल्पों से छुटकारा नहीं मिलता, तथापि जब वह अपना कार्य निरन्तर करता ही रहेगा। जाग्रत् जप का प्रभाव स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रदवस्था पर पड़ेगा। जपगत शक्ति प्राकृत मन पर प्रभाव डालेगी और अपने मन्त्रात्मक विकल्प का संचार मन में निरन्तर करती रहेगी। इससे बिन्दु, मन और प्राण इन तीनों में जपशक्ति संचरण करने लगेगी। बिन्दु सिद्धि की अपेक्षा करने वाले शैव योगी प्रक्रियान्तर से इस प्राण को समान करने की अपेक्षा करते हैं, किन्तु मन्त्रयोगी मन्त्रशक्ति द्वारा एवं एकतानता के अभ्यास से प्राणयाम की गति समान करता है और वह सहज ही मध्यम-भूमि में प्रवेश करता है।

एकतानता से मन के केन्द्र में बोध की प्राप्ति होती है। मन्त्र की एक विशिष्ट भूमि है, जहाँ विकल्प जाल अर्थात् अनन्त विकल्प एकाकार में हैं। इसको 'डायनेमिक माइण्ड' या 'टोटल माइण्ड' कहा जाता है। यह मन सुषुम्ना अथवा तुरीय अवस्था से युक्त है। इस अवस्था में परिणाम अवस्था का सतत् अनुभव हो रहा है। सदृश रूप से मन्त्र की अभिव्यक्ति बार-बार हो रही है। इसी स्तर तक जप का (उपांशु का) सम्बन्ध है। इसी स्तर से शून्य की ओर बढ़ने का रास्ता है। जहाँ निरन्तर क्षणों-क्षणान्तरों का अभ्यास मिलता है। इसी जगह एक क्षण है जहाँ मनोगत, बोधगत एवं संकल्पगत धर्म हैं। यह अति सूक्ष्म मध्यमा भूमि है। इसी मध्यमा भूमि से पुनः विकल्प जाल में आने वाली महाघोर विकल्प की चक्र-गति चलती रहती है। इस जगह तक वैज्ञानिक अथवा व्यक्ति कल्पना की उड़ान लेता है। इसके आगे सुषुम्ना में प्रवेश पाते ही मन्त्र नादात्मक गति प्राप्त कर ऊर्ध्व गति प्राप्त कर लेता है। यहाँ तक पुरुषाकार जप है। यहाँ तक मन्त्रोच्चार स्वप्रयास से किया जाता है।

जप का मूल उद्देश्य है—अजपा में प्रवेश करना। अजपा का अर्थ है पुरुषाकार के बिना सहज ही क्रिया का निरन्तर होते रहना। प्रमाण-प्रमेयात्मक जगत् में एक ही विकल्प विकल्पान्तर को प्रकट करता है। इस विकल्प राज्य में जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन प्रकार की अवस्थाएँ और ओम् के स्वरूप में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त अवस्था अ, उ, म् हैं। इन तीनों को लेकर एक मात्रा माना जाता है। इसी एक मात्रा में समग्र विश्व का भान होता है। जिस जगह केवल एक ही विकल्प है और वह अर-चक्र की तरह निरन्तर घूमता रहता है। जप के प्रयास से जप साधक चक्र तक पहुँच जाता है और अजपा कार्य प्रारम्भ हो जाता है। अजपा में 'हम् सः' निरन्तर चलता रहता है। इस अवस्था में मन्त्र एवं उसका स्वरूप सर्वेन्द्रिय-गोचर है। उसको देखा जा सकता है। मन्त्र का स्वरूप नाद और प्रकाशात्मक है। नाद स्वात्म-स्वरूप नदन है और साथ ही अखण्ड प्रकाश है। अखण्ड प्रकाश को देखना, सुनना और स्पर्श सम्भव है। यह अवस्था पश्यन्ती है। यह अवस्थाओं की दृष्टि से चारों की समष्टि स्वरूप है। इस पश्यन्ती अवस्था में कई प्रकार की सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं। इनमें प्राण-अपान का अभ्यास करने वाला साधक जब पहुँचता है, तो व्यान वायु का अनुभव एवं व्यापक स्वरूप का अनुभव करता है। वह अपने स्वरूप के अनुसन्धान का अनुभव पाता है, तो उसे गुरु-वाणी सुनने में आती है। यदि ज्ञानी है और उसे ज्ञान की पिपासा है, तो उसको आत्मज्ञान हो जाता है। यह एक स्थिर भूमि है। यहाँ प्रातिभ ज्ञान का अनुभव होता है। इस प्रकार से जप साधक अन्तरंग में प्रवेश पा लेता है।

अजपा की भूमि में पुरुषाकार केवल अन्तर निरीक्षण है। इसमें यदि और भी सूक्ष्म चर्चा करनी हो तो इस स्तर में मन्त्र प्राप्त साधक मन्त्र तनु में स्थिर होकर अपने मन्त्र तनु को पहचान लेता है। तत्पश्चात् इस मन्त्र तनु में रहकर इष्ट का साक्षात्कार कर लेता है। प्रत्येक मन्त्र के पृष्ठ में सामान्य एवं विशिष्ट मातृकाएँ हैं। सामान्य मातृकाओं के साथ न्यास-प्रक्रिया में विशेष प्रकार के विन्यास के कारण विशेष मातृका बन जाती है। विशेष मातृका न्यास, अर्थात् इनके मिश्रण से इनमें अनन्त प्रकार के वर्णों के मिश्रण का अनुभव किया जाता है। इनके साथ विराट् प्रकाश का विशेष सम्बन्ध है। मातृकाओं का मन्त्र के साथ सम्बन्ध है। मन्त्र का इष्ट के साथ सम्बन्ध है। मन्त्र में इष्ट का आकार छिपा हुआ है। इष्ट की साक्षात्कार भूमि पर इष्ट के साथ साधक के मन्त्र-तनु की लीला चलती है। यहाँ साधक मन्त्र-तनु का अभिमानी है एवं इष्ट के साथ भागवत सम्बन्ध है। तदनन्तर इष्ट मन्त्र-तनु में अपने सर्वविध ऐश्वर्य को प्रदान करता है। अन्त में दोनों में आलिंगन होते ही दोनों महाप्रकाश में पिघल कर एक प्रकाशस्वरूप बन जाते हैं। इसके आगे का वर्णन सम्भव नहीं है। इसी को महाप्रकाश शक्ति कहते हैं।

वैखानस-आगम के प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य

• डा० राघवप्रसाद चौधरी •

[वैष्णव आगम के प्रमुख दो भेद हैं—वैखानस तथा पाञ्चरात्र। वैखानस-आगम के उपलब्ध साहित्य में इस आगम के ग्रन्थों की चार सूचियाँ उपलब्ध हैं। इन चार सूचियों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि मरीचि, भृगु, अत्रि तथा काश्यप मुनियों के द्वारा वैखानस-आगम का एक विपुल साहित्य प्रणीत हुआ था। इस लेख में उपर्युक्त चार सूचियों में निर्दिष्ट वैखानस-आगम ग्रन्थों के कर्ता के आधार पर इस आगम के समस्त ग्रन्थों की संख्यादि विषय का विवेचन किया गया है। एक-एक ऋषि के द्वारा प्रणीत ग्रन्थों के पृथक्-पृथक् विवेचन के साथ वैखानस आगम के उपलब्ध तथा अनुपलब्ध ग्रन्थों के विषय में विचार किया गया है। आलोडन के बाद निष्कर्ष यह निकाला गया है कि वैखानस-आगम के कुल ६० ग्रन्थों या संहिताओं के नाम निर्देश का पता चलता है। इनमें १७ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन उपलब्ध ग्रन्थों में आठ मुद्रित हैं। दो अमुद्रित, पर सामान्यतः पूर्ण रूप में उपलब्ध हैं। सात ग्रन्थों के केवल कुछ अंश ही उपलब्ध हैं। अन्य सभी ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, अतः इनके अन्वेषण की आवश्यकता है।]

वैष्णव आगम अपने में सर्वथा पूर्ण आगम है। सामान्यतः वैखानस तथा पाञ्चरात्र रूप में वैष्णव-आगम दो तरह के हैं। इनका अपना विपुल साहित्य तथा अत्यन्त प्राचीन अतः दृढ़ परम्परा भी है। यह साहित्य क्रिया एवं दर्शन प्रधान है और भारतीय वैष्णव जनों, विशेषकर वैखानस तथा पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के दैनन्दिन जीवन के साथ प्रवर्तमान हैं। इस साहित्य के सम्पूर्ण संहितादि ग्रन्थ आधुनिक काल में उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी उपलब्ध संहिताओं में निर्दिष्ट सूचियों को देखने से इस साहित्य की विपुलता सुकरता पूर्वक ज्ञात होती है। जो साहित्य उपलब्ध भी हैं वे एकत्र कहीं भी व्यवस्थित रूप से संकलित नहीं हैं। इस साहित्य का विपुल अंश प्रारंभ से ही देवालयों के परम्परागत वैष्णव अर्चकों के पास वैयक्तिक धार्मिक थाती के रूप में बहुत सुरक्षित रहा है। इन अर्चकों ने धार्मिक भावना से इस साहित्य को अपने तक प्रचार योग्य रखा है। वैष्णव समाज से बाहर के सामाजिक लोग सामान्यतः इस आगमिक साहित्य से अपरिचित की तरह रहे हैं। यही कारण है कि संस्कृत वाङ्मय के अन्य अङ्गों की तुलना में इस आगमिक साहित्य क्षेत्र में जो कार्य हुए हैं, वे नगण्य से हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति के रूप में इन आगम ग्रन्थों की सुरक्षा के अतिरिक्त कुछ राजकीय तथा अराजकीय पुस्तकागारों में भी इस साहित्य की मातृका यत्र-तत्र उपलब्ध है। कुछ भारतीय तथा कुछ विदेशी विद्वानों ने इस साहित्य के उद्धार का स्तुत्य प्रयास किया है। फिर भी इस क्षेत्र में अभी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करने की आवश्यकता है। दक्षिण-भारत में देवालयार्चकों के पास से इस साहित्य का संग्रह तथा उपलब्ध साहित्य का आधुनिक ढंग से समालोचनात्मक संस्करणों का प्रकाशन अत्यन्त अपेक्षित है।

सामान्यतः वैखानसागम साहित्य पद्य तथा गद्य दोनों रूप में उपलब्ध है। जैसे—'विमानार्चनकल्प', 'ज्ञानकाण्ड' ये दो ग्रन्थ गद्य रूप में लिखे गये हैं। अन्य उपलब्ध समूतार्चनाधिकारादि ग्रन्थ केवल पद्य रूप में ही प्रणीत हुए हैं। वैखानसागम के कुछ ग्रन्थ अधिकारान्त, कुछ काण्डान्त, कुछ तन्त्रान्त तथा कुछ संहितान्त हैं। यह आगम वैखान-धर्मसूत्र का अनुसरण करता है, यह विषय सभी विचारकों द्वारा स्वीकृत है।[1] इस धर्मसूत्र के तथा वैखानस सम्प्रदाय के प्रवर्तक विखनस मुनि थे।[2] इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद नहीं है। वैखानसागम ग्रन्थों के आलोडन से ज्ञात होता है कि विखनस ऋषि के शिष्यों ने ऋषि से इस आगम शास्त्र का अध्ययन किया था और पृथक्-पृथक् वैखानसागम शास्त्रों का प्रणयन किया था। ऋषि के ९ शिष्य थे—१. काश्यप, २. अत्रि, ३. मरीचि, ४. वशिष्ठ, ५. अङ्गिरा, ६. भृगु, ७. पुलस्त्य, ८. पुलह तथा ९. क्रतु।[3] इन नौ ऋषियों में से केवल चार ने ही वैखानस शास्त्रों का प्रणयन किया था। ये हैं—१. अत्रि, २. भृगु, ३. काश्यप तथा मरीचि।[4] यह नाम क्रम विविध संहिताओं में भिन्न-भिन्न रूप से पूर्वापर भाव से उल्लिखित हैं। एक स्थल ऐसा भी देखते हैं, जहाँ अंगिरस का भी वैखानसागम ग्रन्थ प्रणेता के रूप में निर्देश किया गया है। इनके द्वारा निर्मित कुछ ग्रन्थों का निर्देश भी किया गया है, परन्तु इनका एक भी ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हुआ है। अङ्गिरस कदाचित् मरीचि ऋषि का ही नाम हो, यह कुछ संदर्भों के परिशीलन से कहा जा सकता है।

वैखानसागम ग्रन्थों की चार सूचियाँ चार स्थलों में उपलब्ध हैं। जैसे—प्रथम 'विमानार्चन कल्प' में,[5] द्वितीय—'आनन्द संहिता' में[6]। ये दोनों सूचियाँ मरीचि मुनि ने अपनी पुस्तक में दिखाई हैं। तृतीय सूची

---

१. विमानार्चन कल्प, पटल–१०१; आनन्द संहिता. अध्याय. १७, श्लो. ४९।

२. आनन्द संहिता, अ० १७, श्लो० ३७–३९।

३. समूतार्चनाधिकार, उपोद्घात, पृ० २१।

४. विमानार्चनकल्प, पट० १०१; (II) यज्ञाधिकार, अ० ५१; श्लो० १३। (III) आनन्दसंहिता. अ० १७, श्लो० ४०–४१।

५. विमानार्चन कल्प, पट. १०१।

६. आनन्दसंहिता अ. १७. श्लो० ४०–४८।

भृगु ने स्वप्रणीत यज्ञाधिकार में उद्धृत की है[1]। चतुर्थ सूची अत्रि ने अपने 'समूर्तार्चनाधिकरण'[2] में दिखाई है। परन्तु यह सूची समूर्तार्चनाधिकरण के परिशिष्ट में निर्दिष्ट है।

इस प्रसंग में सर्वप्रथम मरीचि के 'विमानार्चनकल्प' में निर्दिष्ट प्रथम सूची का विश्लेषण करने पर देखते हैं कि अत्रि ने ८८ सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाणात्मक तन्त्रान्त चार ग्रन्थों की रचना की। ये चार निम्न निर्दिष्ट हैं—१. पूर्वतन्त्र, २. आत्रेयतन्त्र, ३. विष्णुतन्त्र तथा ४. उत्तरतन्त्र। इस क्रम में ग्रन्थ परिमाण कथन के अवसर में जो ग्रन्थ शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह अनुष्टुप् श्लोकात्मक वर्ण समूह का बोधक है। अर्थात् एक 'ग्रन्थ' का परिमाण एक अनुष्टुप् श्लोक के समान होता है। इसका तात्पर्य हुआ कि अत्रि ने ८८ सहस्र अनुष्टुप् श्लोक परिणामात्मक चार तन्त्रान्त ग्रन्थों की रचना की थी।

द्वितीय सूची, भृगुनिर्मित ग्रन्थों की है। इस सूची के अनुसार भृगु ने ८८ सहस्र 'ग्रन्थ' परिणामाणात्मक तेरह ग्रन्थों की रचना की थी। इन में दो तन्त्रान्त, अन्य सभी ११ ग्रन्थ अधिकारान्त कहे गये हैं। ये तेरह ग्रन्थ अधोलिखित हैं—

१. खिलतन्त्र, २. पुरातन्त्र, ३. वासाधिकार, ४. चित्राधिकार, ५. मानाधिका, ६. क्रियाधिकार, ७. अर्चनाधिकार, ८. यज्ञाधिकार, ९. वर्णाधिकार, १०. प्रकीर्णाधिकार, ११. प्रतिगृह्याधिकार, १२. निरुक्ताधिकार तथा १३. खिलाधिकार।

तृतीय-सूची में काश्यप के द्वारा निर्मित ग्रन्थों का विवरण देखते हैं। इसके अनुसार काश्यप ने ६४ सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाणात्मक तीन संहिताओं (काण्ड) का प्रणयन किया था। ये तीन ग्रन्थ हैं—१. सत्यकाण्ड, २. तर्ककाण्ड तथा ३. ज्ञानकाण्ड।

चतुर्थ सूची में मरीचिप्रणीत ग्रन्थों का विवरण देखा जा सकता है। मरीचि ने एक लाख चौरासी सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाणात्मक संहितान्त आठ वैखानसागम संहिताओं का प्रणयन किया। ये आठ ग्रन्थ अधोलिखित हैं—१. जय संहिता, २. आनन्द संहिता, ३. संज्ञान संहिता, ४. वीर-संहिता, ५. विजय संहिता, ६. विजित संहिता, ७. विमल संहिता तथा ८. संज्ञान संहिता।[3] मरीचि के वैखानसागम ग्रन्थों की जो दो पृथक्-पृथक् सूचियाँ दी हैं उनमें से प्रथम सूची तो उपरिनिर्दिष्ट है। द्वितीय सूची[4] आनन्दसंहिता में इसप्रकार मिलती है—१. जयसंहिता, २. आनन्द संहिता, ३. संज्ञान संहिता, ४. वीरसंहिता, ५. विजय संहिता, ६. विजित संहिता, ७. विमल संहिता तथा ८. कल्प संहिता। इन आठ संहिताओं की 'ग्रन्थ' संख्या १८४००० (एक लाख चौरासी हजार) कही गई है।

भृगु प्रणीत ग्रन्थ अधोलिखित कहे गये हैं—१. खिल, २. खिलाधिकार, ३. पुराधिकार, ४. वासाधिकरण, ५. अर्चनाधिकरण, ६. मानाधिकरण, ७. क्रियाधिकार, ८. निरुक्ताधिकार, ९. प्रकीर्णाधिकार तथा यज्ञाधिकार। इन सब का परिमाण चौंसठ सहस्र 'ग्रन्थ' संख्या कहा गया है।

१. यज्ञाधिकार; अ० ५१; श्लो० १३–२९।

२. समूर्तार्चनाधिकरण, अनुबन्ध–'क' अ० ४, श्लो० २६–३४।

३. विमानार्चनकल्प, पटल. १०१।

अत्रि निर्मित ग्रन्थ अधोलिखित हैं—१. पूर्वतन्त्र, २. विष्णुतन्त्र, ३. उत्तरतन्त्र, ४. महातन्त्र। ये चारो तन्त्रान्त ग्रन्थ अस्सी सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाणात्मक बताये गये हैं।

काश्यप प्रणीत ग्रन्थों का क्रम अधोलिखित है—१. सत्यकाण्ड, २. कर्म-काण्ड तथा ३. ज्ञानकाण्ड। ये तीन कान्त ग्रन्थ हैं। इनका परिमाण ६४ हजार 'ग्रन्थ' संख्या कहा गया है[1]।

अत्रि ने अपने ग्रन्थ 'समूर्तार्चनाधिकरण' में वैखानसागम ग्रन्थों की एक सूची दी है। इस सूची में अधोलिखित तन्त्रान्त चार वैखानस आगम ग्रन्थ अत्रि के द्वारा प्रणीत बताये गये हैं।

१. पाद्म-तन्त्र, २. उत्तरतन्त्र, ३. विष्णु तन्त्र तथा ४. आत्रेय तन्त्र। इन चार अत्रिकल्पित ग्रन्थों में ८८ सहस्र 'ग्रन्थ' संख्या बताई गई है।

अत्रि की इस सूची के अनुसार अङ्गिरस ने सात वैखानसागम ग्रन्थों का निर्माण किया था। ये सभी संहितान्त कहे गये हैं। ये संहिताएँ हैं—१. अनन्त संहिता, २. पर संहिता, ३. ज्ञान संहिता, ४. जय संहिता, ५. वीर संहिता, ६. सत्यसंहिता तथा ७. ज्ञान संहिता! इन ग्रन्थों की 'ग्रन्थ' संख्या, अर्थात् इनके परिमाण का उल्लेख नहीं किया गया है।

अत्रि की सूची के अनुसार काश्यप ने काण्डान्त पाँच वैखानस आगम-ग्रन्थों का प्रणयन किया था। ये पाँच ग्रन्थ हैं—१. सन्तान-काण्ड, २. काश्यप काण्ड, ३. सत्यकाण्ड, ४. तर्ककाण्ड तथा ५. ज्ञानकाण्ड। इन पाँच काण्डान्त ग्रन्थों का परिमाण १६ सहस्र 'ग्रन्थ' कहा गया है।

अत्रि ने भृगुनिर्मित आठ संहिताओं का निर्देश किया है। ये आठ अधोलिखित हैं। १. खिल, २. खिलाधिकार, ३. पुरातन्त्र, ४. वासाधिकार, ५. चित्राधिकार, ६. क्रियाधिकार, ७. मानाधिकार तथा ८. प्रतिगृह्याधिकार। इन आठ ग्रन्थों का परिमाण ६४ सहस्र 'ग्रन्थ' कहा गया है। इस तरह अत्रि द्वारा समूर्तार्चनाधिकरण में निर्दिष्ट सूची क्रम में (४+७+५+८=२४) चार ऋषियों द्वारा कुल २४ ग्रन्थों का नामोल्लेख देखते हैं। इस सूची के मध्य में थोड़ा ग्रन्थपात सा प्रतीत होता है, क्योंकि इस संदर्भ में भृगुनिर्मित ग्रन्थों के नाम का उल्लेख तो अवश्य हुआ है, पर उस क्रम में भृगु का नाम निर्देश नहीं देखते। इस सूची की दूसरी विलक्षणता यह है कि जहाँ प्रायः अन्यत्र सब सूचियों में मरीचि का उल्लेख किया गया है, उसकी जगह यहाँ अङ्गिरस का नामनिर्देश हुआ है।

भृगु ने अपने यज्ञाधिकार में वैखानसागम ग्रन्थों की एक सूची दी है। इसके अनुसार भृगु ने स्वयं एकादश ग्रन्थों का प्रणयन किया था। ये ११ ग्रन्थ अधोलिखित हैं—१. खिल, २. क्रियाधिकार, ३. वासाधिकार, ४. मानाधिकार, ५. निरुक्ताधिकार, ६. प्रकीर्णाधिकार, ७. अर्चनाधिकार, ८. यज्ञाधिकार, ९. वर्णाधिकार, १०. पुरातन्त्र तथा ११. उत्तर तन्त्र। इस सूची के अनुसार मरीचि के ग्रन्थों की संख्या ग्यारह कही गई है। यहाँ अत्रि प्रणीत ग्रन्थ भी ग्यारह बताये गये हैं।

भृगु की सूची में काश्यप रचित ग्रन्थों की संख्या पाँच बताई गई है।

१. आनन्द संहिता, अ० १७, श्लो० ४२–४८।

इस तरह इन चार ऋषियों के द्वारा निर्मित ग्रन्थों की संख्या का निर्देश करने के पश्चात् एक-एक ऋषि के द्वारा कल्पित ग्रन्थों के परिमाण का निर्देश भी देखते हैं। ये निम्नलिखित हैं—मरीचि के ग्रन्थ लक्ष 'ग्रन्थ' संख्यात्मक, भृगुनिर्मित ग्रन्थों का परिमाण मरीचि की अपेक्षा अर्ध परिमाणात्मक, अर्थात् अर्धलक्ष 'ग्रन्थ' परिमाणात्मक था। इस सूची में अत्रि के 'ग्रन्थों की संख्या भृगु की अपेक्षा आधी कही गई है। अर्थात् अत्रि ने २५ सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाणात्मक रचना की थी। अन्ततः काश्यप निर्मित ग्रन्थों का परिमाण अत्रि की अपेक्षा आधा कहा गया है। तात्पर्य यह है कि काश्यप ने बारह सहस्र पाँच सौ 'ग्रन्थों' की रचना की थी।

उपर्युक्त क्रम से भृगु ने एक-एक ऋषि के द्वारा निर्मित पूर्ण परिमाण के निर्देश के पश्चात् उन-उन ऋषियों की एक-एक रचना के परिमाण का निर्देश भी किया है। इसके अनुसार भृगु प्रोक्त ग्रन्थों में 'खिल', 'पुरातन्त्र', 'मानाधिकरण' 'अर्चाधिकरण', ये अलग-अलग षट् सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाणात्मक कहे गये हैं। 'वर्णाधिकरण', 'निरुक्ताधिकरण', 'प्रकीर्णाधिकरण' ये तीन पृथक्-पृथक् द्विसहस्र 'ग्रन्थ' संख्या परिमाणात्मक हैं। इसके बाद 'यज्ञाधिकरण' तीन सहस्र 'ग्रन्थ' संख्या परिमाण वाला ग्रन्थ कहा गया है। इस ग्रन्थ में ५१ अध्याय बताये गये हैं। 'वासाधिकरण' में एकपञ्चाशत अध्याय तथा चार सहस्र 'ग्रन्थ' संख्या बताई गई है। 'क्रियाधिकरण' में नौ सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाण होना कहा गया है[1]। यहाँ निर्दिष्ट प्रथम तथा द्वितीय क्रम की 'ग्रन्थ' संख्या एवं शास्त्र संख्या में परस्पर विरोध सा प्रतीत होता है। जैसे कि प्रथम भृगु के एकादश ग्रन्थों का नाम निर्देश किया गया है, परन्तु उनके 'ग्रन्थों' के परिमाण निर्देश के अवसर पर केवल दश पुस्तकों के नाम का ही निर्देश किया गया है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में जो उत्तरतन्त्र नामक पुस्तक कही गई है, वह भृगु की सभी संहिताओं का सारभूत एक संकलनात्मक ग्रन्थ हो, न कि यह भृगु की कोई स्वतंत्र नई रचना होगी। इसी कारणवश उत्तर तन्त्र की 'ग्रन्थ' संख्या का अलग से निर्देश नहीं देखते।

भृगु-ग्रन्थों के पश्चात् यहाँ इस सूची में मरीचि निर्मित ग्रन्थों का परिमाण पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट है। जैसे—मरीचि के 'खिलतन्त्र', 'क्रियाधिकार', 'पुरातन्त्र', 'अर्चनातन्त्र', 'वासाधिकार', 'मानाधिकार', 'यज्ञाधिकार', 'प्रकीर्णाधिकार', 'निरुक्ताधिकार' तथा 'वर्णाधिकार, इन दश ग्रन्थों में एक-एक ग्रन्थ का पृथक्-पृथक् अष्ट सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाण निर्दिष्ट है। इस परिगणन क्रम में इस सूची ने 'मानार्चन कल्प' की 'ग्रन्थ संख्या का निर्देश नहीं किया है।

भृगु की सूची में मरीचि के ग्रन्थों के परिमाणनिर्देश के पश्चात् अत्रि निर्मित-ग्रन्थों के परिमाण का निर्देश अधोलिखित रूप से किया गया है। जैसे—'अर्चाधिकार' चार सहस्र 'ग्रन्थ' परिणामात्मक। 'वासाधिकरण', 'यज्ञाधिकरण' तथा 'खिलाधिकरण'। ये एक-एक ग्रन्थ पाँच सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाणात्मक कहे गये हैं। 'निरुक्ताधिकरण' दो सहस्र 'ग्रन्थ' परिमाण वाला कहा गया है। यहाँ 'समूतार्चनाधिकार' (उत्तरतन्त्र) ग्रन्थ के 'ग्रन्थ' का परिमाण नहीं निर्दिष्ट है।

भृगु की सूची में काश्यप के ग्रन्थों का परिमाण अधोलिखितरूप में देखते हैं। 'अर्चाधिकरण', वासाधिकरण' तथा 'खिल' ये तीनों ग्रन्थ पृथक्-पृथक् दो सहस्र 'ग्रन्थ' संख्या वाले बताये गये हैं। 'क्रियाधिकरण' दो सहस्र पाँच सौ 'ग्रन्थ' युक्त कहा गया है। 'उत्तरकल्प' में चार सहस्र 'ग्रन्थ' होना कहा गया है।[1]

अब तक हमने चार सूचियों में प्रणेताओं के अनुसार वर्णित सभी वैखानसागम ग्रन्थों के पृथक्-पृथक् नाम तथा परिमाणादि देखे हैं। इसके बाद एक-एक ऋषि की रचना के विषय में निर्दिष्ट विविध सूचियों की आलोचनाकर, एक-एक ऋषि की पूर्ण-कृति के उद्घाटन का प्रयत्न करेंगे।

इस प्रसंग में सर्व प्रथम मरीचि की रचनाओं के विषय में विचार प्रासंगिक होगा। मरीचि ने स्वयं दो स्थलों में स्वनिर्मित आठ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। दोनों सूचियों में सात ग्रन्थों के विषय में समानता देखते हैं। एक ग्रन्थ के विषय में दोनों सूचियों में वैमत्य देखते हैं। आनन्द संहिता में निर्दिष्ट सूची में 'कल्प-संहिता' का निर्देश किया गया है, जब कि विमानार्चन कल्प में निर्दिष्ट सूची में कल्प-संहिता की जगह 'ज्ञान संहिता' का उल्लेख किया गया है।[2]

अत्रि की सूची में जो 'समूतार्चनाधिकरण' में निर्दिष्ट है, मरीचि का नामोल्लेख नहीं हुआ है, यह हमने पूर्व पृष्ठ में देखा है। लेकिन अत्रि स्वयं भृगु तथा काश्यप की अपेक्षा अन्य चतुर्थ ग्रन्थकार के रूप में अङ्गिरस का उल्लेख करते हैं। इस सूचीक्रम के अङ्गिरस के द्वारा निर्मित ग्रन्थों में कुछ ग्रन्थ वे ही हैं, जो 'विमानार्चन कल्प', 'आनन्द संहिता' की सूचियों में मरीचि निर्मित कहे गये हैं। जैसे—'वीर संहिता", 'यह संहिता' तथा 'ज्ञान संहिता'। ये उभयत्र अर्थात् अत्रि तथा मरीचि की सूचियों में समान देखे जाते हैं। इन सभी समान ग्रन्थों की अपेक्षा एक अन्य संहिता 'आनन्द संहिता' ही कदाचित् यहाँ अत्रि की सूची में 'अनन्ताख्य' के नाम से निर्दिष्ट हो। तात्पर्य यह है कि अत्रि के द्वारा उल्लिखित अङ्गिरस कदाचित् मरीचि का ही नामान्तर हो। एक अन्य बात यह भी है कि अङ्गिरस का कहीं भी अन्यत्र वैखानस-आगम ग्रन्थ कर्तृत्व दृष्टिगोचर नहीं होता। मरीचि तो प्रायः सभी जगह वैखानस-आगम ग्रन्थकर्ता के रूप में जाने जाते हैं। अतः अत्रि में मरीचि की जगह ही अङ्गिरस लिखा हो, यह हो सकता है।

भृगु के यज्ञाधिकार में उल्लिखित सूची में मरीचि के द्वारा विरचित एकादश वैखानसागम ग्रन्थों का निर्देश देखते हैं।[3] इन एकादश ग्रन्थों में से केवल 'विमानार्चन कल्प' यह एक ही ग्रन्थ मरीचि की सूची में भी दृष्टिगोचर होता है। अन्य दश ग्रन्थ मरीचि की सूची की अपेक्षा भिन्न हैं।

१. यज्ञाधिकार, अ० ५१, श्लो० १४–२२।

१. यज्ञाधिकार. अ. ५१, श्लो० २३–२६।
२. (I) विमानार्चन कल्प० पटल० १०१, (II) आनन्द संहिता० अ० १७, श्लो० ४२–४३।
३. समूतार्चनाधिकरण, अनुबन्ध—'क', अ० ४३, श्लो० ४।
३. यज्ञाधिकार, अ० ५१, श्लो० २३–२५।

यहाँ जो दश नये ग्रन्थ मरीचिर चित कहे गये हैं, वे अन्यत्र नहीं प्रतिपादित हैं।

इस तरह चारों सूचियों में निर्दिष्ट मरीचि के ग्रन्थों का संकलन करने से मरीचि विनिर्मित २३ संहिताओं के नाम उपलब्ध होते हैं। परन्तु अभी केवल 'विमानार्चन कल्प'[1] तथा 'आनन्द संहिता'[2] ये दो ही मरीचि विनिर्मित ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ये दोनों मुद्रित भी हैं। 'विमानार्चन कल्प' तो मद्रास एवं त्रिवेन्द्रम, दोनों जगहों से मुद्रित हुआ है। 'विमानार्चन कल्प' सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्यमय है। इसमें १०१ पटल हैं। यह ग्रन्थ सामान्यतः वैखानसागम के सभी विषयों का प्रतिपादन अच्छी तरह करता है। इस ग्रन्थ में आगम के प्रायः चारों प्रतिपाद्य विषय (ज्ञानयोग, क्रिया तथा चर्या) से सम्बद्ध विषयों का विवेचन देखते हैं। सामान्य रूप से इसके संस्करण ठीक कहे जा सकते हैं, पर इसका आलोचनात्मक संस्करण अत्यन्त अपेक्षित है। 'आनन्द संहिता' वैखनसागम की एक अच्छी खासी भूमिका कही जा सकती है। इस ग्रन्थ के बीस अध्यायों में प्रायः नौ सौ श्लोकों का समावेश है। इसका तेलुगु संस्करण भी प्रायः अनुपलब्ध है। इसका भी देवनागरी में एक आलोचनात्मक संस्करण अपेक्षित है।

प्रसिद्ध वैष्णव क्षेत्र तिरुमलै-तिरुपति में आस्थान पण्डित स्व० आर० पार्थसारथि भट्टाचार्य के पास 'आदिसंहिता' नाम के वैखानसागम की मातृका उपलब्ध थी, जो प्रायः अभी भी अप्रकाशित ही है। यद्यपि चारों में से किसी भी सूची में मरीचि निर्मित ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं देखते, फिर भी यह ग्रन्थ मरीचि विनिर्मित कहा गया है। इस संहिता में आगमिक विषयों की अपेक्षा पौराणिक विषय अधिक प्रतिपादित हुए हैं। इसमें दस अध्याय हैं। यह अत्यन्त संक्षिप्त संहिता है।

भृगु विनिर्मित संहिताओं के विषय में विचार करते हुए देखते हैं कि मरीचि ने अपने दोनों ही सूचियों में भृगु की रचनाओं का निर्देश तथा उल्लेख किया है। 'विमानार्चार्चन कल्प' वाली सूची के अनुसार भृगु ने तेरह संहिताओं की रचना की थी। 'आनन्द संहिता' में निर्दिष्ट सूची के अनुसार भृगु की रचनाएँ दस थीं। उभयत्र दस नाम समान हैं। इस प्रकार मरीचि के अनुसार भृगु की रचना तेरह स्वीकृत हैं।

अत्रि 'समूर्तार्चनाधिकरण' की अपनी सूची में यद्यपि भृगु का नाम कीर्तन नहीं करते, फिर भी भृगु निर्मित आठ ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं।[4] इस सूची में निर्दिष्ट आठों ग्रन्थ वे ही हैं, जो 'विमानार्चनकल्प' की सूची में हैं। केवल एक ग्रन्थ के नाम में थोड़ा सा भेद दीखता है। जैसे—अत्रि की सूची में जहाँ 'प्रतिग्रहाधिकार' उल्लिखित है, उसकी जगह विमानार्चन कल्प' में 'प्रतिगृह्याधिकार' निर्देश किया गया है। केवल कुछ अनवधानता के कारण यह परिवर्तन हो गया होगा, ऐसी कल्पना की जा सकती है।

जैसा कि हमने देखा है, भृगु स्वयं 'यज्ञाधिकार' में स्वनिर्मित एकादश ग्रन्थों का निर्देश करते हैं[5]। यहाँ सूची में निर्दिष्ट सारी संहिताएँ 'विमानार्चनकल्प' में निर्दिष्ट भृगु संहिताएँ ही हैं। मरीचि के 'विमानार्चन कल्प' में केवल भृगुप्रोक्त सर्वसंहिता सारभूत 'उत्तरतन्त्र' का उल्लेख नहीं देखते। दोनों में यही सामान्य भेद देखते हैं। वस्तुतः भृगु के अनुसार भी 'उत्तरतन्त्र' कोई अपूर्व पृथक् विशिष्ट रचना नहीं है, अपितु यह ग्रन्थ भृगु की अन्य सभी रचनाओं का ही सारभूत संकलन है। इसीलिये अन्यत्र कहीं भी उत्तरतन्त्र का उल्लेख नहीं देखते।

इस प्रकार चारों सूचियों के आलोडन के पश्चात् हम पाते हैं कि भृगु निर्मित सारी संहिताएँ १४ थीं। इनमें उत्तर तंत्र का समावेश भी किया गया है। इन चौदह संहिताओं में चार संहिताएँ मुद्रित एवं प्रकाशित हैं। तीन ग्रन्थ अमुद्रित हैं। अर्थात् मातृकारूप में उपलब्ध हैं। इन तीनों में एक तो अपूर्ण रूप से उपलब्ध है, पर दो प्रायः पूर्ण रूप से उपलब्ध हैं। इन दोनों में भी बहुशः ग्रन्थपात देखते हैं। इनकी अपेक्षा अन्य चार संहिताओं के कुछ-कुछ अंश यत्र-तत्र उद्धरण के रूप में उपलब्ध होते हैं। इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट इस प्रकार किया जा सकता है। भृगु के मुद्रित ग्रन्थ अधोलिखित हैं—१.'क्रियाधिकार'[6], २.'खिलाधिकार'[7],३.'प्रकीर्णाधिकार'[8] तथा 'यज्ञाधिकार'[9]। भृगु के अमुद्रित एवं मातृकारूप में उपलब्ध ग्रन्थ अधोलिखित हैं—

१. 'अर्चनाधिकार', २. 'वासाधिकार' तथा ३. निरुक्ताधिकार'[10]।

इनके अतिरिक्त भृगु के जिन ग्रन्थों के अंश यत्र-तत्र उद्धरण रूप में उपलब्ध होते हैं, वे इस प्रकार हैं—१. 'मानाधिकार', २. 'चित्राधिकार', ३. 'वर्णाधिकार', तथा ४. पुरातन्त्र'। इस प्रकार मुद्रित एवं अमुद्रित रूप में, साथ-साथ अंश रूप में उपलब्ध भृगु के कुल एकादश ग्रन्थों की उपलब्धि होती है। अवशिष्ट तीन संहिताएँ सर्वथा अनुपलब्ध ही हैं। सभी उपलब्ध ग्रन्थ पद्यात्मक हैं।'वर्णाधिकार' का कुछ अंश अपद्यात्मक भी है। इन उपलब्ध ग्रन्थों में सामान्यतः वे ही विषय वर्णित हैं, 'विमानार्चन कल्प' में देखते हैं।

---

१. सम्पादक—व० र० च० भट्टाचार्य; से० माधवाचार्य; मद्रास, १९२६, (देवनागरी लिपि)।
२. इगापालेयम्, १९२४; (तेलगुलिपि)।
३. (i) विमानार्चन कल्प० पट० १०१, (ii) आनन्द संहिता, अ० १७, श्लो० ४३–४५।
४. समूर्तार्चनाधिकरण, अनुबन्ध, 'क', अ० ४, श्लो० ३१–३३१।
१. यज्ञाधिकार, अ० ५१, श्लो० १४, १९–२२।
२. प्रकाशक : तिरुमल-तिरुपति देवस्थानम्, तिरुपति १९५३ ई० (देवनागरीलिपि)।
३. सम्पादक : श्री आर० पार्थसारथी, भट्टाचार्य, ति० ति० देवस्थानम्, तिरुपति, १९६१ ई० (देवनागरी लिपि)।
४. प्रकाशक : श्री शैलेन्द्रनाथ एण्ड सन्स, मद्रास, १९२९ ई० (तेलुगुलिपि)।
५. सम्पादक : डा० डी० रङ्गाचार्य, हिन्दुरत्नाकर प्रेस, मद्रास १९३१ ई० (तेलुगुलिपि)।
६. ये तीन मातृकाएँ श्री आर० पार्थसारथी भट्टाचार्य के पास सुरक्षित थीं।

अत्रि विनिर्मित वैखानसागम संहिताओं के विषय में मरीचि ने 'विमानार्चन कल्प'[1] तथा 'आनन्द संहिता'[2] के दोनों सूचियों में समान नामवाले अत्रिकृत चार ग्रन्थों का नाम निर्देश किया है। यहाँ इन संहिताओं के नाम के विषय में या पूर्व-पर-क्रम के सम्बन्ध में थोड़ा भेद देखा जा सकता है। 'आनन्द संहिता' में उल्लिखित 'महातन्त्र' की जगह 'विमानार्चन कल्प' की सूची में 'आत्रेयतन्त्र' का निर्देश देखते हैं। अत्रि की अपनी सूची में[3] निर्दिष्ट चार ग्रन्थों में दो ग्रन्थ मरीचि की सूची में निर्दिष्ट ग्रन्थ ही हैं। यहाँ दो ग्रन्थ मरीचि की सूची की अपेक्षा भिन्न हैं। अत्रि विनिर्मित ग्रन्थों के विषय में सर्वापेक्षया विस्तृत सूची भृगु के 'यज्ञाधिकार' में निर्दिष्ट है। यहाँ अत्रि विरचित छह ग्रन्थों का उल्लेख देखते हैं। इन छह ग्रन्थों में केवल 'उत्तरतन्त्राख्य' –'समूर्तार्चनाधिकरण' ही पूर्व सूचियों में दृष्टिगोचर होता है। अन्य सभी संहिताएँ, अर्थात् अन्य पाँच ग्रन्थ पूर्व सूचियों की अपेक्षा भिन्न एवं नवीन हैं।[4] इस प्रकार अत्रि की सारी संहिताएँ अर्थात् ग्रन्थ एकादश होते हैं। परन्तु वर्तमान काल में केवल "समूर्तार्चनाधिकरण"[5] एक ही मुद्रित रूप में उपलब्ध है। अत्रि के "निरुक्ताधिकरण" के भी कुछ अंश उपलब्ध होते हैं। अन्य नौ अत्रि-ग्रन्थ सर्वथा अनुपलब्ध ही हैं। इनके अन्वेषण की आवश्यकता है।

काश्यप विनिर्मित वैखानस ग्रन्थों के विचार प्रसंग में जैसा कि हमने पहले देखा है, मरीचि ने 'विमानार्चनकल्प' में काश्यप निर्मित तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[6] पुनः मरीचि ने अपनी द्वितीय सूची अर्थात् 'आनन्द संहिता' में भी काश्यप के तीन ही ग्रन्थों का नाम निर्देश पूर्वक उल्लेख किया है।[7] इन दोनों सूचियों में ग्रन्थ संख्या के विषय में साम्य होते हुए भी उनके नाम सर्वथा समान नहीं हैं। जैसे—'विमानार्चनकल्प' जहाँ 'तर्ककाण्ड' का निर्देश करता है, वहाँ आनन्द संहिता वाली सूची में 'कर्मकाण्ड' इस नाम का उल्लेख पाते हैं। इस तरह मरीचि के अनुसार नाम भेद के आधार पर अत्रि कृत चार संहिताओं का होना सिद्ध किया जा सकता है। भृगु ने अपनी सूची में काश्यप प्रणीत पाँच ग्रन्थों का नाम निर्देश किया है।[8] भृगु की सूची में निर्दिष्ट पाँच काश्यपीय ग्रन्थ पूर्व सूचियों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न तथा नवीन हैं। अत्रि के 'समूर्तार्चनाधिकारस्थ सूची के अनुसार काश्यप निर्मित पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।[9] इन पाँच संहिताओं में तीन ग्रन्थ तो पूर्व निर्दिष्ट सूचियों में उपलब्ध हैं, पर दो उनकी अपेक्षा भिन्न हैं। इस प्रकार काश्यप निर्मित ग्रन्थों की संख्या एकादश हैं। इन एकादश ग्रन्थों में मात्र 'ज्ञानकाण्ड' मुद्रित रूप में उपलब्ध है। इसकी भाषा गद्यमयी है। इसमें कुल एक सौ आठ अध्याय हैं। 'ज्ञान काण्ड' में संक्षेप रूप में वैखानसागम के प्रायः सभी विषय प्रतिपादित हैं।[1] अन्य दस काश्यप प्रणीत ग्रन्थ अनुपलब्ध ही हैं।

जैसा कि हमने पूर्व पृष्ठ में देखा है, वैखानसागम के कुछ ग्रन्थों के कुछ अंश ही उपलब्ध हैं। ये अंश 'भृगु-संहिता', नामक अमुद्रित मातृका के रूप में उपलब्ध हैं।[2] इस मातृका रूप भृगुसंहिता में भृगु प्रणीत वैखानस-आगम के तत्तद्ग्रन्थों से विषयों का संकलन किया गया है, अर्थात् यह ग्रन्थ स्वयं स्वतंत्र एक ग्रन्थ न होकर भृगु निर्मित वैखानसागम ग्रन्थों का अंशात्मक संकलन है। इस संकलनात्मक ग्रन्थ में भृगु की उपलब्ध पुस्तकों में विद्यमान विषय की अपेक्षा उसी ग्रन्थ विशेष के कुछ अधिक अंश भी दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे उपलब्ध 'निरुक्ताधिकार' मातृका के केवल ३६ अध्याय ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु इस संग्रहात्मक 'भृगुसंहिता' में २९ श्लोकों में 'कृत्तिकादीपोत्सव विधि' का वर्णन करते हुए अन्त में पुष्पिका रूप में लिखा गया है—"इति निरुक्ताधिकारे मासोत्सवविधिर्नाम कृत्तिकामासोत्सवविधिर्नाम अष्ट चत्वारिंशोऽध्यायः"[3] इति। इस प्रमाण से उपलब्ध निरुक्ताधिकार ग्रन्थ की अपूर्णता स्पष्ट ही प्रतीत होती है। इस संग्रह में 'वर्णाधिकार' का ३२ पंक्त्यात्मक अंश उपलब्ध होता है। अन्त में पुष्पिका रूप में लिखा है—"इति श्रीमद्वैखानसे वैदिके भार्गव संहितायां वर्णाधिकारे चलनप्रतिष्ठाविधिर्नामाष्टाविंशोऽध्यायः" इति[4]। इस संग्रह में 'पुरातन्त्र' का ४३ श्लोकात्मक एक अंश उद्धृत किया गया है। पुष्पिका में लिखते हैं—"इति श्री वैखानसे भृगुप्रोक्तायां संहितायां 'पुरातन्त्रे' दीपदण्ड प्रतिष्ठाविधिर्नाम षट्पञ्चाशदध्यायः" इति।[5] पुरातन्त्र के १७ वें अध्याय का भी एक अंश इस संग्रह में संकलित है। उसी प्रकार 'मानाधिकार' का कुछ अंश भी यहाँ उपलब्ध है। इस प्रसंग में अंत में विद्यमान पुष्पिका यह है—"इति वैखानसे उत्तरतन्त्रे भृगुप्रोक्तायां मानाधिकारे प्रतिष्ठाद्रव्य प्रमाणविधिर्नाम षण्णवत्यध्यायः"[6] इति। इस अध्याय की श्लोक संख्या १२८ है। भृगु के 'चित्राधिकार' का भी एक अंश इस संग्रह में उपलब्ध है।[7] इसी तरह भृगु के सर्वसंहितासारभूत

१. विमानार्चन कल्प० पटल० १०१।
२. आनन्द संहिता, अ० १७, श्लो० ४६–४७।
३. समूर्तार्चनाधिकरण, अनुबन्ध 'क', अ० ४, श्लो० २७।
४. यज्ञाधिकार, अ० ५१, श्लो० २५–२८।
५. प्रकाशक : ति० ति० देवस्थानम्, तिरुपति, १९४३।
६. विमानार्चन कल्प, पट० १०१।
७. आनन्द संहिता, अ० १७, श्लो० ४७–४८।
८. यज्ञाधिकार अ० ५१, श्लो० १७; २७–२९।
९. समूर्तार्चनाधिकरण, अनुबन्ध 'क' अ० ४, श्लो० ३०–३१।

१. (I) सम्पादक : श्री आर० पार्थसारथी भट्टाचार्य; ति० ति० दे० तिरुपति, १९६० ई० (देवनागरी लिपि)।
(II) सम्पादक : अंग्रेजी अनुवाद तथा मूल—टी० गौड्रियन; (नितरलैण्ड); प्रकाशक—Mount and co. The Hague 1965.
२. (I) गवर्नमेन्ट मन्युस्क्रृप्ट लाईब्रेरी, मद्रास; सं० R. 1314.
(II) श्री वेंकटेश्वर ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, तिरुपति, मातृका सं० 7199 I, तथा II.
३. ग० म० लाइब्रेरी, मद्रास; मातृका सं० R. 1314; पृ० 107.
४. ग० म० लाइब्रेरी, मद्रास; मातृका सं० R. 1314; पृ० 12-13.
५. ग० म० लाइब्रेरी, मद्रास; मातृका सं० R. 1314; पृ० 16-20.
६. श्री वे० ओ० इ० तिरुपति; मातृका सं० 4537.
७. " " " " " 1799; I.

तंत्र' का कोई अंश इस संग्रह में देखा जा सकता है।[1] इस नेत्रबिम्बलक्षण', 'हनुमत्प्रतिष्ठा' इत्यादि विषय भी इस संग्रह में हैं। यद्यपि इस संग्रह का नाम "भृगु-संहिता' है और तदनुरूप अधिकांश संकलन भृगु की संहिताओं से ही हुई है, तथापि कुछ अन्य वैखानस आगम-ऋषि प्रणीत ग्रन्थों से भी कुछ अंश संकलित हैं। जैसे— एक स्थल में अत्रि निर्मित 'निरुक्ताधिकार' का भी एक अंश इसमें उद्धृत हुआ है।[2] इस प्रसंग में यहाँ 'शिल्पि स्पर्श प्रायश्चित्त', 'अद्भुत-शान्ति प्रयोग' इत्यादि विषय निरूपित हैं। इस संग्रह में कुछ ऐसे भी विषय उद्धृत हैं, जिनका मूल-स्थल निर्दिष्ट नहीं है।

इस प्रकार वैखानसागम-साहित्य की चार सूचियों में निर्दिष्ट ग्रन्थों की आलोचना करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इस आगम के सम्पूर्ण ग्रन्थों की संख्या साठ के आस-पास होगी। उनमें पूर्ण रूप से तथा अंशतः उपलब्ध सभी संहिताएँ या ग्रन्थ १७ हैं। इन में आठ मुद्रित, दो अमुद्रित सामान्यतः पूर्ण रूप में उपलब्ध हैं। अवशिष्ट सात ग्रन्थों के केवल कुछ-कुछ अंश ही उपलब्ध हैं। अन्य सारे वैखानस-आगम ग्रन्थ अनुपलब्ध ही हैं। इनकी उपलब्धि का प्रयत्न अपेक्षित है।

१. श्री वे० ओ० इ० तिरुपति; मातृका सं० 1799; I.पृ० 504-510.
२. श्री वेंकटेश्वर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, तिरुपति, मातृका सं० 1999; II पृ० 833-847.

वाराणसी विकास प्राधिकरण, वाराणसी

'सन्मार्ग' तन्त्र विशेषांक की सफलता की शुभ कामनाओं सहित

हम वाराणसी नगर की आवासीय समस्याओं के समाधान हेतु सतत् प्रयत्नशील हैं

● बादशाह बाग योजना में विकास प्राधिकरण द्वारा उच्चआय वर्ग एवं मध्यआय वर्ग के भवन बनाने का प्रस्ताव है। इच्छुक व्यक्तियों के लिए भवन खरीदने का यह बहुत ही अच्छा अवसर है इस हेतु आवेदन पत्र ३१ जुलाई १९७९ तक आमंत्रित किए गए हैं। आवेदन पत्र का फार्म एवं शर्तें किसी भी दिन विकास कार्यालय में प्राप्त किया जा सकता है।

● भूमि खरीदने के पूर्व यह अवश्य देख लें कि उक्त भूमि वाराणसी-महायोजना या अन्य योजनाओं से प्रभावित तो नहीं है ताकि नक्शा स्वीकृति के समय आपको अनावश्यक कठिनाई न हो। यह जानकारी प्राधिकरण कार्यालय से प्राप्त की जा सकती है।

● अक्सर देखा गया है कि वाराणसी नगर में लोग विकास प्राधिकरण कार्यालय से बिना कोई स्वीकृति प्राप्त किए हुए मकानों, दुकानों या अन्य भवनों का निर्माण करा लेते हैं अथवा अपने मकानों में बिना कोई स्वीकृति के परिवर्तन या परिवर्धन करा लेते हैं। उत्तर प्रदेश नगर योजना एवं विकास अधिनियम, १९७३ की धारा १४ के अन्तर्गत ऐसे समस्त निर्माण कार्यों की स्वीकृति प्राप्त कर लेना आवश्यक है। ऐसा न करने पर उक्त अधिनियम की धारा २६ के अन्तर्गत अवैध निर्माण करानेवालों पर रू० १०,०००) तक जुर्माना किया जा सकता है और निर्माण कार्य चालू रखने पर रू० ५००) प्रतिदिन के हिसाब से अतिरिक्त जुर्माना किया जा सकता है। उक्त अधिनियम की धारा २७ के अन्तर्गत ऐसे अवैध निर्माण को गिराया जा सकता है। अतः समस्त नागरिकों से अनुरोध है कि मेहनत से कमाये धन को अवैध निर्माण में व्यय न करें तथा अवैध निर्माण के गिराने से होने वाली हानि तथा अदालत द्वारा दिए जाने वाले दण्ड से बचें एवं नगर के सुनियोजित विकास में सहयोग दें।

(देशराज सिंह)
उपाध्यक्ष

(प्रभाकर सिंह)
मुख्य नगर अभियन्ता